विकास-मनोविज्ञान

डॉ० शारदा प्रसाद वर्मा

एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, पी० ई० सी०

भूतपूर्व आचार्य, शासकीय शिक्षण-महाविद्यालय

जबलपुर

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

विकास-मनोविज्ञान

शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रन्थ
योजना के अन्तर्गत मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

विकास-मनोविज्ञान

डॉ० शारदा प्रसाद वर्मा
एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, पी० ई० सी०
भूतपूर्व आचार्य, शासकीय शिक्षण-महाविद्यालय
जबलपुर

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

विकास-मनोविज्ञान

प्रकाशक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

प्रथम संस्करण: १९७२

पुस्तकालय संस्करण : रु० १२·५०
साधारण संस्करण : रु० १०·५०

मुद्रक

शिव मुद्रणालय, लाजपत रोड, इलाहाबाद–२

प्रस्तावना

बालक स्रष्टा की सर्वातिशय मनोरम कृति है। उसमें स्रष्टा का अपना दिव्यत्व निहित होता है। वह राष्ट्र की प्रसूति भी होता है और उसका निर्माता भी। इसके विकास की प्रक्रिया अन्य जड़-जङ्गम शिशु से भिन्न होती है। मानव-शिशु का विकास अपेक्षाकृत अधिक जटिल और मन्थर होता है; इसीलिए उसमें प्रगति एवं उत्कर्ष की सम्भावनाएँ भी विपुलतर होती हैं। वह पशु-शावक के समान पैदा होते ही पानी में तैर नहीं सकता और न ही पंछी के शावक की तरह झट से उड़ने का ही साहस कर सकता है; किन्तु जब वह एक बार तैरना सीख लेता है या वायुयान के इंजिन पर अधिकार पा लेता है तो वह पशुओं और पक्षियों को बहुत पीछे छोड़ जाता है।

बालक में निहित सम्भावनाओं का पता लगाकर उनके उचित दिशा में विकास में सहायता देना ही शिक्षा का उद्देश्य है। आत्मा शक्ति का पुंज है। उस पर पड़े हुए आवरण को दूर हटाकर उसके वास्तविक तेज को उजागर करना ही विद्या का उद्देश्य है। यह प्रक्रिया जितनी मृदुल, विवेकपूर्ण और संयमित होगी, विकास उतना ही निर्दोष एवं पुष्ट होगा। दुर्भाग्यवश संसार के बहुत कम देशों ने अभी तक इस रहस्य को समझा है और समझकर उस पर आचरण किया है। भारत जैसे कम विकसित देशों में तो इस ओर और भी कम ध्यान दिया जाता है। यहाँ बच्चे संयोगवश उत्पन्न होते, घास-फूस की तरह बिना किसी नियोजना के बढ़ते-पनपते और सूख जाते हैं। ऐसे बालकों की संख्या बहुत कम है जिन्हें उचित विकास का अवसर मिल पाता है। परिवार, समाज और शिक्षा-संस्थाओं के असंगत, न्याय-विरहित और रूढ़िगत नियम तथा व्यवस्थाएँ यदि किसी बालक के अधरों पर खेलती हुई सहज मुस्कान को छीन न लें तो उसे बहुत भाग्यशाली समझना चाहिए। भारतीय शिक्षा-संस्थाओं में ऐसी बहुत कम हैं जिनमें बालक के स्वाभाविक, बौद्धिक, शारीरिक और आत्मिक विकास पर ध्यान दिया जाता है। विकास-मनोविज्ञान की जानकारी प्रत्येक माता-पिता और शिक्षक के लिए अनिवार्य होनी चाहिए; किन्तु जहाँ पाँच वर्ष तक के अबोध बालकों पर माता-

पिता और शिक्षक का अकारण आवेश, भर्त्सना एवं कठोर शारीरिक दण्ड तक अन्याय न माना जाता हो वहाँ विकास मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के प्रयोग की आशा करना व्यर्थ है।

फिर भी यह एक सीमा तक सन्तोष का विषय है कि भारतीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों में प्रशिक्षणार्थियों को इस विषय का अध्ययन अनिवार्य रूप से कराया जाता है। इससे शिक्षक को कम से कम इस बात का ध्यान तो रहता ही है कि वह कब और कहाँ भूल कर रहा है। वह बालक के संवेगात्मक विकास की प्रक्रिया को, चाहे तो समझ सकता है, उसमें सहायक भी हो सकता है और बालक के सामाजिक, चारित्रिक एवं नैतिक विकास में आवश्यक सहयोग दे सकता है।

विकसित देशों में बाल मनोविज्ञान में महत्वपूर्ण अनुसंधान हुए हैं। बालक का एक-एक संवेग गम्भीर अध्ययन का विषय बन चुका है। उसके शिक्षण और क्रिया-कलाप दोनों के विषय में अब हमें महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त है। परिणामस्वरूप नयी-नयी शिक्षा-पद्धतियाँ विकसित होती जा रही हैं। शिक्षण के क्षेत्र में पिछले ५० वर्षों में जो क्रान्ति हुई है उसका कुछ न कुछ प्रभाव तो भारत पर भी पड़ा ही है—भले ही प्रभाव का यह क्षेत्र काफी संकुचित हो।

डा० शारदा प्रसाद वर्मा की प्रस्तुत कृति 'विकास-मनोविज्ञान' इसी दिशा को आलोकित करती है। इसमें डा० वर्मा के सुदीर्घकालीन अध्यापन, अनुभव एवं अध्ययन का सार निहित है। डा० वर्मा को इस दिशा में प्रयोग के भी पर्याप्त अवसर प्राप्त हुए हैं। वे राज्य के जाने माने प्राध्यापक और लेखक हैं। मुझे आशा है कि उनकी यह कृति न केवल प्रशिक्षण महाविद्यालयों में लोकप्रिय होगी, अपितु उससे सामान्य माता-पिताओं का भी पर्याप्त हित होगा।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

(डा० प्रभुदयालु अग्निहोत्री)
संचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

अध्याय १

विकास-मनोविज्ञान का अर्थ एवं स्वरूप

पहले-पहल बाल-विकास व बाल-मनोविज्ञान तथा विकास-मनोविज्ञान में कोई भेद नहीं माना जाता था। पर बाल्डविन ने इन दोनों में अन्तर बतलाते हुए यह कहा है कि बाल-मनोविज्ञान में इस बात की चर्चा रहती है कि बालक किसी विशेष परिस्थिति में किस प्रकार का व्यवहार करता है। परन्तु विकास-मनोविज्ञान इस बात का प्रतिपादन करता है कि बालक के व्यक्तित्व में समय-समय पर किस प्रकार परिवर्तन होते हैं और उसके विकास-क्रम को कौन-कौन से तत्व प्रभावित करते हैं।

जब पुरुष के शुक्राणु तथा स्त्री के डिम्ब में संयोग होता है तब बच्चा माता के गर्भ में आ जाता है और तभी से उसका विकास शुरू हो जाता है। गर्भावस्था में बच्चे का विकास बड़ी तीव्र गति से होता है और फिर बढ़ते-बढ़ते नौ महीने के पश्चात् नवजात शिशु के रूप में वह माता के गर्भ से बाहर आ जाता है। उस समय से उसका शारीरिक, गामक, मानसिक, संवेगात्मक तथा प्रत्ययात्मक विकास बड़ी तड़ित गति से होने लगता है। जब तक वह परिपक्वावस्था तक नहीं पहुँच जाता तब तक उसका विकास-क्रम चलता रहता है। अतः विकास-मनोविज्ञान मनोविज्ञान का वह अंग है जो बालकों में गर्भावस्था से लेकर परिपक्वता तक होने वाली सभी शारीरिक, गामक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों की क्रियाओं, विशेषताओं, परिवर्तनों तथा परिवर्द्धनों का परिणामात्मक एवं गुणात्मक वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसीलिए विकास-मनोविज्ञान के शास्त्रियों का कथन है कि विकास-मनोविज्ञान बालक के विभिन्न अवस्था-स्तरों पर उसके विकास-क्रम का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

चूँकि विकास-मनोविज्ञान अस्त्यात्मक विज्ञान है, इसलिए वह बालक का अध्ययन जैसा वह रहता है उसी रूप में करता है। उसका कोई भी व्यवहार अच्छा या बुरा नहीं समझा जाता। दूसरे, उसका जो विकास होता है वह क्रमिक,

नियमित और सर्वांगीण होता है। विभिन्न अवस्था-स्तरों पर उसकी शारीरिक, क्रियात्मक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक तथा नैतिक शक्तियों का परिवर्तन और परिवर्द्धन परिणामात्मक तथा गुणात्मक रूप मे होता रहता है। विकास-मनोविज्ञान, इन सबका अध्ययन करता है। अस्तु, हरलाक के शब्दों में विकास-मनोविज्ञान मनोविज्ञान की वह शाखा है जो गर्भाधान से लेकर मृत्यु-पर्यन्त होने वाले मानव के विकास का जीवन के विभिन्न कालों में होने वाले परिवर्तनों पर विशेष ध्यान देते हुए अध्ययन करती है।[1]

विकास-मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विकास-मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव बहुत हाल का माना जाता है। अरस्तू तथा डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्तों ने विकास मनोविज्ञान के विकास में दिशा-दर्शन का कार्य किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व शरीर-विवृद्धि मापन के छुटपुट उदाहरण पाये जाते थे। उनका सम्बन्ध प्रायः आकार अर्थात् ऊँचाई और वजन में विवृद्धि से था। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास पी० जी० मोन्ट-बीलर्ड ने सन् १७६० ई० में अपने पुत्र की जन्म से लेकर अठारह वर्ष तक ऊँचाई नाप कर किया था। इसके अतिरिक्त शारीरिक विवृद्धि एवं विकास के सम्बन्ध में वोअस, बाउडिच्च, पोर्टम और क्वीहीलेट ने अध्ययन किया। उस समय बालकों के व्यवहारात्मक निरीक्षण बहुत कम किये जाते थे, और किये भी जाते थे तो दैनन्दिनी की टिप्पणियों के आधार पर दो या तीन शिशुओं पर। इन व्यवहारों के विकास के निरीक्षण-कर्ताओं में मूर, प्रेयर, शिन और डस्ली विशेष उल्लेखनीय थे। बाल-मनोविज्ञान के उन्नायक प्रेअर ने सन् १८८८ ई० में अपने पुत्र के व्यवहारों का निरीक्षण किया था और विकास-मनोविज्ञान की दिशा में प्रथम प्रेरणा प्रदान की थी। सन् १९०३ में उसकी पुस्तक 'स्टडीज़ ऑफ चायल्डहुड' प्रकाश में आयी।

सन् १९०८ और सन् १९११ ई० में बिने के बुद्धि-परीक्षणों के प्रकाशन ने मानसिक विकास के अध्ययन के लिए प्रबल प्रेरणा प्रदान की। सन् १९०९ में सिगमंड फ्रायड तथा युंग के मनोविश्लेपणवाद ने विकास-मनोविज्ञान को प्रभावित किया। इसके अनन्तर बाल-मनोविज्ञान के विकासात्मक स्वरूपों की शोधें जी० स्टेनली हाल तथा अर्ल बर्नेस की अध्यक्षता में की गयीं। इनमें शोध की सामग्री बहुत कुछ काल्पनिक थी तथा बाल्यावस्था की स्मृतियों के सम्बन्ध में प्रौढ़ों की प्रश्नावलि प्रेषण करने पर आधारित थी। नर्सरी स्कूल आन्दोलनों

१. हरलाक, ई० बी०, डेवलपमेन्टल साइकोलाजी, मेकग्रा हिल बुक कम्पनी, न्यूयार्क, १९६९।

ने यूरोप में, विशेषकर अमेरिका में, बालकों के निरीक्षणात्मक तथा प्रयोगात्मक अध्ययन की ओर प्रेरणा प्रदान की। अमेरिका में बर्ड० टी० बाल्डविन ने बालकों के शारीरिक तथा मानसिक विकास तथा उनकी एक दूसरे पर निर्भरता के व्यवस्थित अध्ययन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रयास किया। सन् १६२१ में उसने बालकों के शारीरिक विकास के बारे में एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसने अधिक मात्रा में मापन की सांख्यिकी प्रस्तुत की। साथ ही उसने उसमें बालकों के विकास-वक्र को स्थान दिया। वह अपने इस अध्ययन में एक ही आयु के बालकों के शारीरिक परिपक्वीकरण में अधिक विभिन्नता से प्रभावित हुआ और इन विभिन्नताओं के मूल्यांकन के लिए उसने एक पद्धति निकाली। यह पहिला मनोवैज्ञानिक था जिसने पहिली बार बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास के पारस्परिक सम्बन्ध की खोज की तथा सतत परीक्षणों की श्रृंखलाओं से बुद्धि-लब्धि की अचलता का अध्ययन किया।

लगभग १६२०-२१ ई० से बालकों की विवृद्धि और विकास के सम्बन्ध में सही-सही सूचनाएँ प्राप्त करने की दिशा में मनोवैज्ञानिकों द्वारा अधिक अभि-रुचि दर्शायी गयी। सन् १६२२ ई० में डिअरबार्न ने पहिली कक्षा के अधिकांश बालकों के शारीरिक तथा मानसिक परीक्षण किये। सन् १६२५ ई० में गैसेल ने शिशु तथा बालकों में व्यवहारात्मक विकास के अध्ययन के सम्बन्ध में अनेक लेख-मालाएँ प्रकाशित की। सन् १६२५ ई० में राष्ट्रीय शोध परिषद ने बाल-विकास पर एक समिति का निर्माण किया। सन् १६३० ई० में 'सोसायटी फार रिसर्च इन चायल्ड डेवलपमेन्ट' के प्रकाशन ने विकास-मनोविज्ञान के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। सन् १६३२ और १६३७ ई० के बीच बाल-स्वास्थ्य तथा रक्षा के सम्बन्ध में अनेक व्हाइट हाउस सम्मेलन आयोजित किये गये। टर्मन तथा उसके साथियों ने इसके सम्बन्ध में अपना अध्ययन जारी रखा। इस प्रकार सन् १६२० और १६३३ के बीच वंशानुक्रम, वातावरण, परिपक्वीकरण और प्रशिक्षण के बीच विरोध चलता रहा।

इसके अनन्तर राक फेलर मेमोरियल तथा जनरल एजुकेशन बोर्ड से आर्थिक सहायता के आधार पर अनेक बाल-कल्याण संस्थाएँ सन् १६२५ ई० और १९३२ ई० के बीच स्थापित हुई जिनका प्रधान कार्य बाल-विकास पर शोध करना था। पहिले-पहल इन संस्थाओं ने अपने शोध का माध्यम नर्सरी स्कूल के बच्चों को बनाया। बाद में वे बड़ी उम्र के बच्चों पर शोध कार्य करने लगीं। येल, हार्वर्ड, स्टेनफोर्ड, कार्नेल, मिनेसोटा और केलीफोर्निया विश्वविद्यालय, आयोवा के बाल-कल्याण-रिसर्च-स्टेशन, डेट्रायट के मेरिल पामर स्कूल, वाश

फाउन्डेशन, डेनवर की चाइल्ड रिसर्च काउन्सिल, एर्ना आर्च कालेज फेल्स संस्था ने बाल-विकास के अध्ययन के सम्बन्ध में काफी शोध-कार्य किया। फिर उसके बाद चिकागो, कोलम्बिया, हार्वर्ड, मिचीगन, ओहियो तथा येल में इस दिशा में काफी अनुसन्धान किये गये। साथ ही चिकित्सा मनोवैज्ञानिक, व्यक्तित्व तथा प्रशिक्षण पर खोज करने वाले मनोवैज्ञानिक, समाज-शास्त्रवेत्ता और नृशास्त्र वेत्ताओं ने भी बालक तथा उसके विकास के अध्ययन के सम्बन्ध में काफी हाथ बटाया।

राष्ट्रीय शोध परिषद के निर्देशन में बाल-विकास सम्बन्धी शोध के लिए सन् १९३५ में एक संस्था की स्थापना की गयी। इसने इस क्षेत्र की अनेक पुस्तकों तथा समाचार-पत्रों को जन्म दिया जिनमें से 'साइको-एनालिटिक स्टडी आफ् दि चाइल्ड', 'दि रिव्यू आफ् एज्यूकेशनल रिसर्च' और 'चाइल्ड डेवलपमेन्ट' आदि विशेष उल्लेखनीय है। सन् १९४१ में हावर्ड में डिअर-बार्न तथा रोथने ने पब्लिक-स्कूल के बालकों की शारीरिक तथा मानसिक विशेषताओं का मापन किया। फिर बाल-विकास का चिकित्सात्मक पद्धति से अध्ययन किया जाने लगा। इस क्षेत्र में एम० बलेन और अन्ना फ्रायड के अध्ययन विशेष उल्लेखनीय हैं। इंग्लैण्ड में सन् १९४५ में 'नेशनल फाउन्डेशन आफ् एज्यूकेशनल रिसर्च' की नींव पड़ी।

लम्बवत् विधि द्वारा प्रतिपादित बाल-विकास जैविक विज्ञान से अधिक सम्बन्धित था। जिसके फलस्वरूप मानसिक विकास जैविक विकास का एक पहलू माना जाने लगा। बुद्धि-परीक्षण, बाल-विकास तथा विकास-मनोविज्ञान के क्षेत्र में परिवर्तन बिन्दु और बाल्यावस्था का प्रौढ़ व्यक्तित्व पर प्रभाव द्वितीय परिवर्तन-बिन्दु था। सन् १९३५ और सन् १९४५ ई० के बीच बाल-विकास एवं विकास-मनोविज्ञान के क्षेत्र में नवीन, शोध-सम्बन्धी परिवर्तन उपस्थित हुआ। उदाहरणार्थ बालक के मनोवैज्ञानिक विकास पर स्तन्य-मोचन, शरीर-सज्जा प्रशिक्षण, जन्म-संघात, भवनगृह और मातृ-पितृ स्नेह के अभाव के क्या प्रभाव पड़ते हैं, इसके विषय में शोध-कार्य हुआ। ई० बी० हरलाक के अनुसार प्रारम्भ में विकास के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक शोध विशिष्ट आयु-स्तरों पर केन्द्रित थी और विकास अध्ययन के प्रति रुचि शालीय बालकों में सीमित थी। बाद में वह पूर्वशालीय बालकों के प्रति ली जाने लगी। इसके अनन्तर गर्भस्थ बच्चे तथा नवजात शिशु के प्रति। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् किशोर, प्रौढ़ तथा वृद्धावस्था के प्रति शोध-कार्य किया जाने लगा।

सन् १९५० ई० में व्हाइट हाऊस सम्मेलन ने व्यक्तित्व की समस्याओं पर विशेष करके संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास पर विशेष बल दिया। सन् १९५० ई० तक बाल-विकास के क्षेत्र में पाठ्य-पुस्तकों की सामग्री तथा शोध-कार्य प्रधानतया मानव-विकास के प्राकृतिक निरीक्षण पर आधारित था। पर शिक्षण, प्रेरणा, प्रत्यय, सामाजिक मनोविज्ञान, मानव प्रकृति विज्ञान, शरीर शास्त्र, प्राणिशास्त्र, समाजशास्त्र, नृशास्त्र, भाषा विज्ञान और बाल-रोग-विज्ञान की नवीनतम शोधों तथा अन्तर्संस्कृति अध्ययनों ने विकास-मनोविज्ञान के दृष्टिकोण तथा तौर तरीकों में परिवर्तन उपस्थित किया जिसके परिणामस्वरूप उसमें प्रयोगात्मक एव तुलनात्मक शोध का समावेश हो गया। फ्रायडवाद से प्रेरित होकर मनोवैज्ञानिक डोलार्ड और मिलर (१९५०), माउरर (१९५०) तथा व्हाइटिंग और वाल्ड (१९५३) ने सीखने के सिद्धान्त तथा बाल-विकास पर शोध-कार्य किया। सन् १९५८ ई० में 'इन्स्टीट्यूट आफ् चाइल्ड हेल्थ', और 'नेशनल फाउन्डेशन फार एज्यूकेशनल रिसर्च' आदि संस्थाओं ने लम्बवत् विधि से बाल-विकास के अध्ययन की ओर रुचि जागृत की। सन् १९६२ ई० में ओहियो में 'दि सेमुअल फिल्म रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने जन्म से लेकर प्रौढ़ावस्था तक के व्यक्तियों का परीक्षण तथा अवलोकन का कार्यक्रम चालू रखा। इसने विकास मनोविज्ञान के शोध के लिए अच्छा मार्ग प्रशस्त किया।

बाल-विकास पर शोध-कार्य केवल अमेरिका में केन्द्रित न रहा, बल्कि उसकी भावना यूरोपीय देशों तथा रूस में भी फैली। यूरोप में इन हेल्डर तथा जॉन प्याजे तथा रूस में साइमन ने विकास-मनोविज्ञान पर पर्याप्त शोध-कार्य किया। इसी प्रकार सुमन आइजेक ने बालकों के चिन्तन और संवेग विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाला। इनके अतिरिक्त बाल-विकास पर संस्कृति के प्रभाव के सम्बन्ध में मार्गरेटमीड, वार्नर, वोलफेन्सटीन के शोध तथा अध्ययन काफी प्रसिद्ध हैं। इतना ही नहीं वरन् नृशास्त्र के विकास ने बाल पोषण की विभिन्न विधियों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की ओर अनेक मनोवैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया। विकास-मनोविज्ञान पर विश्व के अनेक मनोवैज्ञानिकों ने पाठ्य पुस्तकों का प्रणयन किया जिनमें से वाल्डविन, ब्लेअर, गेसेल, गुडएनफ, गेरीसन, मार्टिन, हरलाक, जर्सिल्ड, मेरी, रेन्ड, फोरपे एन्ड क्रुज, पिकूनस, स्टेंग, थाम्सन, जूवेक, सोलबर्ग, मेकेन्डलेस, कोनरड, लेलेंड, एच० स्टट और वेलर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भारत के विभिन्न प्रशिक्षण महाविद्यालयों जैसे बड़ौदा, केरल, बम्बई, कुरुक्षेत्र, मनोविज्ञान शाला (ब्यूरो ऑफ साइकोलाजी), इलाहाबाद तथा सेंट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ एजुकेशन, दिल्ली में इस दिशा में काफी शोध कार्य हो रहा

है। आजकल विकास-मनोविज्ञान का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। अब वह गर्भावस्था से लेकर परिपक्वावस्था तक पहुँचने वाली शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था की क्षमताओं, विशेषताओं, परिवर्तन-क्रमों के साथ-साथ शारीरिक, गामक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक और नैतिक विकास का भी अध्ययन करने लगा है।

विकास मनोविज्ञान का क्षेत्र या सीमा-विस्तार

वर्तमान युग में अनेक सामाजिक जटिलताओं, अंधविश्वास, भ्रम, संशय तथा वैचारिक संघर्ष के कारण मानव को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। प्राचीन काल के उपदेश, प्रवचन, विश्वास, विचार और परामर्श वर्तमान मानव की समस्याओं का समाधान नहीं कर पाते। अतः वर्तमान ज्ञान और विज्ञान का कार्य है कि वह अक्ल की आग और बुद्धि की बारूद से अंध विश्वास का किला ढाहे, भ्रम-जालों को जलावे, जहालत की जाँघ तोड़े और वहम की बाँह मोड़े। और मानव की प्रकृति तथा संसार के सम्बन्ध में सही-सही जानकारी प्राप्त करने के लिये ज्ञान तथा शोध का नया क्षेत्र उद्घाटित करे। इस समय विकास-मनोविज्ञान ऐसा विज्ञान है जो कि जीवन-काल की विभिन्न अवस्थाओं में मानव-व्यवहार के अन्तर्गत मूलभूत प्रक्रियाओं तथा गतिविधियों का यथार्थ ज्ञान कराने में तथा मानव की विभिन्न समस्याओं का समाधान कराने में सक्षम है।

जब व्यक्ति अपने जीवन का परिवेक्षण करता है, तब उसे स्पष्टतया ज्ञान हो जाता है कि वह वही व्यक्ति नहीं है जो कि अनेक वर्षों पहले था। यद्यपि अब भी वह वही व्यक्ति है और उसके स्वभाव में परिवर्तन नहीं हुआ है, परन्तु उसके व्यक्तित्व और व्यवहार के शीलगुणों में भिन्नता अवश्य आ गयी है। यह भी बात सत्य है कि व्यक्ति की आवश्यकताएँ, आकांक्षाएँ और इच्छाएँ सतत परिवर्तित होती रहती हैं। साथ ही उसके जीवन-काल में उसके विश्वास, धारणाएँ, विचार, मत, प्रवृत्तियाँ, संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ, मानसिक क्षमताएँ तथा उसके व्यक्तित्व के सब आयाम बदलते रहते हैं। चूँकि मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि वह अपने को तथा साथ-साथ अपने इर्द-गिर्द के लोगों को अच्छी तरह जाने और बूझे। इसके लिए उसे विकास-मनोविज्ञान की शरण लेना ही पड़ेगी, कारण कि वह सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व के आनुक्रमिक परिवर्तनों की खोज करता है। साथ ही वह अपनी वैज्ञानिक विधियों और विशेष विधाओं द्वारा नियमित निरीक्षण और परीक्षण करता है

और इसी निरीक्षण और परीक्षण के आधार पर मानसिक जगत् की अव्यवस्था में व्यवस्था कायम करने का प्रयास करता है।

इस मनोविज्ञान से प्राप्त ज्ञान के आधार पर व्यक्ति अपने साथियों के संकट के समय सहायता पहुँचाने के योग्य हो जाता है। साथ ही वह अपनी अन्तर्प्रेरणा को अच्छी तरह जान लेता है। इसके परिणामस्वरूप वह उसके भविष्य की विपत्तियों से लोहा लेने के लिए पूरी तरह सजग और सुसज्जित हो जाता है। उस मनोविज्ञान के तथ्यों तथा सिद्धान्तों को जानकर कुव्यवस्थित व्यक्ति भी अपने आपको सुव्यवस्थित व्यक्ति बना सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विकास-मनोविज्ञान वह मनोविज्ञान है जो कि मानव को अपना जीवन सुख और संपन्नता से यापन करना सिखाता हो। परन्तु उसका तो क्षेत्र या सीमा विस्तार मानव-व्यक्तित्व का नियमित और वैज्ञानिक निरीक्षण, परीक्षण तथा विश्लेषण मात्र है। साथ ही उसका क्षेत्र बालक की गर्भावस्था से लेकर परिपक्वावस्था तक घटित होने वाली सभी शारीरिक, गामक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक तथा नैतिक शक्तियों की विशेषताओं तथा उनकी विवृद्धि तथा विकास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

विकास-मनोविज्ञान मानव-विकास के आनुक्रमिक परिवर्तन जो मानव-व्यक्तित्व तथा व्यवहार में उपस्थित होते हैं उनके केवल विभिन्न आयाम के प्रस्फुटन निष्पंदन और परिपक्वीकरण को ही अपने में नहीं समाविष्ट करता, बल्कि उन आयामों के क्रमिक अवह्रास को भी समाविष्ट करता है। इस प्रकार शैशवावस्था, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था के आयु-स्तरों में मानव की शारीरिक, गामक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक तथा नैतिक शक्तियों के उभार, उद्गमन, निष्पंदन तथा परिपक्वीकरण, विवृद्धि एवं विकास के साथ-साथ प्रौढ़ावस्था में उनके क्रमिक ह्रास को भी परिवलयित करता है। अतः मानव-व्यक्तित्व तथा व्यवहारों को यथार्थ रूप से समझने के लिए गर्भावस्था से लेकर शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था एवं प्रौढ़ावस्था में जो आनुक्रमिक रूप में परिवर्तन और परिवर्द्धन होते हैं उनका पता लगाना भी आवश्यक है और यह विकास-मनोविज्ञान के यथार्थ अध्ययन से ही सम्भव है और यह कार्य तथा क्षेत्र विकास-मनोविज्ञान का ही है।

विकास-मनोविज्ञान की विधियाँ

विकास-मनोविज्ञान एक विज्ञान है इसलिए उसके अध्ययन की विधियाँ भी वैज्ञानिक हैं। मानव-विकास तथा प्रकृति इतनी गहन तथा जटिल होती है

कि उसका किसी एक विधि विशेष द्वारा अध्ययन नहीं किया जा सकता। अतएव किसी भी बालक या व्यक्ति के शारीरिक, गामक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक और नैतिक विकास के सूक्ष्म अध्ययन तथा यथार्थ जानकारी के लिए अनेक विधियों की आवश्यकता पड़ती है। अतएव यहाँ पर कतिपय महत्वपूर्ण विधियों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) प्रश्न तथा जाँच-पत्र विधि

इस विधि में प्रश्नावली निर्माण की जाती है। फिर बालकों तथा अभिभावकों से मौखिक तथा लिखित दोनों प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं। इसके पश्चात् प्रश्नों से प्राप्त उत्तरों का तुलनात्मक अध्ययन करके तथा उन्हें सांख्यिकी विधि की कसौटी पर कसकर उनकी विश्वसनीयता की जांच की जाती है और निजी निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस विधि का प्रयोग सबसे पहले स्टेनली हाल ने बाल-अध्ययन के लिए किया था।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि के द्वारा बाल-जीवन के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन के लिए अच्छी सामग्री प्राप्त होती है।

(२) इस विधि के उपयोग से बाल-विकास के अध्ययन में काफी मदद मिलती है।

(३) इस विधि द्वारा शोधकों को जो प्रदत्त प्राप्त होते हैं वे बड़े महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। ऐसी सामग्री का इतनी सरलता से मिलना जिसमें हर्रा लगे न फिटकरी और रंग चोखा ही की कहावत चरितार्थ हो, अन्य साधन द्वारा सम्भव नहीं।

(४) इस विधि से विभिन्न आयु के बालकों को वास्तविक आयु, मानसिक आयु, बुद्धिलब्धि, तथा लिंगादि की जानकारी प्राप्त होती है।

इस विधि की सीमाएँ :—

(१) कभी-कभी बुद्धि या समझ-बूझ की कमी के कारण परीक्षार्थी प्रश्नों के सही मनोवांछित उत्तर नहीं दे पाते जिससे शोधों का सही निष्कर्ष निकालने में कठिनाई हो जाती है और अन्वेषक गलत निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

(२) बालकों के उत्तरों को नियंत्रित करने का और दूसरा साधन न रहने के कारण उत्तर सही या गलत होने का ठीक-ठीक पता नहीं लग पाता।

३. किशोर बालक उन प्रश्नों का उत्तर नहीं देना चाहते जिनसे उनके व्यक्तित्व पर किसी प्रकार की आँच आये या उनकी पोल खुलती है। इसलिए वे अक्सर असत्य उत्तरों का सहारा लेते हैं।

(४) इस विधि में तीर नहीं तो तुक्का की सूत्र बन जाती है। इस प्रकार यह विधि पूर्ण रूप से विश्वसनीय नहीं कही जा सकती।

जांच पत्र (चैक लिस्ट) विधि

इस विधि का प्रयोग बालक की विभिन्न अभिरुचियों का पता लगाने के लिए किया जाता है। इसमें बालकों का विभिन्न अभिरुचियों की एक लम्बी सूची दे दी जाती है जिसमें उन्हें क्रमानुसार अभिरुचियों का अंकन करना पड़ता है। इसमें बालकों की अभिरुचियों के क्षेत्र का पता लग जाता है।

(२) अवलोकन विधि

यह दो प्रकार की होती है। एक साधारण अवलोकन विधि और दूसरी नियंत्रित अवलोकन विधि।

साधारण अवलोकन विधि में माता-पिता या अन्य प्रौढ़ व्यक्ति द्वारा बालकों की बाहरी क्रियाओं, चेष्टाओं, व्यवहारों तथा आदतों का निरीक्षण करके उनकी मानसिक स्थिति का पता लगाया जाता है। इस विधि में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है :—

(१) घटना विशेष पर वातावरण के अप्रत्यक्ष प्रभाव का निरीक्षक को पता नहीं लग पाता।

(२) किसी तथ्य या घटना का निरीक्षण यदि कुछ कारणवश ठीक तरह से नहीं हो पाता तो उसे फिर से दुहराकर निरीक्षण करने में कठिनाई हो जाती है।

(३) निरीक्षक पर अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत पूर्व धारणा, प्रवृत्ति, रुचि या मनोदशा का प्रभाव पड़ता है।

(४) विषय के व्यवहार की व्याख्या में पक्षपात की सम्भावना रहती है।

(५) इसमें पूरी स्वतंत्रता होने के कारण उस पर कोई नियंत्रण नहीं होता।

नियंत्रित अवलोकन विधि- इसमें बालक-बालिकाओं के व्यवहारों, क्रियाओं तथा चेष्टाओं का अध्ययन नियंत्रित वातावरण में किया जाता है। इसमें पूर्व निश्चित योजना के अनुसार बालकों की स्वाभाविक रूप से घटने वाली प्रतिक्रियाओं

का क्रमबद्ध अंकन किया जाता है। इसमें विषय के व्यवहार का प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है और उसे नोट किया जाता है। फिर बालकों के व्यवहारों की व्याख्या तथा विश्लेषण किया जाता है। अन्त में सामान्यीकरण करके सामान्य नियम निर्माण किये जाते हैं। इस विधि में व्यक्तिगत ढाँचे के प्रभाव की कम सम्भावना रहती है। सबसे पहले इस विधि का प्रयोग जर्मनी में किया गया। बाद में अन्य मनोवैज्ञानिक, जैसे— वाट्सन, गैसेल और हरलाक आदि ने इसे अपनाया। इस विधि में कुछ दोष पाये जाते हैं। इसमें परीक्षार्थी को विशेष परिस्थिति में नियंत्रित वातावरण में व्यवहार का प्रदर्शन करना पड़ता है जिससे उसके व्यवहार में स्वाभाविकता नहीं आने पाती।

अवलोकन विधि के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रणालियों को काम में लाया जाता है।

(अ) नियंत्रित वर्ग तथा प्रयोगात्मक वर्ग. इस विधि के अन्तर्गत बच्चों को दो वर्गों में बांट दिया जाता है और फिर अध्ययन किया जाता है। इसमें एक वर्ग को सामान्य व्यवहार के लिए छोड़ दिया जाता है इसे नियंत्रित वर्ग कहते हैं और दूसरे वर्ग को प्रयोग की नियंत्रण पूर्ण परिस्थिति में रखा जाता है। फिर दोनों वर्गों के क्रियाकलापों तथा व्यवहारों का विकास-क्रम के रूप में तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। नियंत्रित वर्ग का उपयोग केवल प्रयोगात्मक वर्ग से तुलना करने के लिए किया जाता है और इसके पश्चात् निष्कर्ष निकाला जाता है।

(ब) एक तरफा पर्दा प्रणाली. इस प्रणाली द्वारा बालकों की अभिरुचि, रुझान, स्वभाव एवं व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इस विधि में एक कमरा होता है जिसमें पढ़ने-लिखने तथा खेल-कूद आदि अनेक प्रकार की सामग्रियां रखी रहती हैं। बालकों की विभिन्न रुचि तथा स्वभाव जानने के लिए बालक को उस कमरे में प्रवेश करा दिया जाता है। उस कमरे के दरवाजे पर एक ऐसा शीशा लगा रहता है जिससे बालक बाहर के निरीक्षणकर्त्ता को नहीं देख पाता, परन्तु निरीक्षणकर्त्ता बालक के सब व्यवहारों का निरीक्षण कर पाता है और बालक को इसका पता नही रहता।

(स) चित्र कक्ष. इस प्रणाली के अन्तर्गत एक छोटा सा कमरा होता है जिसमें खेल-कूद और पढ़ने लिखने की सामग्री रक्खी रहती है और उसके साथ एक कैमरा रहता है जिससे बच्चे का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना होता है। बच्चे को कमरे में पहुँचा दिया जाता है। बच्चे के व्यवहारों की प्रतिक्रियायें कैमरे पर आती जाती हैं। इसके पश्चात् मनोवैज्ञानिक इनका अध्ययन करके बालक की रुचि, रुझान और स्वभाव आदि का पता लगाता है।

(ड) संकेत लिपि सम्बन्धी प्रलेख. निरीक्षक बालकों के व्यवहारों की यथार्थ जानकारी के लिए संकेत लिपि-सम्बन्धी प्रलेखों का प्रयोग करता है।

(प) प्रयोग भवन. यह भवन बड़ा सुसज्जित और मनमोहक होता है। उसमें मनोरंजन की अनेक प्रकार की सामग्रियां रहती हैं। प्रयोग प्रारम्भ करने के पूर्व बालक को उस भवन से पूर्णरूप से परिचित करा दिया जाता है और फिर बालक को वहाँ छोड़ दिया जाता है। निरीक्षक छिपकर बालक के क्रियाकलापों तथा व्यवहारों को देखता रहता है। बालक उसे नहीं देख पाता, इसलिए वह अपना स्वाभाविक व्यवहार करता है। निरीक्षक इन सबका अङ्कन करता जाता है। अन्त में प्रदत्तों का विश्लेषण करके निष्कर्ष पर पहुँच जाता है और बालक की रुचि व स्वभाव का पता लगाया जाता है।

अवलोकन विधि के गुण :—

(१) यह समस्त सहज क्रियाओं, रुचि, अवधान, आदत निर्माण एवं मूल-प्रवृत्ति का अध्ययन करने में उपयोगी है।
(२) इस विधि द्वारा असभ्य व्यक्तियों, बालकों, अशिक्षितों और पशुओं के मानसिक जीवन, उनका विकास क्रम तथा व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है।
(३) बालकों के बहुत से व्यवहारों को प्रयोगों द्वारा नहीं जाना जा सकता इसलिए इस विधि का सरलता से प्रयोग किया जाता है। इसमें निरीक्षक के लिए प्रशिक्षण तथा अभ्यास की आवश्यकता है ताकि वह पक्षपात न कर सके।

इस विधि की सीमाएं :—

(१) इस विधि में निरीक्षक किसी के व्यवहार की व्याख्या करने में पक्षपात या पूर्व धारणा से प्रभावित हो सकता है।
(२) इस विधि में अनुमान अर्थात् अन्दाजी गोले की बहुत गुंजाइश रहती है।
(३) कभी-कभी ढोंगी व्यवहार की व्याख्या करने में गलतफहमी हो सकती है।

(३) व्यक्ति-इतिहास विधि (केस हिस्ट्री मेथड)

पी० वी० यंग के अनुसार व्यक्ति-इतिहास विधि सामाजिक इकाई के जीवन की खोज तथा विश्लेषण करने वाली एक विधि है। वीसेन्ज एंड वीसेन्ज के अनुसार वह गुणात्मक विश्लेषण का एक प्रारूप है जिसमें व्यक्ति, परिस्थिति या संस्था का

बडा सावधानीपूर्ण और सम्पूर्ण विश्लेपण सम्मिलित रहता है। इस विधि के द्वारा व्यक्ति-विशेष के अतीत के इतिहास तथा वर्तमान इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री एकत्र की जाती है और इसके आधार पर बालकों के व्यक्तित्व के व्यवहारों की गुत्थियों को समझने तथा उन्हें सुलझाने का प्रयास किया जाता है। इस विधि के द्वारा व्यक्ति के बाल्यकाल का जीवन, उसका छात्र-जीवन, शाला के कार्य घर एवं समाज के वातावरण का विस्तृत ज्ञान, विकासात्मक इतिहास, व्यक्तिगत शारीरिक अवस्थाओं, अभिरुचियों, अभिवृत्तियों, प्रतिक्रियाओं, आय, सामाजिक स्थिति, मानसिक एवं संवेगात्मक विकास एवं परिवार के इतिहास का अध्ययन किया जाता है। इस विधि में बालक या व्यक्ति विशेष के शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की सभी प्रकार की सूचनायें प्राप्त की जाती हैं और इसके पश्चात् इन सभी प्राप्त सामग्रियों तथा प्रदत्तों का अध्ययन और विश्लेपण किया जाता है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि का प्रयोग समस्यात्मक बालकों की समस्याओं के निदान और निर्देशन के लिये किया जाता है।

(२) इसका मानसिक चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

(३) इस विधि से व्यक्ति विशेष के जीवन की विलक्षणताओं एवं विषमताओं की जानकारी प्राप्त की जाती है।

(४) इस विधि का प्रयोग प्रतिभाशाली बालकों या व्यक्तियों के अध्ययन में भी किया जाता है।

(५) यह वैध-परिकल्पना निर्माण करने में सहायक सिद्ध होती है।

(६) यह न्यास या चयन के स्तर-निर्माण में सहायक रहती है।

(७) यह व्यक्ति के जीवन का लिपिबद्ध प्रदत्त का महत्त्व दर्शाने में उपयोगी है।

इस विधि की सीमाएं :—

(१) इस विधि में व्यक्तियों के जीवन के बारे में बहुत सी बातें याद रखनी पड़ती हैं और इस प्रकार पूर्णतया स्मृति पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः गलत निष्कर्ष की सम्भावना रहती है।

(२) यह विधि इतनी विश्वसनीय नही है, कारण कि स्त्रियों, समाज तथा पड़ोसियों द्वारा व्यक्ति विशेष के जीवन की यथार्थ जानकारी नही प्राप्त होती। दूसरे यह विधि अधिक आन्तरिक है।

(३) इस विधि का प्रयोग वे ही मनोवैज्ञानिक कर सकते हैं जिन्हें कुव्यवस्थित बालकों के व्यवहारों की यथार्थ जानकारी होती है।

(८) इस विधि में गलत निरीक्षण, दोषपूर्ण अनुमान और स्मृति की असफलता सम्बन्धी त्रुटियां पाई जाती हैं।

(४) (अ) बालचरित्र लेखन विधि (चाइल्ड बाइग्राफी मेथड)

इस विधि में बालक-बालिकाओं के विभिन्न प्रकार के व्यवहारों तथा क्रियाओं को एक दैनिकी मे अङ्कित कर लिया जाता है। प्रतिदिन ऐसा किया जाता है। इस प्रकार कुछ दिनों के पश्चात् बाल चरित तैयार हो जाता है। टेनिस, मेकर्फ और हरलाक ने इस विधि का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि द्वारा बालकों के व्यवहारों की स्थिरता या अस्थिरता का ज्ञान हो जाता है।

(२) इस विधि मे निरीक्षक स्वाभाविक वातावरण में बालकों के व्यवहारों का निरीक्षण और परीक्षण करता है।

(३) इस विधि में निरीक्षक को अपनी इच्छा तथा सुविधा के अनुसार कार्य करने का मौका मिल जाता है।

इस विधि की सीमाएं :—

(१) इस विधि में निरीक्षक पर पक्षपात का प्रभाव पड़ सकता है।

(२) इस विधि में बालक के चरित्र के आधार पर प्राप्त किये हुए नियमों को दूसरे बालकों पर लागू नही किया जा सकता।

(३) इस विधि में व्यवस्थित एवं संगठित अध्ययन का अभाव रहता है।

(४) इस विधि का सफल प्रयोग व उपयोग केवल बुद्धिमान और योग्य निरीक्षक ही कर सकता है।

(४) (ब) आत्म-चरित लेखन विधि (आटोबाइग्राफी मेथड)

इस विधि में आत्म-चरित बालक या मनोवैज्ञानिक द्वारा अपने बाल्यकाल की स्मृति के आधार पर लिखा जा सकता है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि के सफल प्रयोग द्वारा बालक के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(२) इस विधि में बालक की प्रतिक्रियाओं का विवरण रहता है जिससे उसके विषय में अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्यों का पता लग सकता है।

बड़ा सावधानीपूर्ण और सम्पूर्ण विश्लेषण सम्मिलित रहता है। इस विधि के द्वारा व्यक्ति-विशेष के अतीत के इतिहास तथा वर्तमान इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री एकत्र की जाती है और इसके आधार पर बालकों के व्यक्तित्व के व्यवहारों की गुत्थियों को समझने तथा उन्हें सुलझाने का प्रयास किया जाता है। इस विधि के द्वारा व्यक्ति के बाल्यकाल का जीवन, उसका छात्र-जीवन, शाला के कार्य घर एवं समाज के वातावरण का विस्तृत ज्ञान, विकासात्मक इतिहास, व्यक्तिगत शारीरिक अवस्थाओं, अभिरुचियों, अभिवृत्तियों, प्रतिक्रियाओं, आय, सामाजिक स्थिति, मानसिक एवं संवेगात्मक विकास एवं परिवार के इतिहास का अध्ययन किया जाता है। इस विधि में बालक या व्यक्ति विशेष के शारीरिक, मानसिक, सांवेगिक, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की सभी प्रकार की सूचनायें प्राप्त की जाती हैं और इसके पश्चात् इन सभी प्राप्त सामग्रियों तथा प्रदत्तों का अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि का प्रयोग समस्यात्मक बालकों की समस्याओं के निदान और निर्देशन के लिये किया जाता है।

(२) इसका मानसिक चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

(३) इस विधि से व्यक्ति विशेष के जीवन की विलक्षणताओं एवं विषमताओं की जानकारी प्राप्त की जाती है।

(४) इस विधि का प्रयोग प्रतिभाशाली बालकों या व्यक्तियों के अध्ययन में भी किया जाता है।

(५) यह वैध-परिकल्पना निर्माण करने में सहायक सिद्ध होती है।

(६) यह न्यास या चयन के स्तर-निर्माण में सहायक रहती है।

(७) यह व्यक्ति के जीवन का लिपिबद्ध प्रदत्त का महत्त्व दर्शाने में उपयोगी है।

इस विधि की सीमाएं :—

(१) इस विधि में व्यक्तियों के जीवन के बारे में बहुत सी बातें याद रखनी पड़ती हैं और इस प्रकार पूर्णतया स्मृति पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः गलत निष्कर्ष की सम्भावना रहती है।

(२) यह विधि इतनी विश्वसनीय नहीं है, कारण कि स्त्रियों, समाज तथा पड़ोसियों द्वारा व्यक्ति विशेष के जीवन की यथार्थ जानकारी नहीं प्राप्त होती। दूसरे यह विधि अधिक आन्तरिक है।

(३) इस विधि का प्रयोग वे ही मनोवैज्ञानिक कर सकते हैं जिन्हें कुव्यवस्थित बालकों के व्यवहारों की यथार्थ जानकारी होती है।

(४) इस विधि में गलत निरीक्षण, दोषपूर्ण अनुमान और स्मृति की असफलता सम्बन्धी त्रुटियां पाई जाती हैं।

(४) (अ) बालचरित्र लेखन विधि (चाइल्ड बाइग्राफी मेथड)

इस विधि में बालक-बालिकाओं के विभिन्न प्रकार के व्यवहारों तथा क्रियाओं को एक दैनिकी में अङ्कित कर लिया जाता है। प्रतिदिन ऐसा किया जाता है। इस प्रकार कुछ दिनों के पश्चात् बाल चरित तैयार हो जाता है। डेनिस, मेकहफ और हरलाक ने इस विधि का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि द्वारा बालकों के व्यवहारों की स्थिरता या अस्थिरता का ज्ञान हो जाता है।
(२) इस विधि में निरीक्षक स्वाभाविक वातावरण में बालकों के व्यवहारों का निरीक्षण और परीक्षण करता है।
(३) इस विधि में निरीक्षक को अपनी इच्छा तथा सुविधा के अनुसार कार्य करने का मौका मिल जाता है।

इस विधि की सीमाएं :—

(१) इस विधि में निरीक्षक पर पक्षपात का प्रभाव पड़ सकता है।
(२) इस विधि में बालक के चरित्र के आधार पर प्राप्त किये हुए नियमों को दूसरे बालकों पर लागू नहीं किया जा सकता।
(३) इस विधि में व्यवस्थित एवं संगठित अध्ययन का अभाव रहता है।
(४) इस विधि का सफल प्रयोग व उपयोग केवल बुद्धिमान और योग्य निरीक्षक ही कर सकता है।

(४) (ब) आत्म-चरित लेखन विधि (आटोबाइग्राफी मेथड)

इस विधि में आत्म-चरित बालक या मनोवैज्ञानिक द्वारा अपने बाल्यकाल की स्मृति के आधार पर लिखा जा सकता है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि के सफल प्रयोग द्वारा बालक के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।
(२) इस विधि में बालक की प्रतिक्रियाओं का विवरण रहता है जिससे उसके विषय में अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्यों का पता लग सकता है।

इस विधि की सीमाएं :—

(१) स्मृति के आधार पर लिखा हुआ आत्म-चरित काल्पनिक भी हो सकता है, क्योंकि अतीत की बातों को ज्यों की त्यों याद रखना टेढ़ी खीर है।

(२) यह भी बात देखी जाती है कि व्यक्ति या बालक अपने भूतकाल के जीवन की सुखद बातें ही याद रखता है और दुःखद बातों को भुला देना चाहता है। अतः उसके जीवन की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं के छूट जाने की आशंका रहती है।

(५) साक्षात्कार विधि (इन्टरव्यू मेथड) या समातापक विधि

इस विधि में बालक का मनोवैज्ञानिक के समक्ष साक्षात्कार कराया जाता है। मनोवैज्ञानिक बालक से अनेक सामान्यज्ञान सम्बन्धी प्रश्न पूछता है और उसके द्वारा दिये गये उत्तरों को लिपिबद्ध कर लिया जाता है और प्रश्नों के उत्तर देते समय बालक की अनुक्रियाओं का निरीक्षण किया जाता है। इस विधि में साक्षात्कार का लक्ष्य पहले ही से निश्चित कर लिया जाता है और उसी के अनुसार प्रश्न बना लिये जाते हैं। साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त की गई सूचना के मापदंड के आधार पर मूल्याङ्कन किया जाता है। यह मूल्याङ्कन अनेक अधिकारी व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। इस विधि का सफल प्रयोग जीन प्याजे तथा एनथोनी ने किया।

इस विधि के गुण:—

(१) इस विधि द्वारा बाल मनोविज्ञान के अनेक पहलुओं का अध्ययन किया जा सकता है।

(२) इसमें बातचीत या वार्तालाप द्वारा व्यक्ति के व्यवहार, ज्ञान, अनुभव और हाव-भावों की परीक्षा ली जाती है।

(३) इस विधि के आधार पर व्यक्ति के हाव-भाव तथा ज्ञान की गहराई का पता लग जाता है कि वह कितने गहरे पानी में है। इस विधि द्वारा व्यक्ति की इच्छाओं और विचारों आदि की गहराई की जाँच की जाती है।

इस विधि की कठिनाइयां :—

(१) साक्षात्कार में उत्तर देने वाला व्यक्ति स्मृति के आधार पर अनेक बातों का उत्तर देता है जिससे भूल होने की सम्भावना रहती है।

(२) इसमें साक्षात्कार लेने वाले व्यक्तियों पर पूर्वाग्रह का प्रभाव पड़ सकता है।

(३) यह विधि अधिक व्यय-साध्य है।

(४) इसमें उत्तर देने वाला व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत बातें नहीं बतलाना चाहता है।
(५) इस विधि में उत्तर देने वाले व्यक्ति का सही सही मूल्याङ्कन नहीं होने पाता।

(६) मनोदैहिक विधि (साइकोफिजिकल मेथड)

इस विधि में बालक की डाक्टरी परीक्षा के साथ साथ उसकी शारीरिक नाप-जोख का लेखा-जोखा तैयार किया जाता है। साथ ही बालक के स्नायविक अन्तः-श्रावी ग्रन्थि, नाड़ी तथा पोषाहार सम्बन्धी अध्ययन किया जाता है, कारण कि इनका बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास पर काफी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये पुष्ट भोजन न मिलने पर शरीर की बाढ़ रुक सकती है और इससे बुद्धि का विकास भी रुक सकता है। इसी प्रकार अन्तःश्रावी ग्रन्थियों की क्रिया-शीलता अथवा अक्रियाशीलता से बालक के शरीर तथा मन के विकास पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार इस विधि के आधार पर बालक के शारीरिक तथा मानसिक व व्यवहारात्मक योग्यता की जानकारी मिलती है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि द्वारा बालक के शारीरिक तथा मानसिक असन्तुलन के कारणों का पता लगता है।
(२) इसके द्वारा बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है।

इस विधि की सीमाएँ :—

(१) यह विशुद्ध वस्तुनिष्ठ विधि है। इसके सहारे बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास की पूरी जानकारी नहीं मिलने पाती। अतः उसकी पूरी व्याख्या के लिए अन्य विधियों का सहारा लेना पड़ता है। अस्तु, यह एकाङ्गी विधि है।
(२) कभी कभी परीक्षक के सामने यह कठिनाई आती है कि बालक की शारीरिक दुर्बलता का कारण उसका चिड़चिड़ापन है अथवा पौष्टिक भोजन का अभाव है।

(७) नैदानिक विधि (क्लिनिकल मैथड)

इस विधि का उपयोग बालक के व्यक्तिगत इतिहास के आधार पर किया जाता है। इसके साथ ही आवश्यकतानुसार माता-पिता, अभिभावक, धाय तथा शिक्षकादि से साक्षात्कार करके बालक की जीवन सम्बन्धी जानकारी प्राप्त की जाती

है। इसके बाद अनेक परीक्षणों का प्रयोग करके रोगों के लक्षणों का पता लगाया जाता है। तत्पश्चात् निदान बताया जाता है।

(८) मनोविश्लेषण विधि (साइकोएनालिटिक मेथड)

इस विधि के जन्मदाता मनोविश्लेषणवादी फ्रायड, युग और एडलर माने जाते हैं। इनके मतानुसार चेतन मन के समान अचेतन मन भी होता है। जिन प्राप्त किये हुए सब अनुभवों को चेतन मन भूल जाता है, वे अनुभव नष्ट नहीं होते, बल्कि अचेतन मन में सञ्चित होते रहते हैं और वे अचेतन मन में स्थिर रहकर मनुष्य के चेतन व्यवहारों तथा आचरणों को प्रभावित करते हैं। इस विधि के माध्यम से व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व, मानसिक संघर्ष, आन्तरिक तनाव, दमित इच्छाओं तथा स्मृतियों, अतृप्त वासनाओं व आशाओं, महत्वाकांक्षाओं और मूलभूत प्रेरणाओं को जानने का प्रयत्न किया जाता है और उनके कारणों का यथार्थ पता लगाकर उनके निदान की बात सुझायी जाती है। इस विधि में दो उपाय अपनाये जाते हैं। एक तो स्वप्न-विश्लेषण तथा दूसरा मुक्त साहचर्य। स्वप्न विश्लेषण में बालक को स्वतंत्र रूप से अपने स्वप्नों का वर्णन करने के लिए कह दिया जाता है और मनोविश्लेषक स्वप्नों की विषयवस्तु तथा छिपी हुई समस्याओं का विश्लेषण करके दमित प्रवृत्तियों तथा इच्छाओं का पता लगाता है। मुक्त साहचर्य में बालक को बिना झिझक के मनोविश्लेषक के सामने अपने जीवन के सम्बन्ध में स्वतत्र कथन करने को कहा जाता है। मनोविश्लेषक अपनी दैनिकी में इसका विस्तृत लेखा ले लेता है। तत्पश्चात व्यक्ति विशेष के कथन या वर्णन का विश्लेषण करके उसके अचेतन मन में स्थित अतृप्त तथा दमित प्रवृत्तियों, इच्छाओं और भावना-ग्रन्थियों का पता लगाता है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि द्वारा व्यक्ति के मानसिक रोगों, भावना-ग्रन्थियों, मानसिक संघर्षों, अन्तर्द्वन्द्वों तथा अवाञ्छित व्यवहारों को समझने-बूझने का प्रयत्न किया जाता है और मानसिक रोगों की चिकित्सा की जाती है।

(२) इस विधि से व्यक्ति के कुछ विचित्र व्यवहारों एवं चरित्र को समझने का प्रयास किया जाता है।

(३) व्यक्ति के पिछले इतिहास को जानकर, उसके आचरण का अध्ययन करके, स्वप्नों का विश्लेषण करके, रोगी को मोह निद्रा में लाकर तथा स्वतंत्र कथन की स्वतंत्रता देकर व्यक्ति के अचेतन मन की छानबीन की जाती है और इस प्रकार उसके अचेतन आचरण को समझा जाता है।

(४) इस विधि द्वारा दण्ड की हानियाँ प्रकट होती हैं।

(५) इस विधि द्वारा अवाञ्छित इच्छाओं, रुचियों एवं मूल प्रवृत्तियों का शोधन और रेचन किया जाता है।
(६) न समझ में आने वाला बालकों का व्यवहार इसके द्वारा समझा जाता है।
(७) इस विधि के द्वारा शिक्षक बालकों के असामान्य व्यवहारों के कारणों को समझने तथा उनका निराकरण करने में समर्थ होते हैं।
(८) यह विधि बालकों के व्यक्तित्व निर्माण में सहायता पहुँचाती है।

इस विधि की सीमाएँ :—

(१) इस विधि में समय और धन का अधिक अपव्यय होता है। बड़ी देर के बाद निष्कर्ष निकल पाते हैं। इस विधि में धैर्य और समय की बहुत आवश्यकता पड़ती है।
(२) इस विधि से केवल मानसिक अस्वस्थता या रोग का अध्ययन और उपचार किया जाता है। परन्तु साधारण मानसिक स्थिति का नही।
(३) तथ्य संग्रह में अनुमान पर अधिक निर्भर होना पड़ता है।
(४) मनोविश्लेषक के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बालक की प्रतिक्रिया दूसरी हो सकती है।
(५) इस विधि का प्रयोगात्मक उपयोग दुर्बल प्रतीत होता है।

(६) प्रक्षेपण विधियाँ (प्रोजेक्टिव टेकनिक्स)

आजकल व्यक्ति के व्यक्तित्व मापन तथा विकास के विषय में इन विधियों का अधिक प्रयोग किया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि व्यक्ति अपनी भावनाओं को अन्य व्यक्ति या वस्तुओं पर अधिक प्रत्यारोपित करता है। अधोलिखित प्रक्षेपण विधियाँ अधिकतर काम में लाई जाती हैं :

(अ) रोशार्क परीक्षा. इस परीक्षा में परीक्षार्थी को १० प्रमाणित स्याही के धब्बों के कार्डों को दिखाया जाता है और देखने पर जो विचार उसके मन में उठते हैं उनको वह व्यक्त कर देता है। परीक्षक इन प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके व्यक्तित्व तथा उसके विकास का मूल्याङ्कन करता है। इस विधि के प्रयोग के लिये प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। इस परीक्षा का निर्माण स्विट्ज़रलैंड निवासी मनोवैज्ञानिक रोशेश ने किया। इसीलिये उसके नाम पर यह रोशेश परीक्षा कहलाती है।

(ब) टी० ए० टी० परीक्षा. इस परीक्षा में व्यक्तियों से सम्बन्धित कुछ चित्र होते हैं। व्यक्तियों को चित्र से सम्बन्धित कहानी प्रस्तुत करने के लिये कहा जाता है। चूंकि ये चित्र स्पष्ट नहीं होते, इसलिये व्यक्ति अपनी भावनाओं को अज्ञात रूप से

उन पर आरोपित करता है और दिये हुये चित्र मे प्रक्षेपण द्वारा मुख्य पात्र से तादात्म्य कर लेता है। इस विधि से व्यक्ति के चरित्र, विचार, अभिरुचि, रुझान और प्रसुप्त भावनाओं की जानकारी मिलती है। इस परीक्षा का निर्माण मार्गेन और मरे ने किया।

इन परीक्षाओं के गुण :—

(१) इन विधियों द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व, अभिरुचि, रुझान, चरित्र और विचार आदि की जानकारी मिलती है।
(२) रोशेश परीक्षण द्वारा मानसिक रोगों का निदान किया जा सकता है।
(३) व्यक्तित्व के विशेष गुणों और सामान्य प्रवृत्तियों का पता लगाया जा सकता है। चिकित्सा के क्षेत्र में इसका प्रयोग किया जाता है।

सीमाएँ :—

इन विधियों में व्यक्तित्व का सही-सही मूल्याङ्कन नहीं होता है कारण कि इनमें वस्तु मूलकता की कमी रहती है और इनका सही उपयोग करने के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।

(१०) सांख्यिकी अथवा परिगणन विधि (सर्वे मेथड)

इस विधि में प्रदत्तों के तथ्यों का सङ्कलन होता है और जिसकी अभिव्यक्ति अङ्कों में होती है। साथ ही साथ प्रस्तुतीकरण, विश्लेपण और नियमों का अध्ययन भी होता है। इस विधि के द्वारा सामग्री का सङ्कलन, वर्गीकरण तथा सारणीयन किया जाता है। इस विधि का क्षेत्र घटनाओं, समस्याओं या परिस्थितियों आदि का आङ्किक अध्ययन है। इस विधि में अनेक बालकों को लिया जाता है और उन पर प्रयोग तथा परीक्षण करके औसत परिणाम अङ्कों में निकाले जाते हैं और परिणामों के आधार पर दूसरे बालकों के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा अन्य व्यवहारों का विकासाध्ययन किया जाता है। इस विधि की एक विशेपता यह है कि वह संख्या या परिणामसूचक विश्लेपण पर आधारित होती है।

इस विधि में प्रदत्त एकत्र करने के लिए दो पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं। एक तो जनसंख्या पद्धति जिसमे पूरे जनसमूह का परीक्षण किया जाता है और दूसरी न्यादर्श पद्धति। प्रदत्त एकत्र करने के पश्चात् तथ्यों का वर्गीकरण तथा सारणीकरण किया जाता है। इसके बाद सांख्यिकी सम्बन्धी अंङ्कों को संगठित व संगणित किया जाता है। फिर इसके पश्चात् इन सबका विश्लेपण किया जाता है। विश्लेपण समाप्त होने के पश्चात् विभिन्न चल राशियों के बीच सम्बन्धों की तुलना और स्थापना की जाती है। सह-सम्बन्ध, गुणों का साहचर्य और सहचलता इसके लिए

उपयोग में लायी जाती है। प्रदत्त को ग्राफ रेखा कृतियों और तालिकाओं के रूप में प्रदर्शित किया जाता है और साथ ही मानचित्रों, चार्टों तथा चित्रों, का भी उपयोग किया जाता है। इस विधि में दिये हुए आंकड़ों के आधार पर मध्यमान मध्याङ्क और बहुलाङ्क के विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है। मध्यमान वह औसत है जो प्राप्ताङ्कों के योग को परीक्षार्थियों की संख्या से भाग देकर निकाला जाता है। अङ्क सामग्री की केन्द्रीय प्रवृत्ति को मापने के लिए मध्यमान मध्यांङ्क का प्रयोग किया जाता है। मध्यमान वह अंक होता है जो परीक्षार्थियों के प्राप्ताङ्कों को क्रम के अनुसार रखने में मध्य में पड़ता है। बहुलाङ्क वह अङ्क है जो परीक्षार्थियों के प्राप्ताङ्कों के समूह में वर्त्तमान रहता है और जिसकी आवृत्ति अधिक बार होती है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि के द्वारा सम्वेदना, प्रत्यक्षीकरण, व्यक्तित्व, बुद्धि, अनुभूति, प्रेरणा, चिंतन, कल्पना, वंशानुक्रम, वातावरण, स्मृति और परिपक्वता आदि के सम्बन्ध में आङ्किक अंङ्क प्राप्त किये जाते हैं।

(२) यह विधि किसी भी घटना के परिमाणात्मक मापन संयोजित करती है।

(३) इस विधि द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण हमारे विचारों को नियमितता, यथार्थता तथा सूक्ष्मता प्रदान करता है।

(४) यह विधि सामाजिक सुधार, उनके स्वभाव तथा सामाजिक दोषों के विस्तार के मूल्याङ्कन में महत्वपूर्ण योगदान देती है।

सीमाएँ :—

(१) इस विधि से समूह का अध्ययन किया जाता है—व्यक्तियों का नहीं।

(२) इस विधि को केवल गणनात्मक प्रदत्तों में ही काम में लाया जा सकता है। इसके द्वारा व्यक्ति के चरित्र तथा उसके व्यक्तित्व के शीलगुणों का यथार्थ परीक्षण तथा विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

(३) इस विधि से प्राप्त नियम, गणित या विज्ञान के नियम के समान पूर्ण रूप से विशुद्ध नहीं होते, कारण कि वे औसत से ही लागू किये जाते हैं।

(४) इस विधि का सही सही प्रयोग विशेषज्ञ ही कर सकते हैं, जनसाधारण नहीं।

(५) इस विधि द्वारा निकाले हुये निष्कर्ष भ्रमपूर्ण भी हो सकते हैं यदि उनका विश्लेषण विना संदर्भ के किया जाता है।

(११) प्रयोगात्मक विधि (एक्सपेरीमेन्टल मेथड)

जहोया के अनुसार परिकल्पना के परीक्षण की विधि को प्रयोगात्मक विधि

कहते हैं। इस विधि में पूर्व निश्चित एवं निर्धारित व निर्मित तथा व्यवस्थित स्थिति में मानसिक प्रक्रियाओं तथा व्यवहारों का नियंत्रित रूप में निरीक्षण का अध्ययन किया जाता है। यह विधि परीक्षण अथवा प्रयोग पर आधारित रहती है। प्रयोगात्मक विधि एक प्रकार से निरीक्षण विधि ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि निरीक्षण विधि में स्वाभाविक वातावरण तथा सहज घटना का निरीक्षण तथा अध्ययन किया जाता है। इसमें कृत्रिम वातावरण नहीं रहता, बल्कि वह स्वतंत्र और स्वाभाविक होता है। परन्तु प्रयोगात्मक विधि में एक प्रकार का निरीक्षण रहता है जो नियंत्रित परिस्थिति में होता है। इसमें प्रयोगकर्त्ता आवश्यकता एवं सुविधा अनुसार वातावरण तथा घटना में फेरबदल कर सकता है और अनेक परिवर्तन करके विभिन्न निर्णयों और निष्कर्षों पर पहुँच सकता है। इस विधि में क्रमशः निम्नलिखित सोपान होते हैं। इसमें पहिले समस्या उठाई जाती है, फिर एक परिकल्पना बनाई जाती है, इसके पश्चात् स्वतंत्र परिवर्त्यों तथा आश्रित परिवर्त्यों को अलग किया जाता है और इसके बाद परिवेश को नियन्त्रित किया जाता है। तदनान्तर प्रयोग फल का विश्लेपण किया जाता है। और अंत में प्रयोग फल से परिकल्पना की जाँच की जाती है। बालकों के विकास का अध्ययन इस विधि द्वारा किया जाता है। बाल-मनोविज्ञान के क्षेत्र में कुछ नियन्त्रित परिस्थितियों में बालक के व्यवहारों का अध्ययन करके उसके विकास में परिवर्तनों का पता लगाने के लिए भी इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि का प्रयोग वाटसन, बाल्टीमोर, गेसेल और लूनिस आदि ने अधिक किया है।

प्रयोग विधि के गुण :—

(१) इस विधि में परीक्षण के परिणाम प्रायः विशुद्ध तथा विश्वसनीय होते हैं।

(२) इस विधि के द्वारा बच्चों की विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं तथा सहज क्रियाओं का सरलता से अध्ययन किया जाता है।

(३) यह विधि मनोवैज्ञानिक तथ्यों तथा नियमों की जानकारी में सहायता पहुँचाती है।

(४) इस विधि में कार्य और कारण के सम्बन्ध की अच्छी विवेचना रहती है और इसके द्वारा व्यक्तिगत विभिन्नताओं का अध्ययन आसानी से हो सकता है।

(५) बालकों की कुव्यवस्था तथा दुर्व्यवहारों के कारणों का यथार्थ पता लगाने में यह विधि बड़े काम की रहती है।

(६) यह विधि बहुत नियमनिष्ठ और कोई भी परिकल्पना का परीक्षण करने के लिए सबसे उत्तम रहती है।

(७) इस विधि के माध्यम से किशोरावस्था में उठने वाली विभिन्न समस्याओं का समाधान हो सकता है। जैसे भावुकता तथा अनुशासन-हीनता आदि।

(८) यह बालकों की सीखने की प्रक्रियाओं में अपना योगदान देती है।

सीमाएँ :—

(१) बालक के अनिश्चित व्यवहारों का इस विधि द्वारा ठीक अध्ययन नहीं किया जा सकता।

(२) बालकों की मानसिक दशाओं पर नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता।

(३) इसके द्वारा बालकों के भावों तथा संवेगों का अध्ययन पूर्ण रीति से नहीं किया जा सकता।

(४) बालकों की बहुत सी मानसिक क्रियाओं का इस विधि द्वारा परीक्षण नहीं हो सकता, कारण कि वे इच्छानुसार जब चाहे तब नहीं उत्पन्न की जा सकतीं।

(५) इस विधि का सीमित क्षेत्र होता है मानव जीवन की जटिल परिस्थितियों तथा जटिल व्यवहारों को प्रयोगशाला में उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

(६) वातावरण के सभी अङ्गों तथा तत्त्वों पर अधिकार प्राप्त करना अथवा नियन्त्रण रखना कठिन कार्य है साथ ही मानसिक प्रतिक्रियाओं पर नियन्त्रण प्राप्त करना भी कठिन है।

(७) चूंकि प्रयोगशाला का वातावरण बनावटी होता है, इसलिए यह जरूरी नहीं है कि बालक के व्यवहार तथा चेष्टायें सदा एक सी और स्वाभाविक रहें।

(८) कभी कभी बालक संवेगों तथा आवेगों की चपेट में आने के कारण प्रयोग के समय वह प्रयोगकर्त्ता के मन के अनुसार तथा कृत्रिम वातावरण के अनुरूप कार्य नहीं कर पाता। इसलिए निष्कर्ष गलत और व्यर्थ सिद्ध हो सकते हैं।

(१२) मानाङ्कन मापदण्ड विधि

इस विधि का उपयोग बच्चों की व्यवहार सम्बन्धी सूचनाओं का संग्रह तथा उनका वर्गीकरण करने के लिए किया जाता है। इस विधि द्वारा बालकों के व्यवहार सम्बन्वी विशेपताओं तथा व्यक्तित्व की शील-गुणों की जाँच की जाती है और बालकों की अभिवृत्तियों तथा व्यक्तित्व की विशेपताओं का अध्ययन किया जाता है। इस अवधि में बालक या व्यक्ति के गुण की तथा व्यवहार का मापन मापदण्ड

के आधार पर किया जाता है और जाँच के अनुसार अङ्क प्रदान किये जाते हैं। इस विधि में दो प्रकार के कार्य किये जाते हैं—एक तो प्रश्नकर्ता द्वारा बनाये हुये प्रश्नों की सूची जिसमें कि बालक व्यक्तित्व के विशिष्ट शील-गुणों से सम्बन्धित रहते हैं। बालक द्वारा दिये गये उत्तरों के आधार पर परीक्षक मूल्याङ्कन करता है और उसके व्यक्तित्व का पता लगाता है। दूसरे परीक्षक बच्चों को व्यवहार सम्बन्धी विशेषताओं तथा शील-गुणों के आधार पर क्रम के अनुसार सूची रखता है। जिस बालक का शील-गुण मूल्याङ्कन के आधार पर सबसे अधिक होता है उसे पहले स्थान पर और जिसका सबसे कम रहता है उसे अन्त में और शेष शील-गुणों को दोनों के बीच में रक्खा जाता है। परीक्षक के पास बालकों की व्यवहार सम्बन्धी विशेषताओं तथा शील-गुणों की लम्बी सूची होती है और निरीक्षण तथा परीक्षण के समय जिन शील-गुणों का पता लग जाता है उन्हें क्रमानुसार वह अपनी सूची में अङ्कित कर देता है। साधारणतया मानाङ्कन के लिए दिये गये प्रश्नों के उत्तर हां या नहीं में होते हैं प्राप्ताङ्कों की प्रतिशत के रूप में दिखाया जाता है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि द्वारा बालक के व्यवहारों, अभिवृत्तियों, तथा व्यक्तित्व की विशेषताओं का यथार्थ पता लगता है।

सीमाएँ :—

(१) इसके द्वारा व्यक्तित्व के शील-गुणों का सही-सही पता लगाना कठिन है कारण कि इस विधि में व्यक्तित्व के गुणात्मक पक्षों का ही अध्ययन किया जाता है अतः यह विश्वसनीय नहीं है।

(२) इसमें पक्षपात की अधिक सम्भावना रहती है।

(३) इसमें योग्य तथा बहुत कुशल परीक्षक की आवश्यकता पड़ती है जिसका मिलना कठिन होता है।

(१३) क्षैतिज काट विधि (क्रास सेक्शनल मेथड)

बाल विकास के अध्ययन में इस विधि का आजकल बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। इस विधि में विभिन्न आयु-स्तरों तथा विकास क्रमों पर आधारित बालकों या व्यक्तियों के न्यादर्शो का अध्ययन तथा तुलना की जाती है। उदाहरण के लिए बौद्धिक क्षमता में क्रमिक परिवर्तन की जाँच के लिये विभिन्न आयु-स्तर के बालकों की बुद्धि क्षमताओं के नमूने एकत्र करके तथा उनकी आपस में तुलना करके जांच की जाती है। प्रत्येक न्यादर्श या चयन एक दी हुई आयु तथा विकास क्रम का प्रतिनिधित्व करता है। सन् १९५७ में टैम्पलिन ने बालकों के भाषा विकास का अध्ययन करने के लिए ३, ३½, ४, ४½, ५, ६, ७ और ८ वर्ष के आयु स्तरों

में प्रत्येक आयु स्तर के ६० बालकों का चयन किया। इन बालकों के अध्ययन से उनकी शब्द उच्चारण करने की योग्यता, शब्दों में भेद करने की योग्यता, शब्दों के विभिन्न अर्थ समझने की योग्यता, वाक्य रचना तथा शब्द-भण्डार के सम्बन्ध में अन्वेषण कार्य किया। इस प्रकार विभिन्न आयु-स्तरों तथा विकास-क्रमों के आधार पर उसने क्षैतिज काट विधि द्वारा बालकों के भाषा-विकास क्रम का अध्ययन किया।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि द्वारा अल्प समय में अनुसन्धानकर्त्ता किसी बालक या व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन में घटित होने वाले विकासात्मक परिवर्तनों का अध्ययन कर सकता है।

(२) विभिन्न आयु-स्तरों के बालकों का तुलनात्मक अध्ययन करके उनके विकासात्मक परिवर्तनों का वह पता लगाता है।

सीमाएँ :—

(१) प्रत्येक आयु-स्तर पर पाई जाने वाली विभिन्नताओं के विषय में यह विधि ठीक जानकारी नहीं दे सकती।

(२) व्यक्तित्व के विचलनों के विभिन्न कारकों के सम्बन्ध में भी यह विधि यथार्थ मार्गदर्शन नहीं कर सकती।

(३) विशिष्ट बालकों के अध्ययन के विषय में यह विधि उपयुक्त नहीं है, क्योंकि विभिन्न बालकों की विभिन्न आयु में पाये जाने वाले व्यवहारों में भिन्न-भिन्न प्रतिमान पाये जाते हैं।

(४) इस विधि में व्यक्ति की व्यक्तिकता तथा पूर्णता प्राय: समाप्त हो जाती है।

(५) इस विधि में विकासात्मक अविच्छिन्नता या सततता का ह्रास होता है।

(१४) अनुभववर्य अथवा आवधिक विधि (लांगीट्यूडनल मेथड)

इस विधि में एक ही समूह के बालकों का अध्ययन, परीक्षण और निरीक्षण बार-बार लम्बे समय तक किया जाता है। इस विधि में बालक के जीवन का समय बीतने पर या उसकी आयु बढ़ने पर क्या-क्या विकास-क्रम तथा परिवर्तन होते हैं, इसका अध्ययन किया जाता है। यह विधि क्षैतिज काट विधि के ठीक विपरीत है। बालक की आयु के अतिरिक्त वातावरण के परिवर्तन तथा पालन-पोषण के प्रभाव बालक के विकास को प्रभावित करते हैं। इस विधि द्वारा इन सब बातों का पता लगाया जाता है। कार्ले ने जन्म से लेकर २ वर्ष की आयु के शिशुओं पर क्रियात्मक, बौद्धिक तथा व्यक्तित्व के विकास को जानने के लिए इस विधि का परीक्षण

इस प्रकार किया। पहिले सप्ताह में शिशुओं की अस्पताल में प्रतिदिन परीक्षा की गई और दूसरे सप्ताह में एक दिन छोड़कर परीक्षा ली गई। इसके पश्चात् पूरे एक वर्ष में एक सप्ताह के अन्तर में उनकी घरों पर परीक्षा की गई। दूसरे वर्ष में यह अन्तर बढा दिया गया। अब दो सप्ताह के अन्तर में उनकी परीक्षा ली गई। इस पूरे समय में शिशुओं की प्रतिक्रियाओं के विवरणात्मक तथा गुणात्मक पक्ष का भी अङ्कन किया गया और गामक, बौद्धिक तथा व्यक्तित्व के विकास-क्रम तथा परिवर्तनों को नोट किया गया। इसी के बीच में शिशुओं की माताओं ने अपने विवरण प्रस्तुत किये। इन सब के आधार पर निष्कर्ष निकाले गये। दूसरे तरीके से भी इस विधि का उपयोग किया जाता है। अधिक बालकों पर अधिक लम्बे काल तक इस विधि द्वारा विकास-क्रम का अध्ययन किया जाता है। लम्बवत् विधि से ४ वर्ष से लेकर १० वर्ष के बालकों की तार्किक योग्यता तथा प्रत्यक्ष निर्माण के विकास के अध्ययन में अनुसंधानकर्ता बालकों को एक समूह में एकत्र करता है और उनका उचित परीक्षण करता है। जब वे ४ वर्ष के होते हैं तो पहिला परीक्षण ६ महीने या साल के अन्तर में किया जाता है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि द्वारा न्यादर्श की त्रुटियों का निराकरण हो जाता है।
(२) जब अधिक न्यादर्शों या विभिन्न आयु-स्तरों का प्रतिनिधित्व करने के लिये उपयोग किया जाता है तो दल सच्चे प्रतिनिधि माने जाते हैं। इस तरह इसके द्वारा न्यादर्श की समस्या नहीं उठने पाती।
(३) विकास में व्यक्तिगत उन्मुखता लम्बवत् ही हुआ करती है अतः उसकी यथार्थ जानकारी के लिये लम्बवत् विधि ही उपयुक्त ठहरती है कारण कि बार-बार परीक्षण लेना पड़ता है।
(४) यदि हम उन्हीं व्यक्तियों के विभिन्न आयु-स्तरों में लम्बवत् विधि से परीक्षण लेते हैं तो हम उनके व्यक्तित्व तथा बुद्धि का निष्पादन स्थायी स्थिर या अस्थिर रहता है इसे अच्छी तरह जान सकते हैं।
(५) हम प्रारम्भिक अनुभवों के गुप्त या विलम्बित प्रभावों का इस विधि द्वारा अच्छी तरह मूल्याङ्कन कर सकते हैं।

सीमाएँ :—

(१) इस विधि के प्रयोग में अधिक व्यक्तियों को जुटाना पड़ता है और लम्बे समय तक लगातार परीक्षण करना पड़ता है तथा अनुसंधान अधिक समय तक जारी रखना पड़ता है। इन सब कारणों से खर्च ज्यादा बैठता है और समय ज्यादा लगता है।

(१५) विविक्तता विधि (आइसोलेशन मेथड)

इस विधि में बच्चों को जन्म के पश्चात् सयानों से अलग कर दिया जाता है और फिर इनके स्वाभाविक विकास का अध्ययन किया जाता है। डेनिस ने मानव शिशुओं पर इस विधि का अधिक प्रयोग किया है। इस विधि का अन्य तरीके से भी प्रयोग किया जाता है। इस विधि में एक वर्ग को कुछ परिस्थिति का अनुभव करने का मौका दिया जाता है और दूसरे वर्ग को यह अवसर नहीं दिया जाता। फिर दोनों वर्गों की मानव विकास में अनुभव के स्वभाव का परीक्षण लेने के लिए तुलना की जाती है। समान गुण वाले अनेक बच्चों के दो वर्ग बना लिये जाते हैं। एक वर्ग को कार्य विशेष का प्रशिक्षण दिया जाता है और दूसरे वर्ग को कुछ प्रशिक्षण नहीं दिया जाता। फिर निश्चित समय के पश्चात् दोनों वर्गों का तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रशिक्षण का महत्व जाना जाता है।

इस विधि के गुण :—

(१) इस विधि द्वारा मानव विकास सम्बन्धी उपयोगी तथा महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त की जाती हैं।

सीमाएँ :—

(१) इसमें एक वर्ग को हानि उठानी पड़ती है।
(२) बहुत से प्रभाव जो विवक्त किये जाते हैं व्यक्ति की आयु बढ़ने पर क्षीण हो जाते हैं।
(३) इस विधि का प्रयोग व्यक्ति के जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही किया जाता है।

(१६) समभज नियंत्रण विधि (कोट्विन कन्ट्रोल मैथड)

इस विधि का सबसे पहले प्रयोग गैसेल और थामसन ने परिपक्वीकरण और प्रशिक्षण के सापेक्ष महत्व को जानने के लिए किया था। यह प्रयोग दो जुड़वाँ लड़कियों पर किया गया उनमें से पहली लड़की को जो ४६ सप्ताह की थी ५२ सप्ताह की आयु तक सीढ़ी पर चढ़ने के लिए प्रशिक्षित किया गया और दूसरी लड़की को उस समय तक नियंत्रण में रखा गया। जब दोनों लड़कियों को सीढ़ी पर चढ़ने के लिए कहा गया तो अनियंत्रित या प्रशिक्षित लड़की २६ सैकंड में सीढ़ी पर चढ़ गई जबकि दूसरी नियंत्रित लड़की ४५ सैकंड में उस सीढ़ी पर चढ़ पाई। अब इसके पश्चात् अगले सप्ताह के प्रारम्भ से ही नियंत्रित लड़की को दो सप्ताह तक सीढ़ी पर चढ़ने का प्रशिक्षण दिया गया और वह लड़की ५५ वें सप्ताह में १० सैकंड में सीढ़ी चढ़ गई। इस प्रयोग से उक्त मनोवैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि नियंत्रित लड़की का १० सैकंड में सीढ़ी पर चढ़ने का कारण परिपक्वीकरण था।

इसी तरह जुड़वें बच्चे में से किसी एक को किसी काम का प्रशिक्षण दिया जाता है और दूसरे को नहीं। निश्चित अवधि के पश्चात् अप्रशिक्षित बालक के साथ प्रशिक्षित बालक का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और इसके आधार पर प्रशिक्षण का सापेक्ष महत्व जाना जाता है। इस विधि का उपयोग व्यक्ति पर वंशानुक्रम का प्रभाव जानने के लिए भी किया जाता है।

इस विधि का दूसरा उपयोग भी इस प्रकार किया जाता है। सामान्य जुड़वें बालकों का परीक्षण किया जाता है और उनके वातावरण पर नियंत्रित रखने का प्रयास नहीं किया जाता। दोनों अलग-अलग वातावरण में पाले जाते हैं। तब उनके कुछ शीलगुण, योग्यता या मनोदशा की तुलना की जाती है। तब यदि जुड़वें बच्चे उन व्यक्तियों की अपेक्षा जो सामान्य वातावरण में रहते हैं परन्तु उनमें वंशानुगत समानता का अभाव रहता है, अधिक समानता दर्शाते हैं, तो इस से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जुड़वें बच्चों की अति अधिक समानता का रहना वंश परम्परा के तट पर निर्भर है। इस शोध से इस बात का भी पता लगता है कि बौद्धिक क्षमता के निर्माण में वंशानुक्रम का बहुत महत्वपूर्ण हाथ रहता है।

इस विधि के गुण :—

(१) यह विधि बहुत महत्वपूर्ण है और वह यह दर्शाती है कि बालक या व्यक्ति के व्यवहारात्मक शील-गुणों तथा क्षमताओं के विकास में वंशानुक्रम तथा वातावरण का पारस्परिक महत्व रहता है।

सीमायें :—

(१) इसमें न्यादर्श संबंधी सीमितता है।

(२) अनुसंधान कर्त्ता को समान आयु तथा विकास क्रम के जुड़वें बालकों के मिलने में कठिनाई होती है।

(३) यदि परीक्षण में बड़ी आयु के जुड़वें बालकों का उपयोग लिया जाता है, तो एक समस्या यह उत्पन्न हो जाती है कि उनकी व्यक्तिगत आदतें, शीलगुण और इच्छाओं आदि का प्रभाव उसके परिणाम पर पड़ता है। ऐसी दशा में विश्वसनीय निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। इस प्रकार यह विधि अव्यवहारिक साबित होती है।

(१७) पुनर्परीक्षण विधि (रिइक्जामनेशन मेथड)

विकास-क्रम का अध्ययन करने के लिए इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि द्वारा किसी व्यक्ति का भिन्न भिन्न आयु स्तरों पर अध्ययन किया जाता है। जैसे सर्व प्रथम शिशु का शारीरिक तथा मानसिक विकास सम्बन्धी अध्ययन किया जाता है। जब वह बालक हो जाता है, तब उसका पुनर्परीक्षण किया जाता है।

फिर तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह परिणाम निकाला जाता है कि अमुक अवधि में कितना शारीरिक या मानसिक विकास हो पाया है। इसी प्रकार उसकी उत्तर बाल्यावस्था तथा उत्तर किशोरावस्था की तुलना करके विकास सम्बन्धी अन्तर को जाना जा सकता है और इसके आधार पर उचित निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

(१८) सामूहिक अध्ययन विधि (ग्रुप स्टडी मेथड)

मानव विकास के अध्ययन के लिए बालकों के एक समूह को ले लिया जाता है। इस समूह में विभिन्न आयु-स्तरों के बालक होते हैं और उनकी आपस में शारीरिक एवं मानसिक विकास की तुलना करके इस बात का पता लगाया जाता है कि विभिन्न आयु-स्तरों के बच्चों के विकास-क्रम में क्या अन्तर रहता है। जैसा कि देखा गया है कि शारीरिक विकास की दृष्टि से एक वर्ष का बच्चा खड़ा होने लगता है और एक डेढ़ वर्ष का बालक चलने लगता है। इसी प्रकार मानसिक दृष्टि से छोटी आयु का बालक एक शब्द के उच्चारण द्वारा ही अनेक भाव व्यक्त करता है और उससे आयु में बड़ा बच्चा पूरे वाक्यों के उपयोग द्वारा अपने विचार या भाव व्यक्त करता है। इस प्रकार अन्य प्रकार के परिवर्तनों का इस विधि द्वारा अध्ययन किया जाता है। इस विधि द्वारा विभिन्न आयु-स्तरों के बालकों के संवेगात्मक विकास का भी अध्ययन किया जाता है। जैसे एक वर्ष की आयु के बालक में क्रोध, भय और प्रेम आदि भावों का विकास इतना नहीं होने पाता जितना कि पाँच वर्ष के बालक में होने लगता है। इसी प्रकार इन्हीं प्रतिमानों द्वारा बच्चे में विकास-क्रम का अध्ययन किया जाता है और उचित निष्कर्ष निकाले जाते हैं। मानव-विकास क्रम के परिवर्तनों में व्यक्तिगत विभिन्नताओं के अतिरिक्त परिपक्वीकरण, अभ्यास, प्रशिक्षण और अनुभव आदि तत्वों के प्रभाव पड़ते हैं।

(१९) क्षेत्रीय अध्ययन विधि (फील्ड स्टडी)

मानव विकास के अध्ययन के लिए यह विधि अपनाई जाती है। जन समूह के एक या दो न्यादर्शो को लेकर विकासक्रम की सूचना एकत्र की जाती है। व्यक्तिगत इतिहास विधि के समान क्षेत्रीय अध्ययन में घटना विशेष की परिस्थिति को नियंत्रण में रखने के लिए कोई प्रयास नहीं किया जाता। अध्ययन किये जाने वाले जन समूहों के आयु-स्तर, लिङ्ग-भेद, सामाजिक-सम्बन्ध या विशेषताओं का कुछ समूह से सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए यह प्रश्न है कि उच्चतर माध्यमिक शाला के छात्रों की व्यावसायिक महत्वाकांक्षायें किस प्रकार हाथ में ली हुई शोध की स्थितियों से मेल खाती हैं। उच्चतर माध्यमिक शाला के छात्रों के व्यक्त अधिमानों की

इसी तरह जुड़वें बच्चे में से किसीं एक को किसी काम का प्रशिक्षण दिया जाता है और दूसरे को नहीं। निश्चित अवधि के पश्चात् अप्रशिक्षित बालक के साथ प्रशिक्षित बालक का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और इसके आधार पर प्रशिक्षण का सापेक्ष महत्व जाना जाता है। इस विधि का उपयोग व्यक्ति पर वंशानुक्रम का प्रभाव जानने के लिए भी किया जाता है।

इस विधि का दूसरा उपयोग भी इस प्रकार किया जाता है। सामान्य जुड़वें बालकों का परीक्षण किया जाता है और उनके वातावरण पर नियंत्रित रखने का प्रयास नहीं किया जाता। दोनों अलग-अलग वातावरण में पाले जाते हैं। तब उनके कुछ शीलगुण, योग्यता या मनोदशा की तुलना की जाती है। तब यदि जुड़वें बच्चे उन व्यक्तियों की अपेक्षा जो सामान्य वातावरण में रहते हैं परन्तु उनमें वंशानुगत समानता का अभाव रहता है, अधिक समानता दर्शाते हैं, तो इस से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जुड़वें बच्चों की अति अधिक समानता का रहना वंश परम्परा के तट पर निर्भर है। इस शोध से इस बात का भीं पता लगता है कि बौद्धिक क्षमता के निर्माण में वंशानुक्रम का बहुत महत्वपूर्ण हाथ रहता है।

इस विधि के गुण :—

(१) यह विधि बहुत महत्वपूर्ण है और वह यह दर्शाती है कि बालक या व्यक्ति के व्यवहारात्मक शील-गुणों तथा क्षमताओं के विकास में वंशानुक्रम तथा वातावरण का पारस्परिक महत्व रहता है।

सीमायें :—

(१) इसमें न्यादर्श संबंधी सीमितता है।
(२) अनुसंधान कर्त्ता को समान आयु तथा विकास क्रम के जुड़वें बालकों के मिलने में कठिनाई होती है।
(३) यदि परीक्षण में बड़ी आयु के जुड़वें बालकों का उपयोग लिया जाता है, तो एक समस्या यह उत्पन्न हो जाती है कि उनकी व्यक्तिगत आदतें, शीलगुण और इच्छाओं आदि का प्रभाव उसके परिणाम पर पड़ता है। ऐसी दशा में विश्वसनीय निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। इस प्रकार यह विधि अव्यवहारिक साबित होती है।

(१७) पुनर्परीक्षण विधि (रिइक्जामनेशन मेथड)

विकास-क्रम का अध्ययन करने के लिए इस विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि द्वारा किसी व्यक्ति का भिन्न भिन्न आयु स्तरों पर अध्ययन किया जाता है। जैसे सर्व प्रथम शिशु का शारीरिक तथा मानसिक विकास सम्बन्धी अध्ययन किया जाता है। जब वह बालक हो जाता है, तब उसका पुनर्परीक्षण किया जाता है।

फिर तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह परिणाम निकाला जाता है कि अमुक अवधि में कितना शारीरिक या मानसिक विकास हो पाया है। इसी प्रकार उसकी उत्तर बाल्यावस्था तथा उत्तर किशोरावस्था की तुलना करके विकास सम्बन्धी अन्तर को जाना जा सकता है और इसके आधार पर उचित निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

(१८) सामूहिक अध्ययन विधि (ग्रुप स्टडी मेथड)

मानव विकास के अध्ययन के लिए बालकों के एक समूह को ले लिया जाता है। इस समूह में विभिन्न आयु-स्तरों के बालक होते हैं और उनकी आपस में शारीरिक एवं मानसिक विकास की तुलना करके इस बात का पता लगाया जाता है कि विभिन्न आयु-स्तरों के बच्चों के विकास-क्रम में क्या अन्तर रहता है। जैसा कि देखा गया है कि शारीरिक विकास की दृष्टि से एक वर्ष का बच्चा खड़ा होने लगता है और एक डेढ़ वर्ष का बालक चलने लगता है। इसी प्रकार मानसिक दृष्टि से छोटी आयु का बालक एक शब्द के उच्चारण द्वारा ही अनेक भाव व्यक्त करता है और उससे आयु में बड़ा बच्चा पूरे वाक्यों के उपयोग द्वारा अपने विचार या भाव व्यक्त करता है। इस प्रकार अन्य प्रकार के परिवर्तनों का इस विधि द्वारा अध्ययन किया जाता है। इस विधि द्वारा विभिन्न आयु-स्तरों के बालकों के संवेगात्मक विकास का भी अध्ययन किया जाता है। जैसे एक वर्ष की आयु के बालक में क्रोध, भय और प्रेम आदि भावों का विकास इतना नहीं होने पाता जितना कि पाँच वर्ष के बालक में होने लगता है। इसी प्रकार इन्हीं प्रतिमानों द्वारा बच्चे में विकास-क्रम का अध्ययन किया जाता है और उचित निष्कर्ष निकाले जाते हैं। मानव-विकास क्रम के परिवर्तनों में व्यक्तिगत विभिन्नताओं के अतिरिक्त परिपक्वीकरण, अभ्यास, प्रशिक्षण और अनुभव आदि तत्वों के प्रभाव पड़ते हैं।

(१९) क्षेत्रीय अध्ययन विधि (फील्ड स्टडी)

मानव विकास के अध्ययन के लिए यह विधि अपनाई जाती है। जन समूह के एक या दो न्यादर्शों को लेकर विकासक्रम की सूचना एकत्र की जाती है। व्यक्तिगत इतिहास विधि के समान क्षेत्रीय अध्ययन में घटना विशेष की परिस्थिति को नियंत्रण में रखने के लिए कोई प्रयास नहीं किया जाता। अध्ययन किये जाने वाले जन समूहों के आयु-स्तर, लिङ्ग-भेद, सामाजिक-सम्बन्ध या विशेषताओं का कुछ समूह से सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए यह प्रश्न है कि उच्चतर माध्यमिक शाला के छात्रों की व्यावसायिक महत्वाकांक्षायें किस प्रकार हाथ में ली हुई शोध की स्थितियों से मेल खाती हैं। उच्चतर माध्यमिक शाला के छात्रों के व्यक्त अभिमानों की

आवृत्ति-संख्या गिनती करके तथा इस प्रकार के क्षेत्रों में नियुक्त व्यक्तियों की सापेक्ष आवृत्ति-संख्या की गणना करके यह अनुमान लगाना सम्भव है कि किशोरों की महत्त्वाकांक्षायें किस प्रकार वास्तविक होती हैं। क्षेत्रीय अध्ययन में अन्य विधियां जैसे—प्रश्नावली, साक्षात्कार, परीक्षण, सम्य व्यवहार, न्यादर्श भी काम में लाई जाती हैं।

इस विधि के गुण :—

(१) व्यक्तिगत इतिहास विधि के लाभ इस विधि में पाये जाते हैं।

(२) यह विधि अनुसंधान कर्त्ता को इस योग्य बनाती है कि सापेक्ष रूप से कम समय में अधिक विषयों के विशाल समूह या क्षेत्र से अधिक प्रदत्तों को एकत्र किया जाता है।

सीमायें :—

(१) इस विधि में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा एकत्र किया हुआ प्रदत्त कुछ सीमित रहता है।

(२) इस विधि में व्यक्ति के अतीत के अनुभव के अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण तत्व उपेक्षित हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-विकास के क्रमों तथा परिवर्तनों के अध्ययन के लिए उपरोक्त विधियाँ काम में लाई जाती हैं।

विकास मनोविज्ञान के उद्देश्य

मनोविज्ञानिकों ने विकास-मनोविज्ञान के अनेक उद्देश्य दर्शाये हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं :—

१. **वयस्क जीवन का ज्ञान.** विकास-मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि हम उसके ज्ञान तथा अध्ययन द्वारा वयस्कों के जीवन को अच्छी तरह से ताक और झांक सकते हैं। दूसरे मानव-विकास के प्रारम्भिक विभिन्न प्रकार के पहलुओं को बिना समझे-बूझे हम वयस्क के जीवन की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक, तथा नैतिक जटिलताओं को अच्छी तरह नहीं समझ सकते जिसके परिणाम स्वरूप हम भारी और भद्दी मनोवैज्ञानिक भूल कर सकते हैं और व्यक्तित्व-निर्माण के स्थान में उसका विघटन कर सकते हैं।

२. **पूर्व कथन.** व्यक्ति के विकास में एक निश्चित क्रम हुआ करता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका शारीरिक, गामक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक तथा नैतिक विकास होता है। अतः इस मनोविज्ञान के विकास के द्वारा इस विकास का पूर्व कथन किया जा सकता है। साथ ही हम विभिन्न व्यक्तियों की रुचियों, प्रवृत्तियों,

मनोवृत्तियों तथा उनकी शारीरिक एवं बौद्धिक आदि क्षमताओं का अवलोकन करके उनका पूर्व कथन कर सकते हैं।

३. निर्देशन. उचित निर्देशन ऐसा माध्यम है कि जिसके द्वारा बालक या व्यक्ति के जीवन में संतुलन एवं व्यवस्था का उद्रेक होता है। इसके अभाव में बालक का जीवन अस्त-व्यस्त रहता है और वह अपनी योग्यताओं और क्षमताओं का उचित विकास नहीं कर पाता। विकास-मनोविज्ञान बालक के विकास में उचित मार्ग-निर्देशन करता है, जिसके फलस्वरूप उसका व्यक्तित्व विघटित नहीं होने पाता। इस प्रकार उक्त मनोविज्ञान शैक्षिक तथा व्यावसायिक निर्देशन द्वारा बाल-विकास में उचित योगदान देता है।

४. परीक्षण. मनोवैज्ञानिकों द्वारा विभिन्न परीक्षणों के आधार पर विभिन्न आयु-स्तरों के बालकों की अभिरुचियों, प्रवृत्तियों तथा योग्यताओं का पता लगाया जाता है। तथा उसके विकास-क्रम और परिवर्तनों की भी जानकारी प्राप्त की जाती है। अतः इन परीक्षणों द्वारा बाल-विकास का उचित निर्देशन होता है और व्यक्तित्व-निर्माण में भारी सहायता मिलती है।

५. नियंत्रण. बालक या व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में वंश-परम्परा तथा वातावरण का प्रभाव परिलक्षित होता है। विभिन्न बालकों में व्यवहारों की विभिन्नतायें वातावरण की विभिन्नताओं के कारण होती हैं। अतः बालक-बालिकाओं के चरित्र-सद्गुणों, सुरुचियों तथा अच्छी योग्यताओं के उचित विकास के लिए वातावरण को नियंत्रित करने की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार विकास-मनोविज्ञान का पाँचवां उद्देश्य वातावरण का नियंत्रण है।

विकास मनोविज्ञान का महत्व एवं उपयोगिता

(१) विकास मनोविज्ञान के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि बालक के संतुलित व्यक्तित्व के विकास के लिए माता-पिता के संतुलित स्नेह की नितान्त आवश्यकता है। अन्यथा इसके अभाव में उसके व्यक्तित्व में अनेक प्रकार की विकृत्तियाँ उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

(२) बालकों की उचित शिक्षा उसकी रुचियों, क्षमताओं, आवश्यकताओं, प्रेरणाओं तथा अनुभवों पर आधारित रहती है। और इसका ज्ञान विकास-मनोविज्ञान से ही सम्भव है।

(३) विकास-मनोविज्ञान का अध्ययन यह दर्शाता है कि खेलों का बालक के व्यक्तित्व विकास में महान योगदान रहता है।

(४) फ्रायड के मतानुसार व्यक्ति को जो कुछ आगे बनना है वह शुरू के चार पाँच वर्षों के अन्दर ही बन जाता है। और इसका बीजारोपण शैशवावस्था से हो जाता है। एडलर के अनुसार शैशवावस्था के द्वारा मानव जीवन का पूरा क्रम निश्चित होता है। अतः इस अवस्था में उचित निर्देशन और नियंत्रण की आवश्यकता है जो कि विकास-मनोविज्ञान के ज्ञान तथा अध्ययन से ही संभव है। आगे चलकर कथन है कि व्यक्तित्व के विकास में बच्चे के जन्म-क्रम का विशेष हाथ रहता है।

(५) हाव का कथन है कि व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम तथा वातावरण अपना विशेष प्रभाव डालता है। विकास-मनोविज्ञान यह बात सिद्ध करता है कि व्यक्तित्व के विकास में दोनों का अन्योन्य योगदान रहता है।

(६) आल्फ्रेड बाल्डविन के कथनानुसार बालकों का अच्छा ज्ञान और उनका विकास मानव कल्याण के लिए आवश्यक होता है। साथ ही बालकों को अच्छी तरह समझना तथा मानवीय व्यवहार के सिद्धांतों का सही मूल्यांकन करना विकास-मनोविज्ञान द्वारा ही संभव है। मानव कल्याण के लिए बालकों का अध्ययन मानसिक स्वास्थ्य के लिये भी आवश्यक है जिससे बाल अवस्था का महत्व प्रकट होता है।

(७) विकास मनोविज्ञान के अध्ययन से पता चलता है कि उसके अंतर्गत प्रशिक्षण, भाषा या चिंतन विकास आदि का शिक्षा की समस्याओं के समाधान में उपयोग लिया जाता है। ऐसा भी देखा जाता है कि सामाजिक तथा राजनैतिक अभिवृत्तियाँ बाल-काल में ही विकसित और परिपुष्ट हो जाती हैं। भावी पीढ़ियों की पारिवारिक स्थिरता अन्तर्वैयक्तिक समाकलन और समायोजन के प्रारूपों पर निर्भर रहती है। बाल-विकास मनोविज्ञान की अंतिम समस्या है। बाल विकास के ज्ञान से ही पशु विकास को अच्छी तरह से समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त आयु-स्तरों पर शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक तथा नैतिक क्षेत्रों में विभिन्नतायें तथा विशेषतायें विकास-मनोविज्ञान द्वारा ही यथार्थ रूप में जानी जातीहैं।

(८) व्यक्ति का शारीरिक, गामक, मानसिक, संवेगात्मक सामाजिक तथा नैतिक विकास किस प्रकार होता है इसका ज्ञान विकास-मनोविज्ञान द्वारा ही सम्भव है। इसके ज्ञान और अध्ययन के आधार पर माता-पिता अभिभावक और शिक्षक बालक की उचित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करके वे बालक के सर्वाङ्गीण विकास को सरलता से कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विकास-मनोविज्ञान का अध्ययन मानव कल्याण तथा उसके उचित विकास के लिए नितान्त आवश्यक है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. विकास मनोविज्ञान किसे कहते हैं ?
२. विकास मनोविज्ञान के अर्थ एवं स्वरूप की विवेचना कीजिए।

३. विकास मनोविज्ञान का विषय विस्तार क्या है ?
४. विकास मनोविज्ञान के ऐतिहासिक विकास पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ।
५. विकास मनोविज्ञान की कतिपय प्रमुख विधियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।
६. विकास मनोविज्ञान की प्रमुख विधियों के गुण दोषों की विवेचना कीजिए ।
७. क्षैतिज काट विधि और लम्बवत् विधि का अंतर स्पष्ट कीजिए ।
८. विकास मनोविज्ञान के उद्देश्य तथा प्रयोजन क्या हैं उनकी विवेचना कीजिए ।
९. विकास मनोविज्ञान का अध्ययन शिक्षक के लिये क्यों आवश्यक है ?
१०. विकास मनोविज्ञान की उपयोगिता एवं महत्व की विवेचना कीजिए ।
११. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—
(अ) प्रक्षेपण विधि या मनोविश्लेपणात्मक विधि ।
(ब) प्रयोगात्मक विधि ।
(स) परिगणन विधि ।

अध्याय २

विकास का अर्थ एवं विकास को प्रभावित करने वाले तत्व

इंगलिश और इंगलिश के मतानुसार विकास शरीर-व्यवस्था में एक लम्बे समय से होने वाले सतत परिवर्तन का एक अनुक्रम है। विशेपतया प्राणी में इस प्रकार परिवर्तन अथवा सम्बन्धित और स्थायी विशेप परिवर्तन उसके जन्म से लेकर परिपक्वावस्था तथा मृत्यु-पर्यन्त होते रहते हैं।[1] पाल० एच० मुसेन का कथन है कि विकास एक निरंतर होने वाली प्रक्रिया है जो गर्भावस्था से प्रारम्भ होकर परिपक्वावस्था तक जारी रहती है।[2] ईरा० जी० गोर्डन के कथनानुसार विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो कि व्यक्ति के जन्म से लेकर उस समय तक जारी रहती है जब तक वह पूर्ण विकास को नहीं प्राप्त होता।[3] ई० वी० हरलाक के अनुसार विकास प्रगतिशील परिवर्तनों का एक नियमित क्रमिक तथा सुसंवद्ध क्रम है जो कि परिपक्वता की प्राप्ति की ओर निर्देशित रहता है। यह आकस्मिक नहीं होता, वलिक इसमें प्रत्येक अवस्था आगामी विकासात्मक क्रम के बीच निश्चित सुसम्बन्ध रहती है।[4] गैसेल के अनुसार विकास एक प्रकार का परिवर्तन है जिसके द्वारा बच्चों में नई विशेपताओं तथा क्षमताओं का प्रादुर्भाव होता है। हेरिस के शब्दों में विकास जीवित प्राणी की संगम की जटिलता की दिशा में एक समयानुसार गतिक्रम है। पीकूनस और अलब्रेच के अनुसार विकास एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चे या व्यक्ति की क्षमताओं का प्रस्फुटन होता है। और उसमें नई योग्यताओं में, नये कौशल, गुणों और विशेपताओं का समावेश होता है। साथ ही उसमें मानव प्राणी की विवृद्धि, ऊँचे दर्जे की विभिन्नता, जटिलता, कुशलता, उसकी शिराओं

१. इंगलिश एंड इंगलिश, "काम्प्रीहेन्सिव डिक्शनरी आफ् साइकालाजिकल एंड साइकोएनालिटिकल टर्मस्"।

२. पाल० एच० मुसेन, "दि साइकालाजिकल डेवलपमेन्ट आफ् दि चाइल्ड", प्रेन्टिस हाल, न्यू जर्सी, १९६३, पृ० १०-११।

३. इरा० जी० गोर्डन, "ह्यूमन डेवलपमेन्ट", हार्पर ब्रदर्स, न्यूयार्क, १९६२, पृ० ११।

४. ई० वी० हर्लाक, "डेवलपमेन्टल साइकालाजी", मेकग्राहिल बुक कम्पनी, न्यूयार्क, १९६८।

तथा संरचनात्मक संस्थाओं का अपचय, परिपक्वीकरण तथा उनके कार्यात्मक एवं अनुकलनात्मक योग्यता के अपक्षय अंतर्निहित रहता है।[1] इस प्रकार विकास का वास्तविक अर्थ व्यक्ति की प्रतिक्रिया के प्रतिरूप का अनुक्रमिक परिवर्तन है। एम० ई० ब्रेकनरिज तथा ई० ली० विनसेंट के मतानुसार विकास व्यक्ति की क्षमताओं का अनुक्रमिक आविर्भाव और प्रसार है जो कि उसे अनुक्रमात्मक रूप में कार्य करने की सुगमता प्रदान करता है। यह विकास व्यक्ति और उसके वातावरण के बीच गत्यात्मक सम्बन्ध द्वारा संभव होता है। और इस प्रकार बालक और वातावरण के बीच निरन्तर अन्योन्य-क्रिया अनेक और जटिल परिवर्तनों को जन्म देती है और इसे ही विकास कहा जाता है। आगे चलकर उनका कहना है कि विकास या विवृद्धि परिपक्वीकरण तथा सीखने की प्रक्रियाओं द्वारा उपलब्ध होती है। अतः विकास के यथार्थ अर्थ को समझने के लिए विवृद्धि, अपचय, परिपक्वीकरण और सीखने की प्रक्रियाओं को समझना आवश्यक है।

विकास और विवृद्धि, परिपक्वीकरण तथा सीखने में अन्तर

विकास का अर्थ वातावरण के प्रभावों के कारण होने वाले परिवर्तन हैं। विवृद्धि का तात्पर्य शारीरिक शिराओं, अवयवों तथा संस्थानों का वृद्धि को प्राप्त होना है तथा उनके आकार और परिमाण में परिवर्तन होना है। इसमें बालक की कार्यक्षमता बढ़ती है और लम्बाई चौड़ाई तथा मुटाई आदि में परिवर्तन होता है। वास्तव में विवृद्धि का अर्थ आकार का बढ़ना है। उस बढ़ने में शरीर की लम्बाई चौड़ाई, ऊँचाई के साथ-साथ शरीर के बाहरी अंग जैसे सिर, धड़, पैर के अतिरिक्त अंग हृदय और मस्तिष्क आदि का बढ़ना भी सम्मिलित रहता है। दूसरे शब्दों में विकास शरीर तथा मन के सभी अंग प्रत्यंगों का सभी दिशाओं में होने वाला परिवर्तन है जबकि विवृद्धि किसी एक दिशा की ओर होने वाला परिवर्तन है। जी० ए० हेडफील्ड के शब्दों में विकास रूप व आकार में परिवर्तन है तो विवृद्धि आकार का बढ़ना है।

विकास और परिपक्वीकरण में अन्तर

जन्म के पूर्व से लेकर जन्म के पश्चात् प्रौढ़ावस्था तक विकास में एक क्रम रहता है। इस विकास क्रम में शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, नैतिक पक्षों में जो कुछ प्रगतिशील परिवर्तन होते हैं उसे विकास कहा जाता है। यह परिवर्तन क्रमबद्ध रूप में होता है। इस परिवर्तन का लक्ष्य परिपक्वता का प्राप्त

१. जस्टिन पिक्नस, "ह्यमन डेवलपमेन्ट", मेकग्राहिल बुक कम्पनी, न्यू यार्क, १९६९।

करना होता है अर्थात् यह परिवर्तन परिपक्वीकरण की ओर उन्मुख रहता है। विकास प्रधानता परिपक्वीकरण तथा सीखने पर निर्भर रहता है। दोनों की परस्पर क्रियाओं के कारण अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं।

परिपक्वीकरण और सीखना

बालक के जन्म के पूर्व विकास क्रम मे परिपक्वीकरण का अधिक हाथ रहता है। जन्म के पश्चात् अभ्यास और सीखने का चाव रहता है। बिना परिपक्वीकरण के सीखना संभव नहीं होता। जैसे तीन महीने के शिशु को यदि लिखना सिखाया जाये तो वह उसे कभी नहीं सीख सकता, कारण कि उस समय तक उसकी शारीरिक, गामक तथा मानसिक शक्तियों का परिपक्वीकरण नही होने पाता है। इस लिए सीखने के लिए परिपक्वीकरण का होना जरूरी है।

परिपक्वीकरण और अनुभव

तत्परता, अनुभव तथा परिपक्वीकरण प्रायः पारस्परिक होते हैं। परिपक्वीकरण सम्बन्धी तत्व और वातावरण सम्बन्धी प्रभाव एक दूसरे को सतत रूप में प्रभावित करते रहते हैं। यद्यपि मेढक का बच्चा बिना पूर्व अभ्यास के पानी में तैरने लगता है, परन्तु अभ्यास और अनुभव द्वारा वह बहुत अधिक तेजी से तैरने के योग्य हो जाता है। इसी प्रकार बालक की शारीरिक विवृद्धि और गामक क्षमताओं की गतियों तथा विकास में ताप सम्बन्धी अन्तर्ग्रहण, अनुभव, जलवायु, पोषाहार, माता की देखरेख आदि का प्रभाव पड़ता है। इनके साथ ही वंश-परम्परागत तत्व भी बालक की विवृद्धि तथा विकास में अपना योगदान देते है। इनके अतिरिक्त अनुभव तथा सीखने के तत्व भी बालक की शारीरिक व मानसिक विवृद्धि तथा विकास मे अपना प्रभाव डालते हैं।

विकास प्रक्रिया सम्बन्धी परिवर्तन

विकास प्रक्रिया मे परिवर्तन सन्निहित रहते हैं। इन परिवर्तनों को सामान्यतः चार वर्गों में बाँटा जा सकता है।

(१) **आकार में परिवर्तन.** हम देखते है कि बालक की आयु बढ़ने के साथ-साथ उसके शरीर के अंग-प्रत्यंगों में बढ़ोत्तरी होती है। उसका सिर, धड़, आँखें, आँतें तथा फेफड़ों का आकार बढ़ता जाता है। इसी तरह उसका मानसिक विकास भी होता है जिसके फलस्वरूप उसकी कल्पना, अवधान, स्मृति तथा चिंतन आदि शक्तियों का विकास होता है और साथ ही उसका शब्द-भण्डार भी बढ़ता जाता है।

(२) **अनुपात में परिवर्तन.** बालक और प्रौढ़ में आनुपातिक अन्तर होता है। बालक प्रौढ़ के अनुपात में अनुभवहीन, तर्कशून्य और अवास्तविक होता है।

परन्तु आयु वृद्धि के साथ-साथ उसमें परिवर्तन होता है और उसकी सूझ-बूझ, रुचि, प्रवृत्ति और दृष्टिकोण आदि में भी परिवर्तन हो जाता है। ६ वर्ष का बालक केवल आकार में ही बड़ा नहीं रहता, बल्कि वह सामान्य रूप में समानुपातिकता और गुण में भी शिशु से भिन्न रहता है।

(३) **पुराने लक्षणों का लोप.** जैसे छोटी आयु में बालक घुटने के बल चलता है, पर बड़ा होने पर पैर के सहारे चलने लगता है और उसका घुटने से चलना बन्द हो जाता है अर्थात् उसका लोप हो जाता है। इसी प्रकार सोचने की क्रिया के साथ बोलने की क्रिया का लोप हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार छाती में स्थित थाईमस ग्रन्थि और मस्तिष्क में स्थित पीनियल ग्रन्थि का बालक की आयु बढ़ने पर लोप हो जाता है।

(४) **नये शील गुणों का अर्जन.** परिपक्वीकरण से बालक में नये गुणों का विकास होता है। शैशवास्था में उसके दाँत उगने लगते हैं और किशोरावस्था में दाढ़ी, मूछें निकलने लगती हैं। इसी तरह जिज्ञासा की प्रवृत्ति की अभिवृद्धि से वह नैतिक मूल्यों तथा धार्मिक बातों में अभिरुचि लेने लगता है और इस प्रकार नये मानसिक गुणों का अर्जन करने लगता है।

विकास क्रम सम्बन्धी सिद्धान्त

विकास-क्रम के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त पाये जाते हैं :

(१) **क्रमिक विकास का सिद्धान्त.** इस सिद्धान्त के मानने वाले मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालक के मन की मानसिक प्रक्रियायें अलग-अलग रूपों में विकसित होती हैं और आगे चलकर वे पूर्णता को प्राप्त कर लेती हैं अर्थात् बालकों का विकास निश्चित सोपानों में होता है। एक सोपान में कुछ विशिष्ट मानसिक शक्तियों तथा गुणों का विकास होकर वह अपनी पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर लेता है। रूसो का शिक्षा सिद्धान्त इस मत को मानकर चलता है। उसके अनुसार बारह वर्ष के पूर्व बालक में तर्कना शक्ति का विकास नहीं हो पाता है।

(२) **समविकास का सिद्धान्त.** इस सिद्धान्त के मानने वालों का कहना है कि मानव की मानसिक शक्तियां क्रम से विकसित न होकर एक साथ विकसित होती हैं।

विकास की गति

यद्यपि विकास गर्भावस्था से लेकर मृत्युपर्यन्त चलता रहता है पर उसकी गति चाहे वह शारीरिक या मानसिक क्यों न हो उसमें उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। बालक

के प्रारम्भ के जीवन में विकास की गति में बहुत तीव्रता रहती है, परन्तु धीरे-धीरे उसमें मन्दता और शिथिलता आती जाती है। जन्म के समय बालक की लम्बाई १६ इंच की तथा किशोरावस्था की लम्बाई के ३/८ होती है। शारीरिक विकास के साथ-साथ उसके मस्तिष्क का भी वजन बढ़ता है। इस विकास की गति को प्रभावित करने वाले अनेक घटक होते हैं। वैसे तो बच्चे के शारीरिक तथा मानसिक विकास की गति उसके जीवकोश की बनावट पर निर्भर रहती है। परन्तु अन्य तत्त्व भी हैं। जैसे : भोजन-छादन, अभ्यास, वातावरण और शिक्षा आदि भी विकास की गति पर अपना प्रभाव डालते हैं। जैसे कि बालक को बचपन में पुष्ट भोजन न मिलने से उसका शारीरिक विकास रुक सा जाता है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मनोवैज्ञानिक वंचनायें भौंडे व्यक्तित्व को जन्म देती हैं। बचपन में स्नेह तथा सुरक्षा का अभाव भी बच्चे के व्यक्तित्व को बिगाड़ता है।

विकास के कारण

मनोवैज्ञानिकों का मत है कि विकास के प्रधानतः दो कारण हैं, एक परिपक्वीकरण और दूसरा सीखना। गैसेल के कथनानुसार स्वसीमित जीवन वृत्त पर काम करते हुए जो उस पर सामूहिक रूप से वंशपरम्परा जीनियों का प्रभाव पड़ता है वही परिपक्वीकरण है या दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते है कि मनुष्य के वंशपरम्परा से प्राप्त कुछ शील-गुण होते हैं जो उसके अन्दर विद्यमान रहते हैं और उन्हीं का प्रकटीकरण या विकास ही परिपक्वीकरण है। देरी से बोलना शुरू करने वाले बालक में जब बोलने के शील-गुण एकाएक प्रकट हो जाते हैं अथवा जब उसमें बोलने की परिपक्वता आ जाती है तब वह उसके कारण बोलने लगता है। इस प्रकार परिपक्वीकरण विकास की एक प्रक्रिया है।

विकास का दूसरा कारण सीखना है। गेटस् के अनुसार अनुभव और शिक्षा द्वारा व्यवहार में परिवर्तन लाना ही सीखना है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वातावरण के साथ संतुलन बनाये रखना या पुराने अनुभव से लाभ उठाना ही सीखना है। अभ्यास, आवृत्ति तथा अनुभव के आधार पर जो विकास होता है वह सीखने के कारण ही होता है। परिपक्वीकरण और सीखना एक दूसरे पर निर्भर है। जैसे जब तक बालक के शारीरिक तथा मानसिक अङ्ग परिपक्व नहीं होते तब तक अच्छी तरह पढ़ना-लिखना नहीं सीख सकता। सभी प्रकार का सीखना एक सा नही होता है। कभी बालक अभ्यास से कुछ सीखता है, तो कभी आवृत्ति से, तो कभी अनुकरण से, तो कभी अनुभव से और कभी विशेष प्रशिक्षण से कोई चीज सीखने पर उसके व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि

परिपक्वीकरण का सम्बन्ध वंशपरम्परा से और सीखने का सम्बन्ध वातावरण से रहता है।

विकास की प्रमुख विशेषतायें तथा नियम

बाल-विकास या मानव-विकास कुछ सिद्धान्तों के अनुसार होता है और उसके अपने कुछ नियम और कुछ विशेपतायें होती हैं अतः बालक या व्यक्ति के विकास-क्रम को यथार्थ रूप से समझने के लिए उनकी जानकारी आवश्यक है। उक्त विकास क्रम के कुछ नियम तथा विशेपतायें इस प्रकार हैं—

(१) **विकास में क्रमबद्धता रहती है.** बालक या व्यक्ति का विकास-क्रम एक ढर्रे पर सामान रूप से एक ही प्रकार का होता है उसमें व्यतिक्रम नहीं पाया जाता। जैसे बालक के भाषा विकास में सभी बालक पहले पहल निरर्थक ध्वनि करेंगे इस अवस्था के पश्चात् उनकी गिलबिल की अवस्था आवेगी। वैसे तो सभी बालक एक समान नहीं होते, परन्तु संसार के सभी बालकों में विकास के लक्षण एक क्रम से उदय होते हैं। जैसे गर्भावस्था या जन्मोपरान्त विकास का क्रम सिर से पैर की ओर होता है।

(२) **विकास सामान्य से विशिष्ट प्रतिक्रिया की ओर होता है.** पहले बालक या व्यक्ति का सामान्य विकास होता है। फिर वह विशिष्टता की ओर अग्रसर होता है। उदाहरण के लिए बालक कोई भी वस्तु पकड़ने के लिए शरीर के प्रायः सभी अङ्गों को काम में लाता है। परन्तु बाद में वह किसी भी वस्तु को विशिष्ट अङ्ग या अङ्ग विशेष से पकड़ता है। कोई वस्तु पकड़ने में शिशु का सारा शरीर क्रियाशील होता है, वह सिर और पैर को हिलाता है। उसका मुख खुलता और बन्द होता है। किन्तु आयु बढ़ने पर जब वह कोई वस्तु को पकड़ना चाहता है तो वह केवल हाथ व उँगलियों की प्रतिक्रिया करता है।

(३) **विकास सतत प्रक्रिया है.** गर्भावस्था से लेकर परिपक्वावस्था तक विकास का क्रम निरन्तर चलता रहता है। भले ही अभ्यास अथवा प्रशिक्षण के कारण उसकी गति में परिवर्तन उपस्थि हो जावे। विकास का क्रम परिपक्वीकरण पर निर्भर रहता है। बालक या व्यक्ति के कोई भी शारीरिक अथवा मानसिक शील-गुण एका-एक नहीं प्रकट होते। व्यक्ति का प्रत्येक शील-गुण धीरे-धीरे विकास गति को प्राप्त होता है। जैसे बच्चे के दांत अकस्मात् नहीं निकल आते हैं। परन्तु उनके निकलने की प्रतिक्रिया बहुत पहले से ही निरन्तर चालू रहती है। इस प्रकार व्यक्ति में शील

गुण बीज रूप में पहले से ही विद्यमान रहते हैं। पर उसका विकास, आयु तथा अवस्था के अनुसार वातावरण के प्रभाव से सम्पन्न होता है।

(४) **विकास की गति में होने वाली व्यक्तिगत विभिन्नतायें स्थायी ढंग की होती हैं.** विकास की गति में एकरूपता रहती है। जिन बालकों का विकास प्रारम्भ में तीव्र गति से होता है उनका विकास इसी प्रकार सामान्यत: आगे चलकर भी होता है। जैसे जो बच्चा सामान्य अवस्था से पहले बोलने लगता है वह सामान्य आयु के बच्चों से पहले बोलने लगता है। टरमन, ओगडन ने अपने परीक्षणों द्वारा यह दर्शाया है कि प्राय: ८५ प्रतिशत तीक्ष्ण बुद्धि वाले बालकों का मानसिक विकास एक से क्रम में होता है।

(५) **अधिकांश शील-गुणों के विकास में सहसम्बन्ध है.** विभिन्न शील-गुणों का परस्पर गहरा सम्बन्ध रहता है। जैसे तीव्र बुद्धि वाले बालक के मानसिक विकास के साथ-साथ शारीरिक विकास भी तीव्र गति से होता है। यह बात न होगी कि उसका मानसिक विकास उसके शारीरिक विकास से अपेक्षाकृत कम होगा।

(६) **शरीर के विभिन्न अंगों का विकास भिन्न-भिन्न गति से होता है.** शरीर के सभी भाग एक ही गति से नही विकसित होते। यही बात मानसिक विकास में भी लागू होती है। यह भी देखा जाता है कि शरीर के कुछ भाग तीव्र गति से विकसित होते हैं और कुछ मंद गति से। जैसे बालक के हाथ-पैर, नाक-मुंह का विकास पूर्व किशोरावस्था तक हो जाता है। किन्तु यकृत और हृदय आदि का विकास किशोरावस्था में भी होता रहता है। इसी प्रकार मानसिक पक्ष में व्यक्ति की सामान्य बुद्धि का विकास १५ या १६ वर्ष की आयु में पूर्ण हो जाता है। परन्तु तर्क का विकास मन्द गति से चलता रहता है।

(७) **विकास पूर्वकथनीय होता है.** पहले यह बात बतलाई जा चुकी है कि बालक या व्यक्ति के विकास का क्रम निश्चित सा होता है। इसलिए उसके विकास के बारे में पूर्वकथन किया जा सकता है कि आगे चलकर वह किस प्रकार का व्यक्ति निकलेगा। गैसेल ने भी परीक्षण करके इस बात की पुष्टि की है।

(८) **प्रत्येक विकासात्मक अवस्था के अपने अपने विशिष्ट गुण होते है.** बाल विकास की प्रत्येक अवस्था में कुछ गुणों का विकास अन्य गुणों की अपेक्षा तीव्र गति में होता है। जैसे देखा गया है कि जन्म के पूर्व की अवस्था जैसे शैशवावस्था मे मानसिक विकास की अपेक्षा शारीरिक विकास की प्रधानता रहती है और बाल्यावस्था के अन्तिम चरण में सामाजिकता का विकास होता है। फील्डमेन के कथनानुसार प्रत्येक विकासावस्था में किसी विशेष शील-गुण की प्रमुख विशेषतायें देखने

में आती हैं जिससे उस अवस्था की विशेषता, सुसंगतता और एकता का भान होता है। जैसे ५-६ वर्ष की अवस्था में बालक में चंचलता बहुत तीव्र होती है, परन्तु प्रौढ़ावस्था में उसी व्यक्ति मे चंचलता के स्थान पर कुछ गम्भीरता आ जाती है।

(६) **प्रत्येक व्यक्ति सामान्यतः सभी प्रमुख वैज्ञानिक अवस्थाओं से गुजरता है.** यह बात अनुभव की जाती है कि किसी विशेष अवस्था में विशिष्ट विकास पूरा होने के लिए व्यक्तिगत भिन्नता पाई जाती है। वैसे तो सामान्यतः विकास का कार्य २१ वर्ष की अवस्था तक पूरा हो जाता है। परन्तु कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि मन्द बुद्धि वाले व्यक्ति विकास की सभी अवस्थाओं से नहीं गुजरने पाते, कारण कि अनुपयुक्त वातावरण, अस्वस्थता और प्रेरक तत्वों का अभाव विकास की सभी अवस्थाओं से उन्हें गुजरने में रोड़ा अटकाता है।

(१०) **कुछ अवस्था विशेष में प्रकट होने वाले अनेक समस्यात्मक व्यवहार भी उस अवस्था की दृष्टि से सामान्य व्यवहार माने जाते हैं.** विकास की प्रत्येक अवस्था में बालक कुछ न कुछ अवाञ्छनीय व्यवहार प्रदर्शित करता है। पर उस अवस्था के समाप्त हो जाने पर उसके वे समस्यात्मक व्यवहार समाप्त हो जाते हैं। जैसे बाल्यावस्था के शुरू-शुरू में बालक अपने जिद्दी स्वभाव का प्रदर्शन करता है। परन्तु बाल्यावस्था के अन्तिम चरण में उसके जिद्दीपन का लोप होने लगता है।

(११) **विकास-क्रम काम-प्रवृत्ति पर आधारित होता है.** फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषणवादियों का कथन है कि विकास की विभिन्न अवस्थाओं में बालक की काम-प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न अङ्गों में केन्द्रित होती है। जैसे प्रारम्भ में वह मुँह में होती है जिसके फलस्वरूप बालक कोई भी वस्तु चूमने वा चचोरने में आनन्द की अनुभूति करता है। फिर आगे चलकर यह प्रवृत्ति जननेन्द्रियों में प्रकट होती है जिसके परिणामस्वरूप वह अपने आप से प्रेम करने लगता है। और किशोरावस्था में विपरीत योनियों से प्रेम प्रदर्शित करने लगता है।

विकास सम्बन्धी विशेषताओं का महत्व

विकास के नियमों तथा सिद्धान्तों का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि इनसे हम यह बात जान लेते हैं कि बालकों को विकास क्रम में कब और किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करनी चाहिए। इसकी यथार्थ जानकारी न होने से हम भारी भद्दी भूल कर सकते हैं और कभी-कभी बालकों से आशा से बहुत अधिक गुणों की अपेक्षा करने लगते हैं और या उन्हें निरर्थक समझने लगते हैं। ये दोनों स्थितियाँ

बालक के स्वस्थ विकास की दृष्टि से लाभकारी नहीं रहती हैं। पहली स्थिति में बालकों में हीनता की भावना घर कर जाती है। और दूसरी स्थिति में उन्हें विकास के उत्प्रेरक नही मिल पाते जिससे कि वे आवश्यक विकास नहीं कर पाते।

विकास के नियमों तथा सिद्धान्तों का दूसरा महत्व यह है कि हम कब और कैसे बालकों के विकास की उत्तेजना तथा प्रेरणा प्राप्त करें और कब न करें। और कब और कैसा वातावरणजन्न प्रोत्साहन प्रदान करें कि उनके विकास क्रम में यथार्थ प्रगति हो सके। जैसे जब बालक बोलने की चेष्टा करने लगता है तब हमें उसे अभ्यास तथा अनुकरण के द्वारा भाषा विकास में अग्रसर करना आवश्यक है।

विकास क्रम के ज्ञान की तीसरी महत्ता यह है कि शिक्षक, माता-पिता तथा अभिभावक विकासावस्था में होने वाले परिवर्तनों तथा उनके परिणामों से बालकों को सजग कर सकते हैं और भावना ग्रंथियों से उत्पन्न उनके मन में तनाव, संघर्ष तथा भग्नाशाओं की तीव्रता को कम कर सकते हैं और उनके व्यक्तित्व को विघटित होने से बचा सकते हैं।

मनोविश्लेषणवादी फ्रायड, तथा एडलर का मत है कि सभी प्रकार के कामों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का बीजारोपण शैशवावस्था में ही हो जाता है और वे ही आगे चलकर भावी जीवन में प्रकट होती हैं। उनका यह भी मत है कि बालक की शैशवास्था तथा बाल्यावस्था विकास की दृष्टि से बहुत महत्व रखती है। इसलिये बालक के व्यक्तित्व के उचित प्रस्फुटन के लिए उचित निर्देशन की आवश्यकता है जो कि विकास क्रम के ज्ञान से ही संभव है। वाट्सन का कथन है कि बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में पर्यावरण का भी हाथ रहता है। पर्यावरण के प्रभाव से व्यक्ति महान् नेता, चोर तथा डाकू बनता है। अतः इस दृष्टि से विकास की विशेषताओं का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

मानव विकास को प्रभावित करने वाले तत्व

मानव-विकास क्रम को प्रभावित करने वाले अनेक तत्व हैं और इन तत्वों के आधार पर विकास-क्रम परिलक्षित होता है। और ये ही तत्व विकास-क्रम को आगे गति प्रदान करते हैं और उन्हें नियंत्रित भी करते हैं। यहां पर इन तत्वों का संक्षिप्त विश्लेषण करना उचित होगा।

(१) वंशानुक्रम

मानव विकास में वंशानुक्रम के प्रभाव की चर्चा करने के पूर्व उसके अर्थ, नियम तथा सिद्धान्तों आदि का जानना भी आवश्यक है। गर्भावस्था में ही जीव

का विकास आरम्भ हो जाता है और गर्भावस्था में होने वाले विकास-क्रम में वंश परम्परा का ही प्रमुख हाथ रहता है। और यह प्रभाव जीवन-पर्यन्त बना रहता है। जन्म होने के पश्चात् वातावरण के प्रभाव की शुरूआत होती है। वंशानुक्रम का साधारण अर्थ यह लिया जाता है कि एक वंश से उसकी संतति में शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, नैतिक या आत्मिक गुणों तथा विशेषताओं का संक्रमण होकर एक सा पाया जाना। बालक जन्म के समय अपने माता-पिता से जिन गुणों को लेकर पैदा होता है उन्हें वंशानुक्रम से प्राप्त गुण कहते हैं। वंशानुक्रम द्वारा ही बालक अपने माता-पिता के शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, सामाजिक एवं आत्मिक गुणों को ग्रहण करता है। इसलिए हिन्दी में कहावत है कि "जैसे जाके बाप महतारी वैसे वाके लड़का"। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि माता-पिता के रंग-रूप, नाक-नक्शा, शकल-सूरत, चाल-ढाल, बोल-चाल, डील-डौल, बुद्धि-स्वभाव और शारीरिक बनावट के समान संतान भी होती है। यदि माता-पिता सदाचारी व बुद्धिमान रहते हैं तो उनकी संतान भी सदाचारी और बुद्धिमान होती है।

कुत्ते के बच्चे कुत्ते ही होते हैं और खरगोश के बच्चे खरगोश ही। यह सब वंशानुक्रम के कारण होता है। मनुष्य में भी अनेक गुण तथा शारीरिक बनावट आदि वंशानुगत होती है। ड्रेवर के मतानुसार माता-पिता के शारीरिक तथा मानसिक गुणों का संक्रमण उनकी संतान में होता है। यह संक्रमण कैसे होता है यह जानना जरूरी है। बालक का जन्म माता-पिता के संसर्ग से होता है। पुरुष और स्त्री की जननेन्द्रियों में ऐसे जीव-कोष होते हैं जिनके मधुर-मिलन से नये जीव का प्रादुर्भाव होता है। पुरुष के जीव कोष शुक्रांड और स्त्री के जीव-कोष को डिम्ब कहते हैं। इन दोनों के मधुर-मिलन से नये जीव-कोष का प्रादुर्भाव होता है जिसे अंडायु कहा जाता है। इस सूक्ष्म अंडायु के बीच में एक केन्द्र होता है जिसके चारों ओर साइटोप्लाज्म नामक एक रासायनिक द्रव्य होता है। इस केन्द्र में जो जीवाणु होते हैं उन्हें वंशशूत्र कहा जाता है। प्रत्येक वंश-सूत्र में बहुत से अदृश्य २०००० से लेकर ६०००० तक हुआ करते हैं इन्हें जीन कहते हैं। इन्हीं जीनकों में शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक गुण होते हैं जो वंशानुक्रम द्वारा बालक में संक्रमित होते हैं। इसीलिए इन जीन को वंशानुक्रम का वाहक कहा जाता है। बालक का रूप रंग लम्बाई और मुटाई आदि ये सब गुण जीनों में विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक जीन मानवी विवृद्धि तथा विकास के कुछ शारीरिक तथा व्यवहारिक विशेषताओं के विकास के लिए महत्वपूर्ण रहता है। गर्भाधान के समय पुरुष के शुक्राणु और स्त्री के डिम्ब दोनों गुण सूत्रों का मिलन होता है। इस मिलन में माता-पिता दोनों के जीन मिल जाते हैं। अतएव बालक में दोनों के गुणों का संक्रमण हो जाता है।

वालक के स्वस्थ विकास की दृष्टि से लाभकारी नहीं रहती हैं। पहली स्थिति में वालकों में हीनता की भावना घर कर जाती है। और दूसरी स्थिति में उन्हें विकास के उत्प्रेरक नही मिल पाते जिससे कि वे आवश्यक विकास नहीं कर पाते।

विकास के नियमों तथा सिद्धान्तों का दूसरा महत्व यह है कि हम कब और कैसे वालकों के विकास की उत्तेजना तथा प्रेरणा प्राप्त करें और कब न करें। और कब और कैसा वातावरणजन्य प्रोत्साहन प्रदान करें कि उनके विकास क्रम में यथार्थ प्रगति हो सके। जैसे जब वालक वोलने की चेप्टा करने लगता है तब हमें उसे अभ्यास तथा अनुकरण के द्वारा भापा विकास में अग्रसर करना आवश्यक है।

विकास क्रम के ज्ञान की तीसरी महत्ता यह है कि शिक्षक, माता-पिता तथा अभिभावक विकासावस्था में होने वाले परिवर्तनों तथा उनके परिणामों से वालकों को सजग कर सकते हैं और भावना ग्रंथियों से उत्पन्न उनके मन में तनाव, संघर्प तथा भग्नाशाओं की तीव्रता को कम कर सकते हैं और उनके व्यक्तित्व को विघटित होने से वचा सकते हैं।

मनोविश्लेपणवादी फ्रायड, तथा एडलर का मत है कि सभी प्रकार के कामों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का वीजारोपण शैशवावस्था में ही हो जाता है और वे ही आगे चलकर भावी जीवन में प्रकट होती हैं। उनका यह भी मत है कि वालक की शैशवास्था तथा वाल्यावस्था विकास की दृष्टि से वहुत महत्व रखती है। इसलिये बालक के व्यक्तित्व के उचित प्रस्फुटन के लिए उचित निर्देशन की आवश्यकता है जो कि विकास क्रम के ज्ञान से ही संभव है। वाट्सन का कथन है कि वालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में पर्यावरण का भी हाथ रहता है। पर्यावरण के प्रभाव से व्यक्ति महान् नेता, चोर तथा डाकू वनता है। अतः इस दृष्टि से विकास की विशेपताओं का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

मानव विकास को प्रभावित करने वाले तत्व

मानव-विकास क्रम को प्रभावित करने वाले अनेक तत्व हैं और इन तत्वों के आधार पर विकास-क्रम परिलक्षित होता है। और ये ही तत्व विकास-क्रम को आगे गति प्रदान करते हैं और उन्हें नियंत्रित भी करते हैं। यहां पर इन तत्वों का संक्षिप्त विश्लेपण करना उचित होगा।

(१) वंशानुक्रम

मानव विकास में वंशानुक्रम के प्रभाव की चर्चा करने के पूर्व उसके अर्थ, नियम तथा सिद्धान्तों आदि का जानना भी आवश्यक है। गर्भावस्था में ही जीव

का विकास आरम्भ हो जाता है और गर्भावस्था में होने वाले विकास-क्रम में वंश परम्परा का ही प्रमुख हाथ रहता है। और यह प्रभाव जीवन-पर्यन्त बना रहता है। जन्म होने के पश्चात् वातावरण के प्रभाव की शुरूआत होती है। वंशानुक्रम का साधारण अर्थ यह लिया जाता है कि एक वंश से उसकी संतति में शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, नैतिक या आत्मिक गुणों तथा विशेषताओं का संक्रमण होकर एक सा पाया जाना। बालक जन्म के समय अपने माता-पिता से जिन गुणों को लेकर पैदा होता है उन्हें वंशानुक्रम से प्राप्त गुण कहते हैं। वंशानुक्रम द्वारा ही बालक अपने माता-पिता के शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, सामाजिक एवं आत्मिक गुणों को ग्रहण करता है। इसलिए हिन्दी में कहावत है कि "जैसे जाके बाप महतारी वैसे वाके लड़का"। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि माता-पिता के रंग-रूप, नाक-नक्शा, शकल-सूरत, चाल-ढाल, बोल-चाल, डील-डौल, बुद्धि-स्वभाव और शारीरिक बनावट के समान संतान भी होती है। यदि माता-पिता सदाचारी व बुद्धिमान रहते हैं तो उनकी संतान भी सदाचारी और बुद्धिमान होती है।

कुत्ते के बच्चे कुत्ते ही होते हैं और खरगोश के बच्चे खरगोश ही। यह सब वंशानुक्रम के कारण होता है। मनुष्य में भी अनेक गुण तथा शारीरिक बनावट आदि वंशानुगत होती है। ड्रेवर के मतानुसार माता-पिता के शारीरिक तथा मानसिक गुणों का संक्रमण उनकी संतान में होता है। यह संक्रमण कैसे होता है यह जानना जरूरी है। बालक का जन्म माता-पिता के संसर्ग से होता है। पुरुष और स्त्री की जननेन्द्रियों में ऐसे जीव-कोष होते हैं जिनके मधुर-मिलन से नये जीव का प्रादुर्भाव होता है। पुरुष के जीव कोष शुक्रांड और स्त्री के जीव-कोष को डिम्ब कहते हैं। इन दोनों के मधुर-मिलन से नये जीव-कोष का प्रादुर्भाव होता है जिसे अंडायु कहा जाता है। इस सूक्ष्म अंडायु के बीच में एक केन्द्र होता है जिसके चारों ओर साइटोप्लाज्म नामक एक रासायनिक द्रव्य होता है। इस केन्द्र में जो जीवाणु होते हैं उन्हें वंशसूत्र कहा जाता है। प्रत्येक वंश-सूत्र में बहुत से अदृश्य २०००० से लेकर ६०००० तक हुआ करते हैं इन्हें जीन कहते हैं। इन्हीं जीनकों में शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक गुण होते हैं जो वंशानुक्रम द्वारा बालक में संक्रमित होते हैं। इसीलिए इन जीन को वंशानुक्रम का वाहक कहा जाता है। बालक का रूप रंग लम्बाई और मुटाई आदि ये सब गुण जीनों में विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक जीन मानवी विवृद्धि तथा विकास के कुछ शारीरिक तथा व्यवहारिक विशेषताओं के विकास के लिए महत्वपूर्ण रहता है। गर्भाधान के समय पुरुष के शुक्राणु और स्त्री के डिम्ब दोनों गुण सूत्रों का मिलन होता है। इस मिलन में माता-पिता दोनों के जीन मिल जाते हैं। अतएव बालक में दोनों के गुणों का संक्रमण हो जाता है।

मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार वंशानुक्रम में अनेक सिद्धान्त या नियम काम करते हैं जो इस प्रकार हैं :—

(क) चार्ल्स बोनेट के पूर्व रचनावाद का सिद्धान्त. इस सिद्धान्त के अनुसार माता-पिता के वीर्य तथा रज कणों में भावी संतति के सभी गुण शारीरिक, मानसिक और भावात्मक आदि पहले से ही विद्यमान रहते हैं।

(ख) वीजमेन का फल-जीवाणु के निरन्तरता का सिद्धान्त या नियम. इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक वीजमेन का मत है कि संतान अपने माता-पिता से उन्हीं गुणों को प्राप्त करती है जो उन्हें अपने पूर्व-पुरुषों से पीढ़ी दर पीढ़ी से मिले रहते हैं। जैसे बालों का रंग, हाथ-मुख की बनावट और ऊंचाई, मुटाई आदि। किन्तु वह उन गुणों को नहीं प्राप्त करती जो कि उनके माता-पिता ने स्वयं अर्जित किये हैं। इस नियम की सत्यता प्रमाणित करने के लिये वीजमेन ने चूहों पर प्रयोग किया। वह लगातार कई पीढ़ियों तक चूहों की दुम काटता रहा, पर उसे कोई भी पीढ़ी के चूहों की जन्म से दुम कटी हुई नही मिली।

(ग) लेमार्क का सिद्धान्त या नियम. वीजमैन के सिद्धान्त के विरुद्ध लेमार्क ने यह सिद्धान्त निकाला कि अर्जित गुणों को भावी संतान वंशानुक्रम के नियम के अनुसार प्राप्त करती है। उसने अपनी धारणा की पुष्टि में कई उदाहरण प्रस्तुत किये। जैसे उसका कहना था कि जिराफ की गर्दन आदि काल में इतनी लम्बी न थी। पेड़ों की पत्तों तक पहुँचने के लिये उसकी गर्दन लम्बी होनी थी। इसलिए जिराफ जाति प्रत्येक पीढ़ी में अपनी गर्दन लम्बी करने की चेष्टा करती रही। फलतः धीरे-धीरे उसकी गर्दन लम्बी हो गई।

(घ) अर्जित गुणों के संक्रमण का सिद्धान्त या नियम. कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालकों में माता-पिता के केवल पूर्वजों से चले आये हुए गुणों का संक्रमण होता है, न कि माता-पिता के स्वयं अर्जित गुणों का। मैक्डूगल, पवलव और लेमार्क ने इस सिद्धान्त का खंडन किया है और इस बात की पुष्टि की है कि बालक में माता-पिता के अर्जित गुण भी संक्रमित होते हैं। अपने पक्ष के समर्थन में मैक्डूगल ने एक प्रयोग किया। उसने कुछ सफेद चूहों को पानी से भरी नांद में छोड़ा जिसमें बाहर निकलने के दो मार्ग थे। एक मार्ग प्रकाश पूर्ण था तो दूसरा अन्धकार पूर्ण। प्रकाश पूर्ण मार्ग में बिजली का तार लगा रहने से धक्का या झटका लगता था। इसलिए वे चूहे अंधकार पूर्ण रास्ते से निकलते थे। पहली पीढ़ी में चूहों ने इस मार्ग को ढूंढ़ निकालने में १६५ भूलें कीं परन्तु तीसरी पीढ़ी में उन्होंने केवल २५ भूलें की। इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि बालक के माता-पिता के अर्जित गुण भी संक्रामक होते हैं।

(ङ) विभिन्नता का सिद्धान्त या नियम. साधारणतः यह बात समझी जाती है कि सामान्य से सामान्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् बुद्धिमान माता-पिता की बुद्धिमान संतान और मूर्ख माता-पिता की मूर्ख संतान होती है। परन्तु इस नियम के विरुद्ध भी बात पाई जाती है। बुद्धिमान माता-पिता की कभी-कभी मूर्ख संतान पैदा होती है। यह क्यों होता है ? इसका समाधान भिन्नता का नियम इस प्रकार करता है। इस नियम के अनुसार वंशानुक्रम में गुणों के वाहक अनेक सूत्रों के रूप में बीज-कोष हुआ करते हैं। उन्हें वंश-सूत्र कहा जाता है। मानवीय कोषाणुओं में इन गुण-सूत्रों की संख्या ४६ हुआ करती है। इनसे भी सूक्ष्म गुण-सूत्र हुआ करते हैं जिन्हें जीन्स कहा जाता है। ये गुण-सूत्र भिन्न-भिन्न गुण-दोषों के वाहक होते हैं। इन्हीं गुण-सूत्रों का मिश्रण माता-पिता में एक समान नहीं होता। इसलिए संतानों में विभिन्नता आ जाती है। इस बात का विश्लेषण पृष्ठ ४१ में कर दिया गया है।

(च) वंशानुगत गुणों में परिवर्तन का सिद्धान्त या नियम. कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि बच्चों में ऐसे गुण आ जाते हैं जो उनके पूर्वजों में नही पाये जाते हैं। इस गुण परिवर्तन के कारण के विषय में कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि बीज कोषों में कालान्तर में रासायनिक परिवर्तन हो जाने से ऐसा हुआ करता है।

(छ) प्रत्यागमन का सिद्धान्त या नियम. स्वभावतः एक शंका यह होती है कि कभी-कभी बुद्धिमान माता-पिता की बुद्धिहीन संतान क्यों पैदा होती है। इसका समाधान प्रत्यागमन नियम से होता है। इस नियम के अनुसार जब वंशसूत्रों का मिश्रण अच्छी तरह से होता है तो अच्छी संतान और बुरी तरह से होता है तो बुरी संतान उत्पन्न होती है। दूसरी शंका यह होती है कि बुद्धिहीन परिवार में प्रतिभा-शाली संतान उत्पन्न होती है। इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि व्यक्ति वंशानुक्रम से व्यक्त या सुप्त दो प्रकार के गुण प्राप्त करते हैं। ये पिता से पुत्रों में वंशानुक्रम के रूप में भावी संतति संक्रमित होते रहते हैं। परिस्थितियों के अनुसार कभी सुप्त गुण व्यक्त हो जाते हैं कभी व्यक्त गुण सुप्त हो जाते हैं। कई पीढ़ियों के पश्चात् पूर्वजों के गुण-दोष भावी संतान में आ जाते हैं।

(ज) शुद्ध जाति की अमरता का सिद्धान्त या नियम. इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक जान मेण्डल हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति वर्ण-संकरों की वृद्धि या विकास नहीं चाहती और यदि कारणवश कभी वर्ण-संकरता आ जाती है तो उसका धीरे-धीरे लोप हो जाता है और अंत में शुद्ध संतान रह जाती है। मेण्डल ने अपने सिद्धांत की पुष्टि में मटर और चूहों पर दो प्रयोग किये। जैसे दो प्रकार के मटर को एक स्थान में बोकर एक नई जाति की वर्ण-संकर मटर उत्पन्न की गई। इस

वर्ण-संकर मटर के लगातार बोते रहने पर धीरे-धीरे वर्ण संकरी मटर की समाप्ति हो गई। इसी प्रकार दो विभिन्न जाति के चूहों के मेल से एक दूसरी नस्ल के चूहे उत्पन्न किये गये। इस प्रयोग को कई पीढ़ियों तक जारी रखने पर दोगली जाति के चूहों का लोप हो गया।

(झ) **निकट सम्बन्धियों में अन्तर्जनन का सिद्धान्त.** इस नियम के अनुसार निकट सम्बन्धियों से विवाह सम्बन्ध हो जाने पर इनसे उत्पन्न संतानों में पूर्वजों की वंश-परम्परा के गुण-दोष आ जाते हैं, पर दो भिन्न कुटुम्बों के बीच यह सम्बन्ध करने पर यह बात नहीं होती।

(त) **जीवसांख्यिकीय या वंशसूत्रों का सिद्धान्त.** डाल्टन आदि मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार बालक आधे गुण माता-पिता से, चौथाई अपने दादा से, आठवें अपने परदादा से और सोलहवें अपने पर परदादा से प्राप्त करते हैं।

(थ) **पुनरावर्तन का सिद्धान्त या नियम.** कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मानव जाति ने जिन-जिन अवस्थाओं से गुजर कर अपना विकास किया है वे सब अवस्थायें शिशु में प्राप्त होती हैं अर्थात् वह मानव जाति की पिछली सभी पीढ़ियों के अनुभव का संक्षिप्त रूप में पुनरावर्तन करता है। इस विचार को हरबार्ट तथा जिलर ने शिक्षा के क्षेत्र में स्थानान्तरित किया है। सांस्कृतिक युग सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक बालक तीन निम्नाङ्कित शक्ति को लेकर जन्म लेता है :—

(१) संचय शक्ति. इसमें शिशु के मस्तिष्क में पिछले समस्त जन्मों के अनुभव का सार संचित रहता है।

(२) प्रयोजनीयता की क्षमता (हार्मी). इसमें अपने जीवन के प्रयोजन के अनुसार प्रत्येक बालक में कार्य करने की क्षमता होती है।

(३) संश्लेषण शक्ति (कोहीलन). इसमें नवीन अनुभवों का अतीत के अनुभवों से सम्बन्ध जोड़ने या संश्लिष्ट करने की शक्ति होती है और इन दोनों के सम्बन्ध द्वारा विभिन्न व्यवहारों का जन्म होता है। इन तीनों प्रकार की शक्तियों से मूल प्रवृत्तियों का जन्म होता है।

वंशानुक्रम का अध्ययन

अनेक मनोवैज्ञानिकों ने बालकों की वृद्धि एवं विकास पर वंशानुक्रम का प्रभाव जानने के लिये विशेष अध्ययन और शोध-कार्य किया। डाल्टन ने आठ जुड़वाँ बच्चों के जीवन का अध्ययन किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि एक ही माता-पिता की संतान होने के कारण आठों जुड़वाँ बच्चों के जीवन में बहुत

कुछ समानता थी। गोडर्ड ने कालीकाक परिवार का अध्ययन किया। मार्टिन कालीकाक एक सैनिक था। उसका एक मंद-बुद्धि वाली महिला से अनुचित सम्बन्ध हो गया। इस महिला की जो वंश-परम्परा चली उसमें १४३ मन्द बुद्धि व्यक्ति, ३७ वेश्यायें, ३६ जारसंतान, २४ शराबी और ११ अपराधी संतानें निकली। इसके बाद उसने एक सच्चरित्र महिला से विवाह किया। इसकी वंश-परम्परा में ४९६ व्यक्ति साधारण अच्छे निकले। डग्डेल ने एक ज्यूक परिवार का अध्ययन किया। ज्यूक एक मछुआ था। उसके पुत्रों ने कुलटा तथा नीच जाति की स्त्रियों से विवाह किया। इसकी वंशपरम्परा में २८२० व्यक्तियों में से २५० साधारण व्यक्ति, ४४ मानसिक रोगी, १३० अपराधी, १० हत्यारे, ६० चोर, ५० स्त्रियां वेश्यायें, २८५ पागल, २६७ व्यभिचारी और ३६६ भिखमंगे निकले। इन अध्ययनों से पता चलता है कि बालकों की वृद्धि तथा विकास में वंशानुक्रम का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

बाल विकास में वंशानुक्रम का प्रभाव

बालक के विकास में वंशानुक्रम के प्रभाव को मुख्यतः पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) **लिङ्ग-भेद.** बालक-बालिका, स्त्री-पुरुषों के शारीरिक लक्षणों में भिन्नता और लिंगों में भेद पाया जाता है यह सब वंशानुक्रम के कारण है।

(२) **शारीरिक लक्षण.** भिन्न-भिन्न बालक-बालिकाओं के शारीरिक लक्षण जैसे उनके चेहरे, आंख, कान, नाक आदि की बनावट में भिन्नता होती है। शारीरिक लक्षणों की यह भिन्नता वंशानुक्रम के कारण होती है।

(३) **बुद्धि पर प्रभाव.** वंशानुक्रम का बुद्धि की तीव्रता या मन्दता पर प्रभाव देखा गया है। प्रथम विश्व युद्ध के समय नीग्रो और गोरे सैनिकों की बुद्धि परीक्षा करके बुद्धि पर वंशानुक्रम के प्रभाव का परिमाण इस प्रकार निकाला गया। गोरों की मानसिक आयु क्रमशः १०४ और नीग्रो की १०२ थी। पर ये परिमाण गलत भी साबित हो सकते हैं।

(४) **स्वभाव पर प्रभाव.** मनोवैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि व्यक्ति के विकास में आन्तरिक चालकों तथा अंतःश्रावी ग्रंथियों का प्रभाव पड़ता है। जैसे किशोरावस्था में जनन-ग्रंथियों की क्रियाशीलता बढ़ जाने से किशोर-किशोरियों के स्वभाव में अंतर पाया जाता है।

(५) **व्यक्ति तथा व्यवहार पर प्रभाव.** गोटेसमेन (१९६३) ने छः जुड़वां किशोरों पर परीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला कि उनकी अन्तर्मुखता का परिमाण

वर्ण-संकर मटर के लगातार बोते रहने पर धीरे-धीरे वर्ण संकरी मटर की समाप्ति हो गई। इसी प्रकार दो विभिन्न जाति के चूहों के मेल से एक दूसरी नस्ल के चूहे उत्पन्न किये गये। इस प्रयोग को कई पीढ़ियों तक जारी रखने पर दोगली जाति के चूहों का लोप हो गया।

(झ) निकट सम्बन्धियों में अन्तर्जनन का सिद्धान्त. इस नियम के अनुसार निकट सम्बन्धियों से विवाह सम्बन्ध हो जाने पर इनसे उत्पन्न संतानों में पूर्वजों की वंश-परम्परा के गुण-दोष आ जाते हैं, पर दो मित्र कुटुम्बों के बीच यह सम्बन्ध करने पर यह बात नहीं होती।

(त) जीवसांख्यिकीय या वंशसूत्रों का सिद्धान्त. डाल्टन आदि मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार बालक आधे गुण माता-पिता से, चौथाई अपने दादा से, आठवें अपने परदादा से और सोलहवें अपने पर परदादा से प्राप्त करते हैं।

(थ) पुनरावर्तन का सिद्धान्त या नियम. कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मानव जाति ने जिन-जिन अवस्थाओं से गुजर कर अपना विकास किया है वे सब अवस्थायें शिशु में प्राप्त होती हैं अर्थात् वह मानव जाति की पिछली सभी पीढ़ियों के अनुभव का संक्षिप्त रूप में पुनरावर्तन करता है। इस विचार को हरबार्ट तथा जिलर ने शिक्षा के क्षेत्र में स्थानान्तरित किया है। सांस्कृतिक युग सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक बालक तीन निम्नाङ्कित शक्ति को लेकर जन्म लेता है :—

(१) संचय शक्ति. इसमें शिशु के मस्तिष्क में पिछले समस्त जन्मों के अनुभव का सार संचित रहता है।

(२) प्रयोजनीयता की क्षमता (हार्मी). इसमें अपने जीवन के प्रयोजन के अनुसार प्रत्येक बालक में कार्य करने की क्षमता होती है।

(३) संश्लेषण शक्ति (कोहीलन). इसमें नवीन अनुभवों का अतीत के अनुभवों से सम्बन्ध जोड़ने या संश्लिष्ट करने की शक्ति होती है और इन दोनों के सम्बन्ध द्वारा विभिन्न व्यवहारों का जन्म होता है। इन तीनों प्रकार की शक्तियों से मूल प्रवृत्तियों का जन्म होता है।

वंशानुक्रम का अध्ययन

अनेक मनोवैज्ञानिकों ने बालकों की बुद्धि एवं विकास पर वंशानुक्रम का प्रभाव जानने के लिये विशेष अध्ययन और शोध-कार्य किया। डाल्टन ने आठ जुड़वाँ बच्चों के जीवन का अध्ययन किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि एक ही माता-पिता की संतान होने के कारण आठों जुड़वाँ बच्चों के जीवन में बहुत

कुछ समानता थी। गोडर्ड ने कालीकाक परिवार का अध्ययन किया। मार्टिन कालीकाक एक सैनिक था। उसका एक मंद-बुद्धि वाली महिला से अनुचित सम्बन्ध हो गया। इस महिला की जो वंश-परम्परा चली उसमें १४३ मन्द बुद्धि व्यक्ति, ३७ वेश्यायें, ३६ जारसंतान, २४ शराबी और ११ अपराधी संतानें निकली। इसके बाद उसने एक सच्चरित्र महिला से विवाह किया। इसकी वंश-परम्परा में ४९६ व्यक्ति साधारण अच्छे निकले। डग्डेल ने एक ज्यूक परिवार का अध्ययन किया। ज्यूक एक मछुआ था। उसके पुत्रों ने कुल्टा तथा नीच जाति की स्त्रियों से विवाह किया। इसकी वंशपरम्परा में २८२० व्यक्तियों में से २५० साधारण व्यक्ति, ४४ मानसिक रोगी, १३० अपराधी, १० हत्यारे, ६० चोर, ५० स्त्रियां वेश्यायें, २८५ पागल, २६७ व्यभिचारी और ३६६ भिखमंगे निकले। इन अध्ययनों से पता चलता है कि बालकों की बुद्धि तथा विकास में वंशानुक्रम का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

बाल विकास में वंशानुक्रम का प्रभाव

बालक के विकास में वंशानुक्रम के प्रभाव को मुख्यतः पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) **लिङ्ग-भेद.** बालक-बालिका, स्त्री-पुरुषों के शारीरिक लक्षणों में भिन्नता और लिंगों में भेद पाया जाता है यह सब वंशानुक्रम के कारण है।

(२) **शारीरिक लक्षण.** भिन्न-भिन्न बालक-बालिकाओं के शारीरिक लक्षण जैसे उनके चेहरे, आंख, कान, नाक आदि की बनावट में भिन्नता होती है। शारीरिक लक्षणों की यह भिन्नता वंशानुक्रम के कारण होती है।

(३) **बुद्धि पर प्रभाव.** वंशानुक्रम का बुद्धि की तीव्रता या मन्दता पर प्रभाव देखा गया है। प्रथम विश्व युद्ध के समय नीग्रो और गोरे सैनिकों की बुद्धि परीक्षा करके बुद्धि पर वंशानुक्रम के प्रभाव का परिमाण इस प्रकार निकाला गया। गोरों की मानसिक आयु क्रमशः १०४ और नीग्रो की १०२ थी। पर ये परिमाण गलत भी साबित हो सकते हैं।

(४) **स्वभाव पर प्रभाव.** मनोवैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि व्यक्ति के विकास में आन्तरिक चालकों तथा अंतःश्रावी ग्रंथियों का प्रभाव पड़ता है। जैसे किशोरावस्था में जनन-ग्रंथियों की क्रियाशीलता बढ़ जाने से किशोर-किशोरियों के स्वभाव में अंतर पाया जाता है।

(५) **व्यक्ति तथा व्यवहार पर प्रभाव.** गोटेसमेन (१९६३) ने छः जुड़वां किशोरों पर परीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला कि उनकी अन्तर्मुखता का परिमाण

पैतृक तत्वों से बहुत अधिक प्रभावित था। स्टर्न के अनुसार कुछ शारीरिक रोग के साथ-साथ कुछ मानसिक रोग भी पैतृक होते हैं। फ्रीडमेन और गैलर (१९६३) ने अपने परीक्षणों द्वारा यह पता लगाया कि व्यक्तित्व पर वंशानुक्रम का काफी प्रभाव पड़ता है। जैसे एक रज-वीर्य से उत्पन्न यमजों की मानसिक तथा गामक क्षमताओं में समानता देखी गई परन्तु भिन्न यमजों में यह बात नहीं पाई गई। इसी प्रकार मारगरेट मीड ने पता लगाया कि मानसिक, सामाजिक, तथा सांस्कृतिक तत्व व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा व्यवहारों को प्रभावित करते हैं। जैसे न्यू गिनीमें आरापेश तथा मुडगोमर बिलकुल आसपास रहने वाली जातियाँ हैं। पर आरापेश जाति के स्त्री पुरुष सभ्य और अच्छे व्यवहार वाले थे, पर मुडगोमर जाति के स्त्री पुरुष असभ्य और लड़ाकू थे। कारण कि इस जाति में बच्चों का लालन-पालन ऐसे वातावरण में होता है जिसमे लड़ना अच्छा माना जाता है।

(२) पर्यावरण

पिछले अध्याय में हमने देखा कि मानव विकास पर वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है, परन्तु साथ ही पर्यावरण का भी प्रभाव पड़ता है। अतः यहां पर इसका विश्लेपण करना आवश्यक प्रतीत होता है। बालक के जीवन को दो अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है, जन्म पूर्व की अवस्था और जन्म पश्चात् की अवस्था। जन्म पूर्व की अवस्था में बालक जब माता के गर्भ में रहता है तो उसके स्वास्थ्य का प्रभाव बालक के विकास पर पड़ता है। माता के मानसिक विचारों एवं भावों का प्रभाव बालक की गर्भावस्था में पड़ता है। माता-पिता का चरित्र, स्वभाव एवं उनके आचार-विचार का प्रभाव गर्भ स्थित बच्चे पर पड़ता है। अभिमन्यु ने अपनी माता के गर्भ में ही वीरता का पाठ पढ़ लिया था क्योंकि उसके माता-पिता वीर थे। यही बालक के जन्म पूर्व का पर्यावरण है। जन्म के पश्चात् बालक क्रमशः माता-पिता, कुटुम्ब, प्रकृति, अन्य प्राणियों, समाज, गांव, नगर, शहर, प्रांत, राष्ट्, विश्व और शाला के संपर्क में आता है। और इन सबका प्रभाव किसी न किसी रूप में उसके जीवन पर पड़ता है।

प्राणिशास्त्रवेत्ता न्यूमेन, मनोवैज्ञानिक फ्रीमेन तथा गणना-शास्त्री, वेलेजिगर ने १९ जुड़वाँ बच्चों के मनोवैज्ञानिक परीक्षण से यह सिद्ध किया कि पर्यावरण भिन्न होने से बच्चों के मानसिक एवं सामाजिक विकास में अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार फ्रीमेन तथा आयोवा विश्वविद्यालय द्वारा पालित बच्चों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन इस बात को प्रमाणित करते हैं कि पर्यावरण का बालक के विकास पर प्रभाव पड़ता है। फ्रीमेन ने यह बात सिद्ध की कि जो अनाथ बच्चे पालिक-गृह में शीघ्र भरती किये गये थे उनका मानसिक विकास उन बच्चों की अपेक्षा उच्च श्रेणी का

था जो सड़कों पर आवारा घूमते थे। आयोवा विश्वविद्यालय ने एक चालीस नाजायज बच्चों पर परीक्षण किये। इनसे यह परिणाम निकला कि पर्यावरण का बच्चों के विकास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। जिन बच्चों की बुद्धिलब्धि ७१ थी, उनकी बुद्धिलब्धि उचित वातावरण में ११६ पाई गई।

सन् १६२० में एक इसाई पादरी को भेड़ियों की गुफा से मिदनापुर में दो लड़कियाँ प्राप्त हुईं। इनमें से एक की आयु ३ से ४ वर्ष के बीच थी और दूसरी की आयु ८ या ९ वर्ष की थी। वे दोनों हाथ-पैरों से चलती थीं, कच्चा मांस खाती थीं, नग्न रहा करती थी, जीभ निकाल कर भौंकती थी, दिन को सोती और रात को जागा करती थी। वे मनुष्य की भाषा नहीं समझती थीं। उनमें भेड़ियों के सभी आचार-विचार पाये जाते थे, क्योंकि वे भेड़ियों के वातावरण से प्रभावित थीं। शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने पैर से चलना सीखा साथ ही साथ कपड़ा पहिनना और मनुष्य की बोली बोलना सीखा। यह सब पर्यावरण की बदौलत हुआ। साधारण तया हम लोग जीवन में यह बातें देखते हैं कि कभी कभी सदाचारी बालक कुसंगति में पड़कर बिगड़ जाते हैं।

विकास-क्रम पर वंशानुक्रम और पर्यावरण का सापेक्ष प्रभाव

बालक या व्यक्ति के जीवन में यह बात देखी गई है कि कभी उसके जीवन में वंशानुक्रम का, कभी पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है और कभी कभी दोनों का सम्मिलित प्रभाव पड़ता है। इसलिए दोनों मतों वाले यह दावे से नहीं कह सकते कि केवल वंशानुक्रम का या केवल पर्यावरण का बालक के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। वास्तव में देखा जाये तो वंशानुक्रम और पर्यावरण का एक दूसरे से इतना अन्योन्य संबन्ध है कि उनके प्रभाव को अलग-विलग नहीं किया जा सकता।

निम्न कोटि के प्राणियों पर किये गए परीक्षणों तथा प्रयोगों ने वंशानुक्रम और पर्यावरण के सापेक्ष प्रभाव को प्रमाणित कर दिया है। कुछ कीटाणुओं के शरीर के अन्दर के रंग को वंशानुक्रम से परिवर्तित किया जा सकता है बशर्ते कि उनका पर्यावरण भी परिवर्तित कर दिया जावे। मक्खियों पर परीक्षण करके यह बात देखी गई कि वंशानुक्रम से प्राप्त उनके शरीर में जो द्रव्य न थे उन्हें सिलवर नाइट्रेट खिलाकर अर्जित कर दिया गया। मंगोल जाति की बुद्धि मन्दता पर वंशानुक्रम और वातावरण का सम्मिलित प्रभाव परीक्षण द्वारा देखा गया। यह समझा जाता था कि उनके दोष पूर्ण वंशानुक्रम के कारण उनके वंशसूत्र दूषित हुए हैं और इस कारण उनमें बुद्धिमन्दता आ गई है। परन्तु अब खोजों से यह पता चला है कि माता की गर्भावस्था से आठवें सप्ताह में गर्भाशय में विषैले पदार्थों के उत्पन्न

होने के कारण बुद्धिमन्दता पाई जाती है। इसलिये मंगोल जाति के अधिकांश लोगों में पाई जाने वाली बुद्धिमन्दता पर प्रभावशाली पर्यावरण के साथ साथ, दूषित गुण सूत्रों का भी असर पड़ता है। गर्भावस्था में होने वाले जर्मन खसरा रोग से भी वंशानुक्रम और पर्यावरण का सापेक्ष प्रभाव पड़ता है। यह रोग साधारण स्त्री और गर्भवती स्त्री दोनों को सामान्य है। परन्तु इस रोग से संघर्ष करने में शरीर माता की गर्भावस्था में रक्त-संचार व्यवस्था में विषैले द्रव्य उत्पन्न करता है जो कि भ्रूण के रूप में संक्रमित हो जाते हैं। ये शिशु अंग-रचना की प्रतिक्रिया को प्रभावित करते हैं। इनके कारण कई बच्चों में नेत्र और कान के विकार पाये जाते हैं। इससे यह बात सिद्ध होती है कि यद्यपि यह विकार जन्मजात हैं, परन्तु पर्यावरण के प्रभाव से अर्जित किये जा सकते हैं।

बालक के बुद्धिविकास और चरित्र-निर्माण मे वंशानुक्रम का भी प्रभाव पड़ता है। वंशानुक्रम का ज्ञान बालक के व्यक्तित्व को यथार्थ रूप से समझने में सहायक होता है। उसके द्वारा उसके व्यक्तित्व के उचित प्रस्फुटन के लिए शिक्षा द्वारा क्षमताएँ प्रदान की जा सकती हैं और उनमें परिवर्तन भी लाया जा सकता है।

अनेक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि यदि बालक अच्छे पर्यावरण में रखा जाता है तो उसकी मानसिक योग्यता बढ़ती है। वास्तव में बालक का अच्छा होना या बुरा होना वातावरण पर निर्भर रहता है। एक ही पिता का एक पुत्र विद्वान, दूसरा मूर्ख, तीसरा चोर और चौथा सच्चा मित्र निकलता है। यह बात वंशानुक्रम के साथ साथ पर्यावरण की भिन्नता के कारण होती है। यदि कोई बालक वंशपरम्परा से अत्यन्त प्रतिभावान रहता है, परन्तु यदि वह जंगली जानवरों के बीच रख दिया जाता है तो वह अपनी प्रतिभा का विकास नहीं कर पाता है। इसलिए माता-पिता और शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालक के व्यक्तित्व के उचित विकास के लिए उसे अच्छे से अच्छे वातावरण में रखने का प्रयास करे। यद्यपि बुद्धि वंशानुक्रम पर निर्भर रहती है परन्तु उसका विकास और अभिव्यक्ति पर्यावरण पर ही निर्भर रहती है। निम्न कोटि का मानसिक एवं आत्मिक विकास हीन प्रकार के पर्यावरण से प्रभावित होता है। व्यक्ति के गुण और उन्नति वंशानुक्रम और पर्यावरण पर निर्भर रहती है। अतः शिक्षक शाला को आकर्षक, शिक्षाप्रद, सुखद और प्राणवान बनाकर बालकों का विकास कर सकता है। इस प्रकार बालकों के विकास में वंशानुक्रम और पर्यावरण का सापेक्ष प्रभाव पड़ता है।

(३) परिपक्वीकरण तथा सीखने की उत्सुकता

मानव विकास मुख्यतः परिपक्वीकरण तथा सीखने पर निर्भर रहता है।

दोनों की पारस्परिक क्रिया से अनेक प्रकार के परिवर्तन उपस्थित होते हैं। बालक के जन्म के समय परिपक्वीकरण की प्रधानता रहती है। परन्तु जन्म के पश्चात् अभ्यास और सीखने की उद्यतता तथा उत्सुकता रहती है। मनोवैज्ञानिकों का इस विषय में मतभेद पाया जाता है कि परिपक्वीकरण जन्म जात प्रवृत्ति है अथवा अनुभव का परिणाम है। आसुवेल (१९५०) का मत है कि प्रजाति के लिए सामान्य शील गुणों में विकास जैसे—जान जाने की आशंका से उद्भूत भय वंशानुक्रम के प्रभाव के कारण होता है। व्यक्ति के लिए विचित्र शीलगुणों का विकास जैसे कुत्तों का भय और बिजली का भय प्रधानतः अनुभव से सीखने से उद्भूत होता है। ओलसन (१९५९) का कथन है कि शरीर में जो भी संस्थानगत दैहिक रासायनिक परिवर्तन होते हैं वे बालक को प्रौढ़ता की ओर अग्रेपित करते हैं। आगे चलकर उसका कहना है कि जो कुछ भी निर्माण करने वाली शक्तियाँ उसी समय परिवर्तन लाती हैं जबकि उसके लिए उचित वातावरण रहता है। परिपक्वीकरण के लिए पोषक द्रव्य की आवश्यकता है। और विकास क्रम के लिए परिपक्वीकरण की।

मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से यह पता चला है कि सीखने के विभिन्न रूप तब तक प्रकट नहीं होते जब तक कि बालक मांस-पेशियों स्नायु और दैहिक अनुपात के शारीरिक विकास तथा सीखने की रुचि व इच्छा से परिपूर्ण होकर तैयार व सक्षम नहीं होते। बालक में जब तक सीखने की उत्सुकता तथा उद्यतता नहीं जागृत होती तब तक किसी भी क्रिया में प्रशिक्षण व्यर्थ रहता है। जब वह सीखने के लिए उत्सुक रहता है, तब वह क्रिया के प्रति अधिक रुचि दर्शाता है। इसलिए हम देखते हैं कि विकास-क्रम परिपक्वीकरण और अभ्यास साथ-साथ चलते और कार्य करते हैं।

(४) अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ

व्यक्ति के शरीर में अनेक प्रणालीयुक्त बहिःस्रावी और प्रणालीविहीन अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ होती हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थियाँ रस का स्राव करती हैं और वे रस रक्त में मिलकर शारीरिक तथा मानसिक विकास को प्रभावित करती हैं। रस स्राव करने के कारण अन्तःस्रावी ग्रन्थियां कही जाती हैं। गलग्रन्थि, ग्रीवा-ग्रन्थि, यौनग्रन्थि, प्रभुत्व ग्रन्थि और अधिवृक्क (एड्रीनल) आदि ग्रन्थियाँ यदि ठीक ढंग से कार्य नहीं करती तो बालक या व्यक्ति का शारीरिक और मानसिक विकास रुक सा जाता है और व्यक्ति अनेक रोगों का शिकार हो जाता है। उदाहरण के लिए गलग्रन्थि (थायरायड) के स्राव (थाइराक्सिन) के अभाव में बालक बौना और मंदबुद्धि हो जाता है। लैंगिक ग्रन्थियों (सेक्स ग्लैन्डस्) की क्रियाशीलता में कमी

रहने से किशोरावस्था का पदार्पण देर से होता है। इन ग्रन्थियों के अधिक क्रियाशील होने से बच्चे में समय से पहले दाढ़ी मूंछे निकल आती हैं और उसमें लैंगिक परिपक्वता शीघ्र आ जाती है और उसकी आवाज भर्राने लगती है। पिनेल ग्रन्थि के अधिक क्रियाशील होने से बच्चों का सामान्य शारीरिक तथा मानसिक विकास रुक जाता है।

(५) बुद्धि

टरमन के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अधिकतर तीव्र बुद्धि के बालक मंद बुद्धि के बालकों की अपेक्षा शीघ्र चलने-फिरने, बोलने-चालने और सीखने लगते हैं। जैसे तीव्र बुद्धि का बालक ११ मास की आयु में, सामान्य बुद्धि का बालक १६ माह की आयु में और मंद बुद्धि का बालक ३४ माह की आयु में बोलना सीखता है। इसी प्रकार तीव्र बुद्धि वाले बालकों का मंद बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास तीव्र गति से होता है।

(६) लिंग-भेद

बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास पर लिंग-भेद का प्रभाव पड़ता है। जन्म के समय लड़का लड़की की अपेक्षा बड़े आकार का होता है परन्तु बाद में लड़कियों का शारीरिक विकास लड़कों की अपेक्षा तीव्र गति से होने लगता है और वे लड़कों से पहले परिपक्व हो जाती हैं। साथ ही उनमें यौन परिपक्वता लड़कों से पहले आ जाती है।

(७) आयु

आयु का भी बालक और बालिका के शारीरिक तथा मानसिक विकास पर असर पड़ता है। शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से कम आयु का बालक अधिक आयु के बालक से भिन्न होता है।

(८) पूर्वपक्वता

जो बच्चे पूर्व पक्वावस्था के पहिले पैदा होते हैं वे पक्वावस्था में पैदा हुए बालकों से शारीरिक, मानसिक तथा संवेगात्मक विकास में कमजोर पाये जाते हैं। इजमुजी (१९६३) ने पता लगाया कि जापान में पूर्णपक्व बालकों की अपेक्षा

समय से पहले पैदा होने वाले अकाल पक्व बालक ६ वर्ष की आयु तक सर्दी जुकाम तथा ज्वर से अधिक पीड़ित हुआ करते थे। लुवचेनको (१९६३) के अनुसार अकाल पक्व बालक जिनका जन्म के समय तीन पौंड और चार औंस वजन था उनका दस वर्ष की आयु तक अध्ययन किया गया। उक्त अध्ययन के आधार पर उसने यह निष्कर्ष निकाला कि इस दल की ६८ प्रति० में केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान और नेत्रों के विकार थे। उनके शरीर विकास का मन्दन बड़ा तीव्र था। वे सामाजिक तथा संवेगात्मक समस्याओं के शिकार थे और उनके व्यक्तित्व के शील-गुणों की यह विशेषता थी कि वे अपनी माताओं पर अधिक आश्रित थे।

(९) जन्म-क्रम

एडलर के मतानुसार जन्मक्रम का प्रभाव बालक के विकास-क्रम पर पड़ता है। जैसे — कुटुम्ब में सबसे पहले जन्म लेने वाले बालक की अपेक्षा दूसरे, तीसरे और चौथे बालक का विकास अपेक्षाकृत जल्द होता है। साथ ही परिवार में सबसे छोटे बालक का विकास प्रायः मंद गति से होता है।

(१०) भयंकर रोग तथा चोट

भयंकर रोग और आघात बाल-विकास में रोड़ा अटकाते हैं। हिविट (१९-५३) के कथनानुसार भयंकर रोगों से पीड़ित बालकों में लम्बाई की अभिवृद्धि में कमी देखी गई। ग्रिवलिय (१९५९) के अनुसार भयंकर रोग बालकों के शरीर में चयापचयी व्याघात पहुंचाते हैं। लम्बी बीमारी मांस-पेशियों को प्रभावित करती है और उनकी बाढ़ को रोकती है। फ्रीड (१९५३) के अनुसार दीर्घ स्थायी बीमारियाँ (जैसे मोतीझिरा, सन्धिवात ज्वर, मधुमेह) बालक के व्यक्तित्व की प्रगति तथा संवेगात्मक स्थायित्व में बाधा पहुंचाती हैं। उन रोगों के कारण वे चिड़चिड़े और विद्रोही हो जाते हैं और उनका शारीरिक विकास रुक जाता है। आघात भी बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास को प्रभावित करते हैं। मस्तिष्क सम्बन्धी पक्षाघात से बालकों के गामक नियंत्रण में बाधा पहुँचती है।

(११) शारीरिक दोष

बालकों के शारीरिक दोष उनकी खुली क्रियाओं को मर्यादित कर देते हैं और उनका सामाजिक विकास रोक देते हैं। उनकी पढ़ाई की प्रगति पर प्रभाव पड़ता है। ब्रकूइकशेन्क के अनुसार विकलांगों अर्थात अंधे, नंगे, लूले और बहरे आदि

व्यक्तियों में हीनता के भाव पाये जाते हैं। उनमें चिंता और तनाव रहता है। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास में बाधा पहुंचती है और उनके व्यवहारों में विचित्रता पाई जाती है।

(१२) संवेग

संवेगों में भय, क्रोध, चिंता, मनोदशा, व्यंग्य, हंसी मजाक आदि भी बालक के शारीरिक, मानसिक और संवेगात्मक विकास को प्रभावित करते हैं। लेविन और बाल्डविन (१९५९) के कथनानुसार भय और चिंता से मानसिक तनाव उत्पन्न होता है। इन संवेगों की अधिकता से बच्चों में या तो दब्बूपन या विद्रोही भावना का उद्रेक हो जाता है। व्यंग्य कसने और मजाक उड़ाने से बालक में उद्दण्डता का विकास होने लगता है। इस प्रकार इन संवेगों के दुरुपयोग से बालकों का संवेगात्मक संतुलन बिगड़ जाता है जिसके परिणाम स्वरूप उनके सांवेगिक विकास में विघ्न उपस्थित होता है।

(१३) पोषाहार

यह मानी हुई बात है कि भोजन या पोषाहार का बालक के स्वास्थ्य, विकास, विवृद्धि पर असर पड़ता है। कुपोषण तथा अपर्याप्त पोषण दोनों बालकों की शारीरिक तथा मानसिक बाढ़ को रोक देते हैं। सड़ा-गला भोजन तथा हानिकारक द्रव्यों के सेवन से दांत और आंखों में खराबी आ जाती है और अनेक प्रकार के चर्म रोग हो जाते हैं। पौष्टिक भोजन का अभाव तथा कुपोषण का प्रभाव अफ्रीका या भारत के बालकों के शारीरिक तथा मानसिक विकास पर कैसा पड़ता है इसकी खोज बाटरलो (१९५५) ने की। उसका निष्कर्ष है कि कुपोषण से बालकों के वजन और उनके ढांचे सम्बन्धी विकास में व्यतिरेक पाया गया और उनकी मांस-पेशियों में ढीलापन देखा गया। कुपोष्य बालकों में संवेगात्मक तनाव की स्थिति पाई गई और उनके मस्तिष्क की बाढ़ रुकने से उनके मानसिक विकास पर भी प्रभाव पड़ा (स्टाक और स्मिथ १९६३)। इसके सिवाय विश्राम, क्रिया-शीलता, निद्रा और थकान भी बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास पर अपना प्रभाव डालते हैं।

(१४) शुद्ध वायु तथा प्रकाश

शुद्ध वायु तथा प्रकाश से बालक के सामान्य स्वास्थ्य तथा परिपक्वता की अवस्था पर प्रभाव पड़ता है। इन दोनों के अभाव से बालक की बाढ़ या वृद्धि पर

असर पड़ता है। वह छोटे कद का रह जाता है और उसकी बुद्धि पैनी नहीं होने पाती तथा वह अनेक रोगों का शिकार हो जाता है।

(१५) प्रजातिय तथा वर्ण

टाइलर (१९६३) के अनुसार विभिन्न जातियों में प्रजातीय प्रभाव के कारण विभिन्नतायें पाई जाती हैं। अमेरिका के श्वेत लोगों की बुद्धि नीग्रो जाति के लोगों की अपेक्षा अच्छी होती है। उत्तरीय यूरोप की अपेक्षा भूमध्यसागरीय बच्चों का विकास अधिक तीव्र गति से होता है। केनेडी (१९६३) का मत है कि जातीय पक्षपात का व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पड़ता है। भिन्न-भिन्न जातियों में आकार, ढांचा तथा यौन सम्बन्धी परिपक्वता में जातीय असर तथा वातावरण के प्रभाव के कारण विभिन्नतायें पाई जाती हैं। मेग्री (१९३१) के अनुसार पूर्व वाली जातियाँ दुबली-पतली, कोमल और बुद्धिजीवी होती हैं, पर पश्चिम वाली जातियां अक्सर हट्टी-कट्टी, कठोर तथा परिश्रमी होती हैं।

(१६) संस्कृति

प्रत्येक संस्कृति में केन्द्रीय विचार-धारायें, रीति-रिवाज तथा परम्परायें भिन्न-भिन्न होती हैं। जैसे आर्य संस्कृति में अध्यात्मिकता तथा पाश्चात्य संस्कृति में भौतिकता की प्रधानता पाई जाती है। बाल-विकास में जातीय संस्कृति का बड़ा असर रहता है। इसलिए युंग का कथन है कि व्यक्ति के विकास में जातीय संस्कृति का बड़ा हाथ रहता है। यह देखा जाता है कि परिवार, शाला तथा समाज में बालक के व्यवहार अभिनतियाँ, मानदण्ड तथा विश्वास निरंतर संस्कृति विशेष के निर्देशों द्वारा ढलते हैं जिसमें कि वह पल कर बड़ा होता है।

(१७) सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति

बहुत बाल बच्चे वाले गृह, अधिक भीड़ वाले गृह, भग्न गृह, गृहों में महाभारतीय वातावरण, मादकता, कम जगह वाले घर, पारिवारिक गरीबी और अन्य असुविधा वाले गृह, बालकों की भावना और रुचियों के विकास पर प्रभाव डालते हैं। शहरी जीवन की टीम-टाम, वैभव तथा विलास और ग्रामीण जीवन की अभावग्रस्तता भी बालक के विकास क्रम को प्रभावित करती हैं। संसार के अनेक देशों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का अध्ययन करने वाले सुप्रसिद्ध समाज शास्त्री लेविस ने इस बात की पुष्टि की है।

(१८) मनोरंजन के साधन

चल चित्र, रेडियो, टेलीविजन, समाचार-पत्र और यौन साहित्य तथा वर्तमान काल के मनोरंजन के साधन भी बालक के शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक तथा नैतिक विकास को प्रभावित करते हैं। चल-चित्रों से बालक स्वास्थ्य को बिगाड़ते ही हैं, साथ ही साथ बाजारू प्रेम भरे अधिकांश अश्लील चल-चित्रों को देखकर वे अपना नैतिक आचरण भी बिगाड़ते हैं। साथ ही वे अधिक कल्पना-संकुल हो जाते हैं। बालक समाचार-पत्रों से सम्वेदनशीलता मोल लेते हैं और अश्लील यौन साहित्य के अध्ययन में अधिक रुचि लेकर नैतिक विकास का मार्ग अवरुद्ध करते हैं।

(१९) समाज तथा पाठशाला का वातावरण

समाज का दूषित व पवित्र वातावरण, शाला का वातावरण, उसकी दिन-चर्या, पाठ्यक्रम में खेलकूद की व्यवस्था, मनोरंजन के साधन और शिक्षकों का विद्या-र्थियों के प्रति व्यवहार ये सब बातें बालक के व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करती हैं। समाज तथा शाला के शुद्ध वातावरण से बालकों में वाञ्छनीय शील-गुणों का विकास होता है और इसके अभाव में उनके भौंड़े व्यक्तित्व का प्रस्फुटन होता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) विकास से आप क्या समझते हैं?

(२) निम्नलिखितों का अन्तर स्पष्ट कीजिए :—

क—विकास और विवृद्धि।

ख—विकास और परिपक्वीकरण।

ग—विकास और सीखना।

(३) विकास में परिपक्वता तथा प्रशिक्षण के महत्व को दर्शाइए।

(४) विकास की गति क्या है? विकास की गति को प्रभावित करने वाले कौन कौन से तत्व हैं? स्पष्ट कीजिए।

(५) विकास के विभिन्न कारण क्या हैं? इनकी संक्षेप में विवेचना कीजिए।

(६) विकास की प्रमुख विशेषताओं एवं नियमों का वर्णन कीजिए।

(७) मानव विकास किन-किन सिद्धांतों पर आधारित है? वर्णन कीजिए।

(८) वे कौन से तत्व हैं जो मानव विकास क्रम को प्रभावित करते हैं? विस्तार से इनकी चर्चा कीजिए।

(९) शिक्षा की दृष्टि से वंशानुक्रम तथा वातावरण का क्या सापेक्ष महत्व है? सप्रमाण उत्तर दीजिए।

(१०) बालक के मानसिक तथा सामाजिक विकास पर वंशानुक्रम और वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है ?

(११) वंशानुक्रम के भिन्न नियमों का उल्लेख कीजिए।

(१२) 'पिता के अर्जित गुण उसकी संतान में संक्रमित होते हैं' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ? पक्ष और विपक्ष में कारण सहित मत दीजिए।

(१३) एक ही माता-पिता की संतान एक से वातावरण में पलने पर भी विभिन्न व्यवहार क्यों करती है ? सकारण उत्तर दीजिए।

(१४) बालक की शिक्षा में वंशानुक्रम एवं वातावरण के स्थान का स्पष्ट वर्णन कीजिए।

(१५) संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

मेंडलवाद, वीजमेन का फल जीवाणु के निरन्तरता का सिद्धान्त और सांस्कृतिक युग का सिद्धान्त।

अध्याय ३

विकास की अवस्थाएँ

बच्चों के जीवन का अध्ययन करने से इस बात का पता चलता है कि उनके भिन्न-भिन्न आयु-स्तर पर विभिन्न तथा विशिष्ट प्रकार के विकास होते हैं और विकास का यह क्रम गर्भाधान से लेकर वृद्धावस्था तक अबाध गति से चलता रहता है। विकास की प्रत्येक अवस्था के अपने अपने लक्षण तथा विशेषताएँ होती हैं जो कि एक अवस्था से दूसरी अवस्था को विलग करती हैं। विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के बीच कोई ऐसी स्पष्ट सीमा रेखाएँ नहीं खीची जा सकती जो उन्हें एक दूसरे से अलग करे, कारण कि इनके विकास में क्रम हुआ करता है। फिर भी इन अवस्थाओं का वर्गीकरण विषय की स्पष्टता के लिए आवश्यक है अतः विकासात्मक प्रणाली को मुख्य सात अवस्थाओं में बाँटा गया है जो इस प्रकार हैं :—

(१) गर्भावस्था

यह गर्भाधान से लेकर जन्म होने तक की अवस्था है। यह अवस्था लगभग ९ महीने अथवा २८० दिन की होती है। पुरुष की जननेन्द्रिय में स्थित जीव-कोष अथवा शुक्राण्ड तथा स्त्री की जननेन्द्रिय स्थित जीव कोष अर्थात् डिम्ब के मधुर मिलन से गर्भ रह जाता है। माता के गर्भ में ९ महीने की अवधि में जीवाणु उर्वरीकरण के पश्चात् तीन प्रमुख अवस्थाओं से गुजरता है जैसे बीजावस्था, पिण्डावस्था और भ्रूणावस्था।

बीजावस्था. यह अवस्था गर्भाधान से लेकर २ सप्ताह की होती है। इसमें गर्भस्थ जीव अण्डे की आकृति का होता है। इसके जीवाणु में मूल-पित्रैक विद्यमान रहते हैं। इनके आकार में परिवर्तन नहीं होता, परन्तु इनकी आन्तरिक बनावट में अधिक परिवर्तन होता है। इस समय कोष-विभाजन की क्रिया चालू रहती है। इस समय यह माता के गर्भाशय के साथ नहीं चिपका रहता किन्तु उर्वरीकरण के १० दिन पश्चात् यह अपनी माता के गर्भाशय की दीवारों से सट जाता है। गर्भाशय से इसका सम्बन्ध एक नलिका द्वारा होता है। इसके चारों तरफ एक तन्तु-जाल

निर्माण हो जाता है और इस जाल द्वारा इसका भरण-पोषण और संरक्षण होता है और अण्डायु पराश्रयी हो जाता है ।

पिन्डावस्था. यह अवस्था दो सप्ताह से लेकर आठवें सप्ताह तक रहती है । इस अवस्था में कोष-समूह में तीन परतों का विकास हो जाता है जिसके आधार पर शरीर के विभिन्न अङ्गों का विकास सम्भव हो जाता है । वाह्य परत से त्वचा, नाखून, बाल, दाँत, ज्ञानतन्तुओं, ग्रन्थियों और स्नायु-मण्डल की रचना होती है, मध्य परत से मास-पेशियों, रक्त सन्चारी नाड़ियों और मल-मूत्र विसर्जित करने वाले भागों की हड्डियों, और अन्दर की परत से यकृत, फेफड़े, पाचन-ग्रन्थि, और थायराइड-पिण्ड आदि का विकास होता है । पिण्ड से सटी गर्भ-नलिका द्वारा इसे ओपजन तथा अन्य-पोपक तत्वों की प्राप्ति होती है तथा निःसार तत्वों का माता के रक्त द्वारा वहिर्गमन होता है । इस अवस्था में नाड़ी तन्त्र का तीव्र गति से विकास होता है । ८ सप्ताह के अन्त में यह पिन्ड लगभग दो इञ्च लम्बा और उसका वजन २ ग्राम के लगभग हो जाता है । प्रायः तीसरे सप्ताह से दिल के धड़कने की क्रिया शुरू हो जाती है । शरीर के अन्य अङ्गों की अपेक्षा सिर का विकास अधिक होता है । इसी समय आँख, कान, नाक, मुँह, ललाट और पलकों का निर्माण हो जाता है । इस अवस्था में असावधानी के कारण गर्भपात होने तथा पिण्ड की आकृति विगड़ने की अधिक सम्भावना रहती है ।

भ्रूणावस्था. यह अवस्था नवें सप्ताह से लेकर गर्भस्थ जीव के जन्म तक रहती है । इसमें पिण्डावस्था में बने हुए सभी अङ्गों का विकास होता है, परन्तु इस समय कोई नई आकृति का निर्माण नहीं होता । तीसरे माह से भ्रूण का भार लगभग १ औंस और लम्बाई साढ़े तीन इञ्च रहती है । जबकि जन्म समय तक उसकी लम्बाई १६-१७ इञ्च और भार ५-६ पौंड तक हो जाता है । इस समय भ्रूण रक्त-नाड़ियों से आवृत्त इस अवस्था से मूत्राशय अथवा गुर्दा कार्य करने लगता है और यकृत तथा आंतों में पित्त रस झरने लगता है । मान्स-पेशियां विकसित होने लगती हैं और स्वादेन्द्रिय का विकास भी होने लगता है । दांत, अंगुली और पैर स्वयं कार्य करने लगते हैं । गर्भ के चौथे मास में माता हाथ पैर के झटके गर्भ में अनुभव करने लगती है । शरीर का निचला भाग बड़ी तेजी से बढ़ने लगता है । पाँचवें मास में हाथ पैर के नाखून निकलने लगते हैं । छठवें महीने में आंखें और भौंहें बन जाती हैं और उनका खुलना भी प्रारम्भ हो जाता है और सातवें मास में भ्रूण के अन्दर हलचल करने और अन्य कार्य करने योग्य हो जाता है । आठवें और नवें महीने के बीच मानव शरीर का पूरा ढाँचा बनकर तैयार हो जाता है । इस अवस्था में अनेक प्रकार की सहज क्रियाओं का विकास होता है और सम्पूर्ण शारीरिक रचना आकार और जटिलता में वृद्धि को प्राप्त होती है । गैसेल के अनुसार भ्रूणावस्था में संवेदन-

शीलता का प्रारम्भ हो जाता है। गर्भस्थ शिशु में उष्ण तापक्रम की अपेक्षा शीतल तापक्रम की प्रतिक्रिया अधिक तीव्र होती है।

यह बात सर्वमान्य है कि गर्भावस्था में माता के भोजन, निरोगता, मदिरा सेवन, माता-पिता की आयु और संवेग आदि का गर्भस्थ शिशु के विकास पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। इस अवस्था में शारीरिक विकास बड़ी तीव्र गति से होता है।

(२) नवजात अवस्था

यह अवस्था जन्म से लेकर १४ दिन तक रहती है। इस अवस्था में बालक का कोई खास विकास नहीं होता। वह तो अपने नए वातावरण से समायोजन करने में लगा रहता है। सोने और रोने में अपना समय व्यतीत करता है। हरलाक ने इसे विश्राम की अवस्था कहा है।

(३) उत्तर शैशवावस्था

इस अवस्था की अवधि २ सप्ताह से लेकर २ वर्ष तक रहती है। इसमें शिशु बिल्कुल असहाय अवस्था में रहता है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर पूरी तरह निर्भर रहता है।

शैशवावस्था में शारीरिक और गामक विकास. शिशु की ऊँचाई १९ इन्च से लेकर ६ वर्ष की अवस्था तक ४० इन्च की हो जाती है और उसका औसत वजन ६ पौंड और ८ पौंड। शरीर के अवयवों में माथे का विकास सबसे अधिक होता है। जन्म से लेकर ६ वर्ष की आयु तक शिशु की शारीरिक वृद्धि बड़ी तेज रफतार से होती है। उसका वजन ४०-४५ पौंड हो जाता है। उसमें गामक विकास भी होता जाता है। वह क्रमशः लेटने, बैठने और चलने-फिरने लगता है। उसमें वस्तुओं के पास हाथ फैलाने और उन्हें पकड़ने की गति पाई जाती है। ६ वर्ष की अवस्था तक शिशु के शरीर के प्रायः सभी अवयव काम करने लगते हैं और उसके परिणाम-स्वरूप उसकी गति में संतुलन आ जाता है।

शैशवावस्था में मानसिक तथा संवेगात्मक विकास. इस अवस्था में कई प्रवृत्तियों का जन्म होता है। जैसे–निर्भरता, जिज्ञासा, तोड़-फोड़ और अनुकरण की प्रवृत्ति साथ ही साथ संग्रह करने की भी। जिज्ञासा और अनुकरण की प्रवृति बहुत प्रबल रहती है। शैशव काल कल्पनापूर्ण रहता है। शिशु का भाषा विकास आरम्भ हो जाता है। वह निरर्थक ध्वनियों और शब्द खण्डों का उच्चारण करने लगता है। आठवें महीने में बबलाने का विकास होता है। फिर वह एक शब्द के उच्चारण से

बहुत से अर्थ निकालने का प्रयास करता है। लगभग २ वर्ष की आयु में वह वाक्य बनाना आरम्भ कर देता है।

संवेगात्मक विकास की दृष्टि से उसमें क्रोध, भय, घृणा, प्रेम, ईर्ष्या-द्वेष और आश्चर्य, हर्ष आदि संवेगों का विकास होता है। उसके कार्य में रुकावट डालने और उसकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचने से शिशु क्रोधित हो उठता है। उसके भय प्रायः कारणरहित काल्पनिक रहते हैं। शिशु केवल प्यार ही नहीं चाहता, बल्कि अपने अस्तित्व का महत्व भी चाहता है।

शैशवावस्था में सामाजिक और व्यक्तित्व-विकास. नवजात शिशु में जन्म के समय कोई भी सामाजिक व्यवहार नहीं देखा जाता। जब वह निर्जीव और सजीव पदार्थों में अन्तर जानने लगता है तब उसमें सामाजिक व्यवहार प्रारम्भ होता है। ३ वर्ष की आयु में बच्चों में सहानुभूति और सामाजिक व्यवहार दिखलाई पड़ने लगते हैं। प्रतिद्वन्दिता की भावना भी बढ़ जाती है। मर्फी और न्यूकोम्ब के कथना-नुसार तीन से पांच वर्ष के बच्चों में अनेक प्रकार के व्यवहारों का उद्भव होता है। इस अवस्था में मित्र बनाने की लगन लग जाती है; परन्तु उसकी मैत्री क्षणिक होती है। जिस बात को या काम को लोग अच्छा कहते हैं उसे शिशु भी अच्छा कहता है और जिसे लोग बुरा कहते हैं वह भी उसे बुरा मानता है। आगे चलकर शिशु में सामूहिक खेल के प्रति रुचि जागृत हो जाती है।

शैशवावस्था में जीवन के प्रथम दो वर्षों मे वंशानुक्रम और पर्यावरण के प्रभाव से उनमें अनेक शीलगुणों, आदतों और व्यवहारों का विकास हो जाता है। माता-पिता, सगे-सम्बन्धी और समाज उनके व्यक्तित्व में योगदान देते है। माता-पिता के व्यक्तित्व का प्रभाव शिशु पर पड़े बिना नहीं रहता। इस अवस्था में सामाजिक समझ का भी विकास होता है।

(४) बाल्यावस्था

यह अवस्था ६ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में बालक सर्वप्रथम वातावरण के साथ समायोजन और नियन्त्रण करता है।

बाल्यावस्था में शारीरिक और गामक विकास. इस अवस्था में मांस-पेशियों का भार बड़ी तेजी से बढ़ता है। बालक की हड्डियां कड़ी हो जाती हैं। शरीर की मोटाई कम हो जाती है। दूध के दांत गिरना शुरू हो जाते हैं। बालक की ज्ञानेन्द्रियां पूर्ण अवस्था में विकसित हो जाती हैं। १२ वर्ष की अवस्था में आंतों और फेफड़ों का विकास हो जाता है। इस अवस्था में शारीरिक अनुक्रियायें अनियमित और असन्तुलित होती हैं। क्रन्दन और ध्वनियां भी होती हैं। संवेद--

नात्मक विकास के अन्तर्गत दृष्टि, श्रवण, स्वाद, घ्राण और त्वचा की भी संवेदना होती है। इस अवस्था में बालक अनेक कौशल सीखता है। इस समय सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, संयोजक शब्द और उपसर्ग और प्रत्यय का अधिक प्रयोग होता है।

बाल्यावस्था में मानसिक तथा संवेगात्मक विकास. इस अवस्था में बालक संकेतों के प्रभाव में बहुत रहता है और रचनात्मक वृत्ति का अधिक जोर रहता है। बालकों को प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए अधिक तीव्र उद्दीपकों की आवश्यकता पड़ती है। उसकी कल्पना में अन्धविश्वास और दिवा-स्वप्न का अधिक हाथ रहता है। उसकी स्मृति यान्त्रिक और क्षणिक होती है और अवधान की शक्ति बड़ी चञ्चल रहती है। उसकी चित्त वृत्ति बहिर्मुखी रहती है। कहानियों में बहुत रुचि रहती है। उसकी भाषा में सरल वाक्यों की प्रधानता रहती है।

इस अवस्था में संवेगशीलता अधिक रहती है जिसके फलस्वरूप भय, क्रोध, ईर्ष्या, स्नेह और हर्ष के संवेगों का अनुभव प्रमुख रूप से होता है। उसके डर अधिकतर भ्रान्ति के रूप में होते हैं। उसकी स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने से उसमें क्रोध उमड़ पड़ता है। इस अवस्था में स्व-लिंगीय प्रेम पाया जाता है।

बाल्यावस्था में सामाजिक तथा व्यक्तित्व विकास. इस अवस्था में बालक समाज से कुछ ग्रहण करता है और उसे कुछ प्रदान करता है। वह मित्रता को बहुत महत्व देने लगता है। वह किसी समुदाय का सदस्य बन जाता है। समुदाय या टोली के प्रति सब कुछ अर्पण करने के लिए तैयार रहता है। सामाजिकता की भावना के विकास के साथ साथ उसमें नैतिकता का भी विकास होने लगता है। वह सामाजिक दृष्टि से बहिर्मुखी रहता है।

इस समय बालक के व्यक्तित्व में आत्मचेतना, सामाजिकता, सामञ्जस्यता और सङ्गठिता का समावेश हो जाता है। परिस्थितियों और व्यक्तियों के सम्पर्क होने से बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है। माता-पिता के व्यक्तित्व का उस पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इस अवस्था में वीर-पूजा और नेतृत्व की भावना भी जागती है। इस समय वह समाज द्वारा अनुमोदित आदर्शों के अनुरूप अपने व्यक्तित्व को ढालने का उपक्रम करता है।

बाल्यावस्था में नैतिक विकास. इस अवस्था में बालक किसी कार्य के परिणाम को देखकर भले और बुरे की पहिचान करता है। उसके नैतिक विचार प्रायः आत्म-निष्ठ हुआ करते हैं। गलत काम करने पर वह अपने को दोषी नहीं ठहराता। इस समय उसे भले-बुरे का यथार्थ ज्ञान होने लगता है। वह अपने सम-वयस्कों के नैतिक मानकों से अपने को नीचे नहीं गिराना चाहता। कुछ बालकों में कई प्रकार के अनैतिक व्यवहार भी पाए जाते हैं जैसे : गाली बकना, चोरी करना, झूठ

बोलना, गाली बकना और स्कूल से भाग जाना आदि । इस समय उसमें अहम्-सम्प्रत्यय का विकास होता है ।

(५) किशोरावस्था

यह अवस्था लगभग १२-१३ वर्ष से लेकर १६-२१ वर्ष तक रहती है । इस अवस्था में अनेक शारीरिक, मानसिक और संवेगात्मक क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं । यह तूफान और कठिनाइयों की अवस्था कहलाती है ।

किशोरावस्था में शारीरिक और गामक विकास. लड़कों की लम्बाई १२.८ से शुरू होकर १५.३ में समाप्त होती है । भार लगभग ४५ प्रतिशत बढ़ जाता है । १६ वर्ष की अवस्था में किशोर का भार लगभग १४२ पौंड और किशोरी का भार १२१ पौंड होता है, आमाशय लम्बा हो जाता है और यकृत का भार बढ़ जाता है । हृदय का आकार भी बढ़ता है । यौन-ग्रन्थियाँ बड़ी तीव्र गति से विकसित होती हैं । १२६० ग्राम से अधिक मस्तिष्क का वजन हो जाता है । लड़कों की दाढ़ी-मूछें निकलने लगती हैं । लड़कियों के वक्षस्थल और कूल्हे बढ़ने लगते हैं और मुँह में मुँहासे निकलने लगते हैं । लड़कों की आवाज भारी होने लगती है; परन्तु लड़कियों की आवाज में कोमलता और मधुरता आने लगती है । लड़की में मासिक धर्म प्रारम्भ हो जाता है । उनमें लज्जाशीलता का भी प्रवेश हो जाता है । खेल, कूद तथा नाच-गाने के क्रियाकलापों में सीखने की प्रबल प्रेरणा के फलस्वरूप अधिक कौशलों का विकास होता है ।

किशोरावस्था में मानसिक और संवेगात्मक विकास. इस अवस्था में सीखने की शक्ति खूब बढ़ने लगती है । और निरीक्षण शक्ति और बुद्धि का अच्छा विकास हो जाता है । कल्पना की संकुलता के कारण नवकिशोर कल्पना-जगत में बहुत विचरण करने लगता है और दिवा-स्वप्न खूब देखने ल ता है । आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति बहुत तीव्र हो जाती है । वह इस समय स्वतन्त्र रहना पसन्द करता है । कोई भी बात तर्क की कसौटी पर कसकर मानता है । सूक्ष्म विचार समझने की योग्यता आ जाती है । इस अवस्था में रुचियाँ अधिक गहरी और स्थायी हो जाती हैं । उदाहरण के लिए छोटा बच्चा सभी खेलों में भाग लेना चाहता है और किशोर कुछ ही खेलों में भाग लेता है । इस अवस्था में किशोर काफी तर्क-वितर्क करने लगता है । इस अवस्था में घनिष्ठ मित्र-मण्डली छोटी हो जाती है ।

इस अवस्था में कई प्रकार के संवेग पाए जाते हैं जैसे भय और आकुलता, क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष, स्पर्धा, हर्ष, प्रेम और कामवृत्ति इत्यादि । सिरिल बर्ट के अनुसार इस अवस्था में कुछ किशोरों में अपराध प्रवृत्ति की ओर झुकाव होने लगता है ।

किशोर बहुत महत्वाकांक्षी हो जाता है । घुमक्कड़ी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है । इस अवस्था मे स्वतन्त्रता और संघर्ष की भावना प्रबल हो जाती है । इस अवस्था में किशोरों की चिन्ताएँ सामाजिक और आर्थिक ढङ्ग की होती हैं । विषम लिङ्गीय प्रेम की अभिव्यक्ति अधिक होने लगती है और काम प्रवृत्ति का ज्वारभाटा उठने लगता है । अनेक रुचियां बढ़ जाती हैं ।

किशोरावस्था में सामाजिक तथा नैतिक विकास. इस अवस्था में टोली और समूह का बहुत प्रभाव पड़ता है । इस अवस्था में किशोर मर्यादापूर्ण व्यवहार करने लगता है और समवय, समशील और समरुचि वाले मित्रों को चुनता है और अपने नेता की बात बहुत मानता है और उसे नेतागिरी की भी बीमारी हो जाती है । सामाजिक कार्यो में अधिक भाग लेने से उसकी सूझ-बूझ अच्छी हो जाती है । किशोर सामाजिक स्वीकृति का अधिक ध्यान रखने लगता है । समाज द्वारा अपनाए जाने पर वह सुखी और समायोजित होता है । इस अवस्था में वह सब तरह के लोगों से समायोजन करने लगता है ।

नैतिक मामलों में किशोर स्वयं अपना निर्णय देता है । अत: अनुभव की कमी के कारण ऊँचे आदर्श के अनुरूप उसका आचरण नही होता । वह माता-पिता या सम-वयस्कों के नैतिक आदर्शों को अक्सर नहीं मानता । वह झूठ बोलने और चोरी करने को नैतिक दृष्टि से इतना बुरा नहीं समझता । इस समय उसमें प्रौढ़ों की भाँति नैतिक परिपक्वता आने लगती है । समाज द्वारा दिये हुय दण्ड को वह बहुधा अनुचित समझता है ।

किशोरावस्था में व्यक्तित्व का विकास. परिवार तथा समाज द्वारा अपनाये जाने के कारण नवकिशोर को व्यक्तित्व के सुधारने के लिए प्रबल प्रेरणा प्राप्त होती है । वह सारे समाज का अनुमोदन और स्वीकृति चाहता है । कपड़े, लत्ते और वेश-भूषा भी उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करती है । उसके मन में संवेगात्मक स्थिरता आने लगती है । समाज द्वारा स्वीकृति, समूह का सांस्कृतिक मानक तथा महत्वाकांक्षाएँ नवकिशोर के व्यक्तित्व पर अपनी छाप छोड़ती हैं । इस अवस्था में अहम्-संप्रत्यय का विकास होता है । इस अवस्था में किशोर के व्यक्तित्व लक्षणों में अधिक स्थायित्व और स्थिरता आने लगती है । किशोर अपने साहस, वीरता और निडरता के प्रदर्शन करने लगता है ।

(६) प्रौढ़ावस्था

इस अवस्था की अवधि २१ वर्ष से लेकर ६० वर्ष तक रहती है । इस अवस्था में प्रौढ़ की शारीरिक क्षमता २५ वर्ष के लगभग शिखर पर पहुंच जाती है । इस

अवस्था में मानसिक योग्यताएँ इतनी बढ़ जाती हैं कि प्रौढ़ वस्तुओं की तुलना करने और तुलना के आधार पर अनुमान लगाने और सीखी हुई बातों का स्मरण करने और अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करने के योग्य हो जाता है। इस अवस्था में प्रौढ़ अक्सर रूढ़िवादी हो जाता है। इस समय संवेगात्मक तनाव के कारण प्रौढ़ों को अर्थ, स्वास्थ्य, परिवार और दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी चिन्ताएँ अधिक सताने लगती हैं। वह अधिक तुनुक-मिजाजी और विद्रोही तबियत का हो जाता है। उसे अपनी आकृति सुधारने की बहुत चिन्ता रहती है। इस काल में स्त्रियाँ पुरुष को आकर्षित करने के लिए अधिक साज-शृङ्गार करती हैं। धार्मिक बातों में रुचि भी बढ़ जाती है। इस समय वह मित्रों का चुनाव समान रुचियों के आधार पर करता है।

४० वर्ष की आयु के पश्चात् प्रौढ़ में शारीरिक तथा मानसिक स्फूर्ति में क्षीणता आने लगती है और उसकी संवेदन शक्ति और गामक क्रियाओं में भी कमी आने लगती है। उसकी पेशियाँ तन-सी जाती हैं। इस अवस्था में उपलब्धियों की कमी हो जाती है। इस अवस्था में उदासीनता, विषाद और शोक-चिन्ता आदि अधिक बढ़ जाती हैं। चेहरे, गर्दन, भुजा आदि में झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं और त्वचा कुछ ढीली और पीली पड़ जाती है, ग्रन्थियों में कुछ ढीलापन आने लगता है। दृष्टि में कमजोरी आने लगती है। हरलाक के अनुसार ४० वर्ष की आयु में चापलूसी अच्छी लगने लगती है। इस समय शारीरिक दोषों को छिपाने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। पैसे में रुचि अधिक बढ़ जाती है। वह फिजूल खर्ची पसन्द नहीं करता। नागरिक बातों में वह सक्रिय भाग लेने लगता है। साथ ही राजनैतिक वाद-विवाद करने और राजनैतिक समाचार-पत्रों के पढ़ने में दिलचस्पी लेने लगता है। वह खेल-कूद या वन-विहार की बजाय शान्ति से पढ़ने और रेडियो सुनने में समय बिताना पसन्द करता है। इस अवस्था में सामाजिक समायोजन की तीव्र इच्छा हो जाती है जिसके फलस्वरूप वह समाज की पसन्दगी और नापसन्दगी का खूब ख्याल रखने लगता है।

(७) वृद्धावस्था

यह अवस्था ६० वर्ष की आयु से लेकर मृत्युपर्यन्त चलती है। यह आराम और शान्ति की अवस्था है। इस अवस्था में शरीर टूटने लगता है और मानसिक शक्ति में अस्त-व्यस्तता आने लगती है। इसलिए कहा जाता है कि ६० वर्ष की आयु में मनुष्य अक्सर सठिया जाता है। इसलिए इसकी एक कहावत भी है कि 'साठा सो पाठा'। वृद्ध समाज और परिवार का बोझ समझा जाने लगता है इसलिए समाज और परिवार उसकी परवाह करना छोड़ देते हैं। इस अवस्था में शारीरिक ह्रास हो जाता है और ज्ञानेन्द्रियों तथा जननांगों की उपयोगिता घट जाती है। स्मृति जवाब देने लगती है। कमर, कन्धे कुछ झुक-से जाते हैं। नेत्रों से कम दिखाई

किशोर बहुत महत्वाकांक्षी हो जाता है। घुमक्कड़ी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इस अवस्था में स्वतन्त्रता और संघर्ष की भावना प्रबल हो जाती है। इस अवस्था में किशोरों की चिन्ताएँ सामाजिक और आर्थिक ढङ्ग की होती हैं। विषम लिङ्गीय प्रेम की अभिव्यक्ति अधिक होने लगती है और काम प्रवृत्ति का ज्वारभाटा उठने लगता है। अनेक रुचियां बढ़ जाती हैं।

किशोरावस्था में सामाजिक तथा नैतिक विकास. इस अवस्था में टोली और समूह का बहुत प्रभाव पड़ता है। इस अवस्था में किशोर मर्यादापूर्ण व्यवहार करने लगता है और समवय, समशील और समरुचि वाले मित्रों को चुनता है और अपने नेता की बात बहुत मानता है और उसे नेतागिरी की भी बीमारी हो जाती है। सामाजिक कार्यों में अधिक भाग लेने से उसकी सूझ-बूझ अच्छी हो जाती है। किशोर सामाजिक स्वीकृति का अधिक ध्यान रखने लगता है। समाज द्वारा अपनाए जाने पर वह सुखी और समायोजित होता है। इस अवस्था में वह सब तरह के लोगों से समायोजन करने लगता है।

नैतिक मामलों में किशोर स्वयं अपना निर्णय देता है। अतः अनुभव की कमी के कारण ऊँचे आदर्श के अनुरूप उसका आचरण नही होता। वह माता-पिता या सम-वयस्कों के नैतिक आदर्शों को अक्सर नहीं मानता। वह झूठ बोलने और चोरी करने को नैतिक दृष्टि से इतना बुरा नहीं समझता। इस समय उसमें प्रौढ़ों की भाँति नैतिक परिपक्वता आने लगती है। समाज द्वारा दिये हुय दण्ड को वह बहुधा अनुचित समझता है।

किशोरावस्था में व्यक्तित्व का विकास. परिवार तथा समाज द्वारा अपनाये जाने के कारण नवकिशोर को व्यक्तित्व के सुधारने के लिए प्रबल प्रेरणा प्राप्त होती है। वह सारे समाज का अनुमोदन और स्वीकृति चाहता है। कपड़े, लत्ते और वेश-भूषा भी उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। उसके मन में संवेगात्मक स्थिरता आने लगती है। समाज द्वारा स्वीकृति, समूह का सांस्कृतिक मानक तथा महत्वाकांक्षाएँ नवकिशोर के व्यक्तित्व पर अपनी छाप छोड़ती हैं। इस अवस्था में अहम्-संप्रत्यय का विकास होता है। इस अवस्था में किशोर के व्यक्तित्व लक्षणों में अधिक स्थायित्व और स्थिरता आने लगती है। किशोर अपने साहस, वीरता और निडरता के प्रदर्शन करने लगता है।

(६) प्रौढ़ावस्था

इस अवस्था की अवधि २१ वर्ष से लेकर ६० वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में प्रौढ़ की शारीरिक क्षमता २५ वर्ष के लगभग शिखर पर पहुंच जाती है। इस

अवस्था में मानसिक योग्यताएँ इतनी बढ़ जाती हैं कि प्रौढ़ वस्तुओं की तुलना करने और तुलना के आधार पर अनुमान लगाने और सीखी हुई बातों को स्मरण करने और अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करने के योग्य हो जाता है। इस अवस्था में प्रौढ़ अक्सर रूढ़िवादी हो जाता है। इस समय संवेगात्मक तनाव के कारण प्रौढ़ों को अर्थ, स्वास्थ्य, परिवार और दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी चिन्ताएँ अधिक सताने लगती हैं। वह अधिक तुनुक-मिजाजी और विद्रोही तबियत का हो जाता है। उसे अपनी आकृति सुधारने की बहुत चिन्ता रहती है। इस काल में स्त्रियाँ पुरुष को आकर्षित करने के लिए अधिक साज-श्रृङ्गार करती हैं। धार्मिक बातों में रुचि भी बढ़ जाती है। इस समय वह मित्रों का चुनाव समान रुचियों के आधार पर करता है।

४० वर्ष की आयु के पश्चात् प्रौढ़ में शारीरिक तथा मानसिक स्फूर्ति में क्षीणता आने लगती है और उसकी संवेदन शक्ति और गामक क्रियाओं में भी कमी आने लगती है। उसकी पेशियाँ तन-सी जाती हैं। इस अवस्था में उपलब्धियों की कमी हो जाती है। इस अवस्था में उदासीनता, विषाद और शोक-चिन्ता आदि अधिक बढ़ जाती हैं। चेहरे, गर्दन, भुजा आदि में झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं और त्वचा कुछ ढीली और पीली पड़ जाती है, ग्रन्थियों में कुछ ढीलापन आने लगता है। दृष्टि में कमजोरी आने लगती है। हरलाक के अनुसार ४० वर्ष की आयु में चापलूसी अच्छी लगने लगती है। इस समय शारीरिक दोषों को छिपाने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। पैसे में रुचि अधिक बढ़ जाती है। वह फिजूल खर्ची पसन्द नहीं करता। नागरिक बातों में वह सक्रिय भाग लेने लगता है। साथ ही राजनैतिक वाद-विवाद करने और राजनैतिक समाचार-पत्रों के पढ़ने में दिलचस्पी लेने लगता है। वह खेल-कूद या वन-विहार की बजाय शान्ति से पढ़ने और रेडियो सुनने में समय बिताना पसन्द करता है। इस अवस्था में सामाजिक समायोजन की तीव्र इच्छा हो जाती है जिसके फलस्वरूप वह समाज की पसन्दगी और नापसन्दगी का खूब ख्याल रखने लगता है।

(७) वृद्धावस्था

यह अवस्था ६० वर्ष की आयु से लेकर मृत्युपर्यन्त चलती है। यह आराम और शान्ति की अवस्था है। इस अवस्था में शरीर टूटने लगता है और मानसिक शक्ति में अस्त-व्यस्तता आने लगती है। इसलिए कहा जाता है कि ६० वर्ष की आयु में मनुष्य अक्सर सठिया जाता है। इसलिए इसकी एक कहावत भी है कि 'साठा सो पाठा'। वृद्ध समाज और परिवार का बोझ समझा जाने लगता है इसलिए समाज और परिवार उसकी परवाह करना छोड़ देते हैं। इस अवस्था में शारीरिक ह्रास हो जाता है और ज्ञानेन्द्रियों तथा जननांगों की उपयोगिता घट जाती है। स्मृति जवाब देने लगती है। कमर, कन्धे कुछ झुक-से जाते हैं। नेत्रों से कम दिखाई

श्रौर कानों से कम सुनाई पड़ने लगता है। जबान लड़खड़ाने लगती है। सिर के बाल कम होने लगते हैं। दाँत हिलने या टूटने लगते हैं। गाल झुर्रियों के कारण लटक से जाते हैं।

रक्त में गर्मी की कमी हो जाती है और ज्ञानेन्द्रियों की कुशलता घट जाती है। गति सम्बन्धी अनुक्रियायों में भौडापन आ जाता है। जरा से परिश्रम करने से शारीरिक तथा मानसिक थकावट आने लगती है। नींद कम आती है और पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है। समायोजन की कठिनाइयां अपनी चरमावस्था में रहती हैं। नाती-नत्रों को खिलाने-पिलाने, खूब लाड़-प्यार करने में अधिक रुचि दिखाई पड़ने लगती है। मानसिक क्षमताएँ बहुत घट जाती हैं। जल्दी सोचने की शक्ति कम हो जाती है। भुलक्कड़पन आ धमकता है। शारीरिक और मानसिक क्षीणता के कारण वृद्ध की उपलब्धियों में ह्रास हो जाता है। वृद्ध की रुचियां कम हो जाती हैं, पर जीवन का मोह बहुत बढ़ जाता है और वह मरना नहीं चाहता। जीभ चटोरी हो जाती है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति बूढ़ा होता है त्यों-त्यों उसमें अपनी तबियत की चिन्ता बहुत बढ़ जाती है। रुपए-पैसे में बहुत रुचि हो जाती है। धर्म की ओर भी रुचि अधिक बढ़ जाती है और यह रुचि स्त्रियों में अधिक पाई जाती है। वृद्ध अपनी पूर्व की उपलब्धियों को बखानने में अपनी शान समझने लगता है। आर्थिक स्थिति, स्वास्थ्य और रहन-सहन के आधार पर उसकी मनोरञ्जन की रुचियाँ रहती हैं। उसकी मनोरञ्जन की रुचियां अक्सर, पत्र लिखना, सिनेमा या नाटक जाना, दूसरों के घर जाना, छोटे बच्चों को खिलाना, बागवानी करना, रेडियो सुनना, समाचार-पत्र पढ़ना और धार्मिक कार्यों में भाग लेने आदि में अधिक रहती हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) गर्भावस्था से लेकर जन्म तक की अवस्थाओं का वर्णन कीजिये।

(२) गर्भस्थ जीव के विकास को कौन-कौन से तत्व प्रभावित करते हैं ?

(३) नवजात शिशु के विकास का वर्णन कीजिये।

(४) विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा उनकी विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।

(५) संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये—

(अ) गर्भस्थ जीव पर माता का प्रभाव।

(ब) नवजात शिशु और संवेदनशीलता।

(स) वृद्धावस्था की विशेषताएँ।

अध्याय ४

शारीरिक विकास

शारीरिक विवृद्धि एवं विकास मानव के व्यवहारों को प्रभावित करता है। शारीरिक विकास को पांच अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है। जैसे :— गर्भावस्था, नवजात अवस्था, शैशवावस्था, बाल्यावस्था और किशोरावस्था। शरीर के विकास का रूप सदा एक सा नहीं रहता। विकास चक्र में उतार-चढ़ाव रहता है। मेरीडिथ के अनुसार प्रथम दो वर्षों में शारीरिक विकास बड़ी तीव्र गति से होता है। द्वितीय वर्ष से लेकर ११ वें वर्ष की अवधि में यह विकास गति कुछ धीमी सी पड़ जाती है। ११ वें से १५ वें वर्ष तक पुनः विकास की गति तीव्र हो जाती है। पन्द्रहवें वर्ष से लेकर उन्नीस वर्ष की अवस्था तक वह फिर धीमी पड़ जाती है। क्रो और क्रो के अनुसार शारीरिक विकास के अन्तर्गत मानव शरीर रचना के दो स्वरूपों का अध्ययन किया जा सकता है जैसे :—शरीर संरचनागत (एनाटामीकल) और दैहिक (फिजियालाजिकल)। शरीर संरचना के अन्तर्गत अस्थि-पंजर, विवृद्धि, हड्डियों का विकास, ऊँचाई और वजन में परिवर्तन, फिर सिर, पैर, भुजा का विकास आदि हैं। दैहिक पक्ष के अन्तर्गत अन्तरावयीव परिवर्तन जैसे श्वास क्रिया, रक्त-संचार संस्थान, पाचन क्रिया, स्नायुमंडल का विकास, अंतःश्रावी ग्रंथियों का विकास आदि सम्मिलित हैं।

शारीरिक विकास तथा ह्रास में वंशानुक्रम तथा वातावरण के विभिन्न तत्वों का प्रभाव पड़ता है। इनमें वैयक्तिक विभिन्नतायें पाई जाती हैं। शारीरिक विकास के अध्ययन के लिए दो प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है—जैसे प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली और आवधिक प्रणाली। प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली में विभिन्न आयु के बालकों के एक बड़े समूह का अध्ययन किया जाता है। आवधिक प्रणाली में भिन्न भिन्न समय के व्यवधान. से उसी बालक का बार बार अध्ययन किया जाता है और उसकी शारीरिक विकास गति को समझने का प्रयास किया जाता है। यह प्रणाली अधिक प्रमाणिक मानी जाती है। शरीर के प्रत्येक अंग के विकास के अपने अलग अलग नियम होते हैं और उनके विकास तथा ह्रास का अपना अपना समय

होता है। उदाहरणार्थ शरीर के निचले अंग की अपेक्षा ऊपरी अंगों का विकास शीघ्रता से होता है। धड़ की अपेक्षा सिर जल्दी बढ़ता है। शारीरिक विकास परिपक्वावस्था तक जारी रहता है।

ऊंचाई और भार

नवजात शिशु की ऊंचाई १७ से लेकर २२ इंच तक होती है। स्टुअर्ट, मेरीडिथ, स्टोल्ज तथा वायले के अनुसार १ वर्ष के बाद बच्चे की ऊंचाई २७ इंच से लेकर २६ इंच तक हो जाती है। छः वर्ष की आयु मे शिशुओं की ऊचाई ४० इंच रहती है। १२ वर्ष की अवस्था तक यह ऊंचाई ५५-५८ इंच तक हो जाती है। बारहवें और तेरहवें वर्ष में लड़कियां लड़कों से अधिक ऊंची हो जाती हैं। किशोरावस्था में ऊंचाई में तीव्र गति से परिवर्तन होता है। १८ या १६ वर्ष की अवस्था तक यह ऊँचाई ६२ से लेकर ७२ इंच तक पहुंच जाती है। किशोरियों की ऊँचाई इतनी नहीं होती। २५ वर्ष की आयु के पश्चात् यह ऊंचाई नहीं बढ़ती। बच्चे, बच्चियों की ऊँचाई पर वंशानुक्रम, जाति, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति, पौष्टिक भोजन और रहन-सहन आदि का काफी प्रभाव पड़ता है। महाराष्ट्रीय बालकों से पंजाबी बालकों की औसत ऊंचाई अधिक होती है। मैरीडिथ के अनुसार गरीब कुटुम्ब के बच्चों की ऊंचाई धनी व सुखी परिवार के बच्चों से कुछ कम होती है।

जन्म के समय नवजात शिशु का शरीर-भार ५ पौंड से लेकर ८ पौंड तक होता है। साधारणतया जन्म के समय बच्चियां बच्चों से प्रायः कम भार वाली होती हैं। १ वर्ष में यह भार तिगुना हो जाता है। गैसेल के अनुसार दूसरे तीसरे वर्ष में ३ से लेकर ५ पौंड तक सालाना वजन बढ़ता है। ५ वर्ष की अवस्था में बच्चा ३५-४० पौंड का हो जाता है और ६ वर्ष की आयु में ४०-४५ पौंड का तथा १२ वर्ष की आयु में ८५-६० पौंड का हो जाता है। किशोरावस्था में वजन बढ़ता है और १६ वर्ष की आयु में यह ११५-१२० पौंड तक हो जाता है। वजन का बढ़ना स्थायी नहीं रहता। यह ५० वर्ष की आयु तक बढ़ता ही जाता है। इसके अतिरिक्त ९, १० वर्ष तक लड़की की अपेक्षा लड़के का भार अधिक तेजी से बढ़ता है। परन्तु १३-१४ वर्ष की अवस्था में लड़कियों की छातियाँ और कूल्हे बढ़ने से उनका शरीर-भार लड़कों की अपेक्षा अधिक होता है। हालिंगवर्थ के अनुसार वुद्धिमान बालक अन्य बालकों की अपेक्षा अधिक भार वाले होते हैं। किशोरावस्था में किशोर, किशोरियों की अपेक्षा अधिक भार वाले हो जाते हैं।

शरीर भार में भी व्यक्तिगत विभिन्नतायें, वंशानुक्रम, जाति, सामाजिक-आर्थिक स्थिति और पोषाहार आदि के कारण होती हैं। मेरीडिथ (१९५७) के अनुसार

अच्छी सामाजिक-आर्थिक स्थिति वाले बालक खराब सामाजिक-आर्थिक स्थिति वाले बालकों से अधिक भार वाले होते हैं। अस्थियों का मांस-पेशियों, चर्बी तथा नाड़ीतंत्र का विकास शारीरिक अनुपात व बनावट आदि के कारण होता है। जैसे शैशवावस्था में भार में अभिवृद्धि मस्तिष्क तथा मर्म अवयवों के और किशोरावस्था में अस्थियों और मांस-पेशियों के विकास के कारण होती है।

स्वरोच्चारण

जन्म के समय नवजात शिशु क्रन्दन करता है। यह क्रन्दन तीव्र और शक्तिशाली होता है। प्रायः भूख, पीड़ा, बेचैनी आदि के कारण शिशु क्रन्दन करता है। रोने के अतिरिक्त नवजात शिशु विस्फोटन ध्वनि भी करते हैं जिसमें गूंगूं, कूं कूं, गर्गाहट और घर्घाहट की आवाज निकलती है। जन्म के ५ मिनट के पश्चात् जम्हाई की ध्वनि सुनाई पड़ती है। फिर हिचकी की ध्वनि जो जीवन के पहिले काल में शुरू हो जाती है।

सिर और मुखाकृति का विकास

जन्म के समय शिशु के सिर की व्यास परिधि १२-१४ इंच रहती है। जन्म के समय मस्तिष्क का भार लगभग ३५० ग्राम और प्रौढ़ावस्था तक १२००-१४०० ग्राम तक हो जाता है। बच्चों का सिर बच्चियों के सिर की अपेक्षा बड़ा होता है। जन्म के समय सिर का भार पूरे शरीर के भार का २२ प्रतिशत होता है। वाशवाशवनेस (१९५९) का कथन है कि प्रथम वर्ष में ३५ प्रतिशत और पांचवें वर्ष तक ४८ प्रतिशत सिर का भार बढ़ जाता है। बारहवें वर्ष में १० और अठारहवें वर्ष में ८ प्रतिशत तक बढ़ पाता है। परिपक्वावस्था तक सिर में दुगुनी अभिवृद्धि हो जाती है। जन्म के समय शिशु के सिर की खोपड़ी बड़ी होती है और मुखाकृति की परिधि कम होती है। इस समय हेमरेन्ड (१९५३) के अनुसार चेहरे और खोपड़ी में १:८ का अनुपात रहता है। ५ वर्ष की अवस्था में यह अनुपात १:५ का और परिपक्वावस्था में १:२.५ का होता है। जन्म से किशोरावस्था तक खोपड़ी का विकास मन्द गति से होता है और तरुणावस्था के पश्चात् का विकास रुक जाता है। शैशवावस्था में मस्तिष्क, नेत्र-गोलक, पूर्व बाल्यावस्था में वायु-शिरानाल तथा उत्तर बाल्यावस्था और किशोरावस्था में दांतों के निकलने और मांस-पेशियों की अभिवृद्धि से सिर के अनुपातिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। जन्म के समय सिर का ऊपरी भाग मुखाकृति की तुलना में बड़ा प्रतीत होता है। ८ या ९ महीने के पश्चात् चेहरे का निचला भाग ऊपरी भाग की अपेक्षा अधिक बढ़ता है। क्रोगमेन (१९३९) के अनुसार जन्म से लेकर ६ वर्ष की अवस्था तक चेहरे का निचला भाग

शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में दाँत न होने के कारण छोटा होता है। प्रथम ७ वर्ष में चेहरे की हड्डियों का विकास हो जाता है। किशोरावस्था तक माथा चपटा और चेहरा अण्डाकार दिखाई पड़ने लगता है।

जन्म के समय शिशु की नाक चौड़ी, चपटी और बेडौल होती है परन्तु नाक की उपास्थि ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों उसमें सुडौलपन आने लगता है। १३ या १४ वर्ष की अवस्था तक नाक का पूर्ण रूप से विकास हो जाता है। जन्म के समय तथा उसके बाद भी शिशु के सिर के बाल बहुत मुलायम रहते हैं परन्तु धीरे धीरे वे कड़े होने लगते हैं और प्रौढ़ावस्था तक उनमें सख्ती आ जाती है।

धड़

बेले और डेविस के अनुसार बालक की प्रारम्भिक अवस्था में शरीर के साधारण आकार और अनुपात में बहुत बड़ा परिवर्तन होता है। शैशवावस्था में धड़ बेडौल रूप से बढ़ता है। इस समय उसके शरीर-भार में ऊँचाई की अपेक्षा अधिक अभिवृद्धि होती है। ६ वर्ष की अवस्था में उसके धड़ की लम्बाई तथा चौड़ाई में दुगुनी वृद्धि हो जाती है। इसके पश्चात् उसके शरीर में दुबलापन आ जाता है और किशोरावस्था में चौड़ाई बढ़ जाती है और लम्बाई में लगभग ५० प्रतिशत वृद्धि हो जाती है। किशोरावस्था के आते आते छाती चौड़ी-चकली और लम्बी हो जाती है और कूल्हे बढ़ जाते हैं।

भुजा तथा पैर का विकास

जन्म के समय शिशुओं के पैर छोटे और हाथ लम्बे होते हैं और साथ ही साथ उनके हाथ के पंजे भी। परन्तु ज्यों-ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती है त्यों-त्यों उनके हाथ-पैर बढ़ते चले जाते हैं। जन्म से लेकर दूसरे वर्ष तक उनकी भुजाएँ और हाथ लगभग ७५ प्रतिशत और पैर लगभग ४० प्रतिशत बढ़ते हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में भुजा भारी रहती है और पैरों का विकास मन्दगति से होता है। ८ वर्ष की अवस्था में हाथ ५० प्रतिशत बढ़ते हैं। ८ से १८ वर्ष की अवस्था में भुजाओं की विकास गति धीरे धीरे बढ़ जाती है, परन्तु पैर चौगुने और परिपक्वावस्था में पांच गुने बढ़ जाते हैं। विकास की अवधि में हाथ और पैर पतले होते हैं, पर विकास की अवस्था में वे मांसल हो जाते हैं। लड़कियों की अपेक्षा लड़कों के पैर के आकार अक्सर बड़े होते हैं।

अस्थियों का विकास

एक्सरे परीक्षा के आधार पर वायले, फ्लोरी और टाड आदि ने यह निष्कर्ष निकाला है कि शिशु की प्रारम्भिक अवस्था में अस्थियों का विकास बड़ी तीव्र गति से होता है। वाल्यावस्था में उनके विकास की गति कुछ धीमी पड़ जाती है। परन्तु किशोरावस्था में वह पुनः जोर पकड़ लेती है। तरुणावस्था में हाथ पैर और कूल्हों की हड्डियां विशेष रूप से बढ़ती हैं। चेहरे की हड्डियां बढ़ने से चेहरे में परिवर्तन हो जाता है। जन्म के पश्चात् शिशु मे २७० छोटी, लचीली और कोमल हड्डियां होती हैं। १३-१४ वर्ष की अवस्था तक उनकी संख्या ३५० तक बढ़ जाती है और प्रौढ़ावस्था में आपस में मिलने के कारण इनकी संख्या घटकर २०६ रह जाती है। पहिले पहल उपास्थि से हाथ-पैर की हड्डियों का निर्माण होता है। शिशुओं की मुलायम और लचीली अस्थियों में जल की मात्रा अधिक होती है तथा प्रोटीन के समान तत्व तथा खनिज पदार्थ की मात्रा कम होती है। बालक की हड्डियों की संख्या और बनावट में वयस्कों की अस्थियों से भिन्नता रहती है। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है त्यों-त्यों उनमें कड़ापन आने लगता है। चूना, फासफरस और खनिज लवण के कारण हड्डियों में कड़ापन आता है। एपिपाइसिस पर्शुकाशिखरतल के विलयन से लम्बी हड्डियों की बाढ़ मारी जाती है। ग्रलिथ और पारले (१९३९) के अनुसार गम्भीर बीमारी तथा कुपोषण आदि के कारण हड्डियों का विकास सुचारु रूप से नहीं होने पाता। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की कलाई की हड्डियां अधिक कोमल और लचीली होती हैं। लचीले होने के कारण असावधानी से हड्डियों में दोष आ सकते हैं। बचपन में छोटे जूते पहनने से पैर की हड्डियों की बाढ़ मारी जाती है इसके फलस्वरूप इनका आकार बिगड़ जाता है कमर झुकाकर लगातार बैठने से रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो सकती है।

दाँतों का विकास

सामान्यतः ६ से ८ मास की आयु के बीच दांत निकलते हैं। दांत निकलते समय बच्चे को अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं। कभी-कभी हरे-पीले दस्त आते हैं, भूख मर जाती है और उनमें चिड़चिड़ापन आ जाता है। बालकों के दो प्रकार के दांत निकलते हैं—एक अस्थायी या दूध के दांत और दूसरे स्थायी दांत। दूध के दांतों की संख्या २० और स्थायी दांतों की संख्या ३२ रहती है। ३ वर्ष की आयु तक अस्थायी दांत पूर्ण रूप से निकल आते हैं। क्लीन और पामर के अनुसार ६ वर्ष की आयु में स्थायी दांतों का निकलना आरम्भ होता है और उसी समय से अस्थायी दांतों का गिरना शुरू हो जाता है। ८ वर्ष की आयु में १७ दांत, १० वर्ष की आयु में लगभग १५ दांत और १२ वर्ष की अवस्था में २५ दांत

निकल आते हैं। १३ या १४ वर्ष की आयु में प्राय: सभी स्थायी दांत निकल आते हैं। विवेक दांत (विसडम टूथ) या अकिल डाढ़ २०-२५ वर्ष की आयु में निकलती है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के दांत पहिले निकलते हैं। दांतों के विकास के लिए केल्सियम, फासफरस, विटामिन ए, डी, सी और पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है।

लेविस का कथन है कि अधिक समय तक अंगूठा चूसने से स्थायी दांतों पर बुरा असर पड़ता है। पोंचर (१९४१) के अनुसार प्राय: १० महीने, २½ वर्ष और पाँच वर्ष की अवस्था में उपापचयात्मक और कोशीय गड़बड़ियां उत्पन्न हो जाती हैं। चेहरे तथा दांतों के विकास दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि दांत समय के पहिले गिर जाते हैं तो बोलने में व्याघात होता है और बालक व्यंग्य और मजाक का शिकार होता है। दांत बड़े या खिड़विड़ होने पर भी बालकों को चिढ़ाया जाता है। अच्छे जमे दांत व्यक्तित्व को सुन्दर बनाते हैं। दांतों के विकास में वंशानुक्रम, गर्भावस्था, पोषाहार, बीमारी और कुछ अन्त:स्रावी ग्रन्थियों का प्रभाव पड़ता है। दांतों की खराबी से पायरिया रोग हो जाता है और पाचन क्रिया में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। *दांतों की स्वच्छता की अधिक आवश्यकता है। खूब चबा चबाकर* खाने से दांत स्वस्थ रहते हैं। एन्डरसन के अनुसार मन्द बुद्धि वाले बालक के सामान्य बुद्धि वाले बालक की अपेक्षा कम दांत निकलते हैं।

मांस-पेशियां

शरीर के विभिन्न अवयवों, जैसे —हृदय, पाचन क्रिया, ग्रन्थियों के सुचारु सञ्चालन, शारीरिक क्रियाओं के समन्वय और शक्ति के सम्पादन में मांस-पेशियों का विशेष योगदान रहता है। जन्म के समय मांस-पेशियों के रेशे अविकसित अवस्था में रहते हैं जिसके फलस्वरूप नवजात शिशु की शारीरिक गतिविधि असम्बद्ध रहती है। जन्म के पश्चात् इन रेशों की लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई में अभिवृद्धि होने के कारण मांस-पेशियों के आकार में विवृद्धि हो जाती है जो आगे चलकर शरीर के भार को ४० गुना बढ़ा देती है। मांस-पेशियां शुद्ध स्वरोच्चारण में सहायता पहुंचाती हैं। मांस-पेशियों के उपस्करण तथा क्षमता की दृष्टि से लड़के लड़कियों में भेद पाया जाता है। सामान्य रूप से लड़के लड़कियों से अधिक पेशीय होते हैं। चौड़ी और मोटी मांस-पेशियों वाले बालकों में अधिक शक्ति और छोटी तथा पतली मांस-पेशियों वाले बालकों में अधिक क्रियाशीलता होती है। कुछ बालकों में मांस-पेशियों की बनावट में विभिन्नता रहने के कारण जल्दी थकावट का अनुभव होता है और कुछ में अधिक देर तक कार्य करने की क्षमता पाई जाती है।

नाड़ी तन्त्र के संयोग से मांस-पेशियाँ ऐच्छिक और अनैच्छिक शारीरिक गतिविधियों को सञ्चालित करती हैं। मांस-पेशियों की स्वस्थता पौष्टिक भोजन, विश्राम और क्रियाशीलता पर आधारित रहती है। बचपन में मांस-पेशियों की अपेक्षा चरबी की अभिवृद्धि अधिक होती है। १२ वर्ष से लेकर १५ वर्ष की अवस्था में लड़कियों की और १५-१६ वर्ष की आयु में लड़कों की मांस-पेशियों की शक्ति विशेष रूप से अधिक होती है। जन्म के समय मांस-पेशियों का वजन शरीर के भार के अनुपात में २३·४ प्रतिशत, ८ वर्ष में २७·२, १५ वर्ष में ३२·६ और १६ वर्ष में ४४·२ प्रतिशत होता है। शैशवा तथा बाल्यावस्था में मांस-पेशियों का विकास मन्द गति से होता है और किशोरावस्था में तीव्र गति से होता है। मांस-पेशियों की तौल में वृद्धि तरुणावस्था की सूचिका है। मांस-पेशियों में विकास होने के कारण शरीर के विभिन्न अवयवों पर प्रभाव पड़ता है। हाथ पैर की परिधि में अभिवृद्धि हो जाती है, पीठ और कन्धे पर चरबी आने लगती है और धड़ कुछ गोल-मटोल होने लगता है। बचपन में मांस-पेशियों की रचना में ७२ प्रतिशत जल तथा २८ प्रतिशत स्थूल पदार्थ का अंश रहता है और परिपक्वावस्था में उनमें क्रमशः ६४ प्रतिशत जल और ३४ प्रतिशत स्थूल पदार्थ होता है जिसके फलस्वरूप मांस-पेशियों में अधिक दृढ़ता और शक्ति का संचार होने लगता है। टाड (१९४२) के अनुसार स्त्री पुरुष दोनों की मांस-पेशियों के आयतन तथा घनत्व में ५० वर्ष की आयु तक वृद्धि होती रहती है।

आंतरिक अवयवों में परिवर्तन

बच्चों के आकार, ऊँचाई, शरीर भार में वृद्धि, चरबी तथा मांसपे-शियों के बढ़ने मात्र से नहीं होती बल्कि श्वसन क्रिया, रक्त संचार और पाचन क्रिया आदि की अभिवृद्धि से भी आकार और वजन में वृद्धि होती है।

श्वास संस्थान. जन्म के पश्चात् जब श्वास क्रिया का प्रारम्भ होता है तब फेफड़ों का विकास होने लगता है। जन्म के समय फेफड़े बहुत छोटे होते हैं। २ वर्ष की आयु में सिर और फेफड़े का विकास और आकार एक जैसा होता है। १५ वर्ष की आयु में सिर और छाती के आकार में २:३ का और प्रौढ़ावस्था में ३:५ का अनुपात होता है। किशोरावस्था में फेफड़ों का आकार, आयतन और वजन बढ़ जाता है और साँस लेने की क्षमता भी बढ़ जाती है। लड़कियों के फेफड़ों का विकास १६-१७ वर्ष की आयु तक हो जाता है और लड़कों का १८-१९ वर्ष तक। फेफड़ों के विकास के साथ साथ श्वास लेने की क्षमता भी बढ़ती जाती है। किशोरावस्था में प्रश्वसन प्रक्रिया धीमी और नियमित हो जाती है। इलिफ और ली के अनुसार बालक बालिकाओं के प्रश्वसन क्रिया में कोई भेद नहीं रहता।

रक्त संचार संबन्धी अवयव : हृदय और रक्त संचालन. गर्भाधान के लगभग ३ सप्ताह पश्चात् हृदय की धड़कन शुरू हो जाती है। जन्म के समय हृदय छाती के विवर में ऊपर की ओर रहता है और शरीर के वजन के अनुपात में हृदय अधिक भारी और बड़ा होता है। पूर्वबाल्यावस्था में इसका आकार नसों और धमनियों की अपेक्षा छोटा होता है। ६ वर्ष की अवस्था में जन्म के समय की अपेक्षा चौगुना या पचगुना बड़ा हो जाता है। पूर्व किशोरावस्था में शरीर की तुलना में इसके तौल का अनुपात बहुत कम हो जाता है। परन्तु किशोरावस्था में इसका तौल तथा आयतन लगभग ७ गुना बढ़ जाता है और परिपक्वावस्था में इसका भार १२ गुना बढ़ जाता है। इस अवस्था में हृदय की मांस-पेशियों का आकार और संख्या की दृष्टि से अधिक बढ़ जाता है। नसों तथा धमनियों की अपेक्षा फेफड़ा बड़ा हो जाता है और रक्त वाहिनी नलिकायें लम्बी, मोटी और चौड़ी हो जाती हैं।

जन्म के समय तथा शैशवावस्था में रक्त चाप बहुत कम रहता है अर्थात् ४० मिलीमीटर रहता है। जन्म के समय नाड़ी की गति बहुत तेज रहती है। लड़कों की १३० और लड़कियों की १४४ रहती है। बालकों और किशोरों के हृदय और धमनियों की चौड़ाई में ५:१ का अनुपात होता है। पूर्व किशोरावस्था में हृदय और रक्त वाहिनी नलिकाओं में अधिक परिवर्तन होता है। इस काल में अधिक शारीरिक परिश्रम करने से हृदय की धड़कन बढ़ जाती है और चक्कर आने लगते हैं। बाल्यावस्था में बालक बालिकाओं का रक्त-चाप समान रहता है। १० से १३ वर्ष की आयु में बालिकाओं का रक्त-चाप बालकों की अपेक्षा बढ़ जाता है पर किशोरावस्था में यह बालिकाओं की अपेक्षा बालकों में अधिक बढ़ जाता है। नाड़ी की गति में आयु वृद्धि के साथ-साथ मन्दता आती है। नवजात शिशु में १३० प्रति मिनट, ९ वर्ष की आयु में ८० प्रति मिनट और १३ वर्ष की आयु में ७३ प्रति मिनट और बालिकाओं में ६६ प्रति मिनट नाड़ी की गति रहती है।

पाचन-क्रिया सम्बन्धी अवयव. नवजात शिशु का पेट नली व टब के आकार का होता है। वह एक औंस भोजन पचा सकता है और एक महीने में ३ औंस। क्रमशः उसके पेट के आकार तथा आकृति में परिवर्तन होता है और धीरे धीरे उसके पचाने की शक्ति बढ़ती है। छोटी आंतें भोजन पचाने का और बड़ी आंतें मल निष्कासन का कार्य करती हैं। शिशु की आंतें लगभग ३४० सेन्टीमीटर लम्बी होती हैं और उसकी आंतों की झिल्ली नाजुक होती है। अनेक रस पाचन क्रिया में मदद पहुँचाते हैं। प्रथम वर्ष में अन्तःश्रावी सम्बन्धी क्रियाशीलता बढ़ जाती है। बाल्यावस्था में बालकों के पाचन सम्बन्धी सभी अवयव छोटे और कोमल होते हैं और उनका पेट जल्दी खाली हो जाता है। किशोरावस्था में उनमें प्रौढ़ता आ जाती

है और उनका पेट देर से खाली होता है। अच्छी तरह से चवाया हुआ भोजन शीघ्र पच जाता है।

उत्सर्गी-तंत्र. शिशु के पेट में तरल खाद्य सामग्री सापेक्ष रूप से छोटी और सीधी आंतें बहुत अपशिष्ट मलोत्सर्जन में सहायक रहती हैं। प्रारम्भिक सप्ताहों में प्रतिदिन नवजात शिशु ४ या ५ वार मल त्याग और १८ या १६ वार मूत्रोत्सर्जन करता है। पाचक तंत्र की प्रौढ़ता तथा अभिवृद्धि, पेट के आकार तथा आकृति में अन्तर, आँतों का कुण्डलीकरण और ठोस खाद्य सामग्री के बढ़ते हुये अनुपात शीघ्र निरास-आवृत्ति को कम करते हैं और प्रथम वर्ष में बच्चे प्रौढ़ के समान मल त्याग करने लगते हैं। पाचन तंत्र के समान उत्सर्गी तंत्र संवेदनशील रहता है।

त्वचा में परिवर्तन

ऊँचाई और शरीर भार के समान त्वचा में भी परिवर्तन होते हैं। बच्चे की त्वचा कोमल और पारदर्शक रहती है। तरुणावस्था में वह मोटी और अपरिष्कृत हो जाती है और उसमें गुलाबीपन का उद्रेक हो जाता है। परन्तु परिपक्वावस्था में कोमल त्वचा मोटी और कड़ी पड़ जाती है। कांखों तथा गुप्त स्थानों में बाल उगने लगते हैं और चेहरे में दाढ़ी मूंछें निकलने लगती हैं। अधिक प्रौढ़ावस्था में त्वचा शुष्क और सिकुड़ी हुई हो जाती है और उसमें सुकुड़न या झुर्रियां पड़ने लगती हैं। उस समय उसका लचीलापन कम हो जाता है।

वाणी विकास

शैशवा तथा वाल्यावस्था में बच्चों की आवाज मधुर, तेज और सुरीली होती है। किशोरावस्था के पदार्पण से वह भारी होकर कुछ भर्राने लगती है। किशोरियों की आवाज में कोमलता और मधुरता आने लगती है।

स्नायु-मंडल का विकास

मानवीय स्नायु-मंडल दो भागों में विभाजित रहता है। जैसे—केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र और परिधि तंत्रिका-तंत्र जो कि मस्तिष्क और रीढ़ से मिलकर बनता है। परिधि तंत्रिका-तंत्र अनेक तंत्रिकाओं से निर्मित होता है। स्नायु-मंडल का निर्माण कार्य भ्रूणावस्था से प्रारम्भ हो जाता है। ६ महीने पश्चात् गर्भ में एक अरब से अधिक स्नायुकोष होते हैं। विकसित होने पर ये प्रतिक्रिया योग्य हो जाते हैं। जन्म के समय शैशवावस्था में स्नायु-मण्डल का ढांचा तैयार हो जाता है। स्नायु

शिराओं का संगठन स्नायु-मंडल में तीन प्रकार का होता है जैसे— स्वतः चालित स्नायु शिरायें, संवेदनात्मक और गामक स्नायु शिरायें तथा साहचर्य स्नायु शिरायें। स्वतः चालित स्नायु शिराओं का शरीर की जीवन रक्षक क्रियाओं से सम्बन्ध रहता है। इनके द्वारा श्वासक्रिया, आंतों और ग्रन्थियों आदि का नियंत्रण होता है। संवेदनात्मक तथा गामक स्नायु शिरायें सिर, गर्दन और त्वचा आदि के उद्दीपनों के प्रति व्यक्ति को प्रतिक्रिया के लिए तैयार करती हैं। साहचर्य स्नायु शिराओं द्वारा प्रत्यक्षीकरण, स्मृति और विचार आदि की क्रियायें संभव होती हैं। पहिले-पहल स्नायु-मंडल की कार्य-प्रणाली बड़ी सरल रहती है। संवेदनात्मक, साहचर्य और गतिवाही स्नायु शिरायें धीरे-धीरे पुष्ट होती हैं। अवस्थानुसार परिपक्वीकरण तथा वातावरण सम्बन्धी प्रौढ़ मस्तिष्क के वजन से वह एक चौथाई होती है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् स्नायु-मंडल का विकास बड़ी तेज गति से होता है।

जन्म के समय मस्तिष्क का वजन लगभग ३५० ग्राम और परिपक्वावस्था में लगभग १४०० ग्राम तक हो जाता है। चार वर्ष की अवस्था तक मस्तिष्क का विकास बड़ी तीव्र गति से होता है और छः वर्ष की आयु तक वह ९० प्रतिशत बढ़ जाता है। छः वर्ष की अवस्था में मस्तिष्क का आकार और भार धीरे धीरे बढ़ता है। २० वर्ष की अवस्था तक उसका पूर्ण विकास हो जाता है। छोटे बालकों का व्यवहार मस्तिष्क के निम्न केन्द्रों तथा रीढ़-रज्जु द्वारा संचालित होता है। बाद में बड़ा मस्तिष्क अधिक क्रियाशील होने लगता है। डीक्रिनस (१९३२) के अनुसार प्रमस्तिष्कीय प्रान्तस्था इतनी विकसित नहीं रहती परन्तु बाद में अर्थात् १३ वर्ष की आयु में वह विकसित हो जाती है। साथ ही गामक प्रान्तस्था में भी विकास होता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क की विद्युतीय क्रियाशीलता भी बढ़ जाती है। रीढ़-रज्जु तथा परिधि तंत्रिकाओं में ह्रास होने लगता है। रीढ़-रज्जु मोटी पड़ जाती है और सिकुड़ने लगती है। कुन्तज (१९३८) के अनुसार गुच्छिका में लम्बी प्रतानिकाओं की प्रतिक्रियायें परिलक्षित होती हैं। परन्तु उत्तर बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में छोटी प्रतानिकायें गुच्छिका-कोषाणुओं से फूटती हैं और प्रौढ़ावस्था तक कायम रहती हैं।

ग्रन्थियों का विकास

शरीर में अनेक प्रणाली युक्त बहिःश्रावी और प्रणालीविहीन अन्तःश्रावी रहती हैं जिनसे रस या तरल पदार्थ (हारमोन) स्रवित होते हैं और रक्त में मिलकर शारीरिक, मानसिक, संवेदनात्मक तथा व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करते हैं। प्रमुख ग्रंथियां ये हैं: पियूष ग्रन्थि (पिटिचुरी ग्लैंड), ग्रीवास्थ चुल्लिका ग्रन्थि

(थाइरायड ग्लैंड), उपकंठ ग्रन्थि, मूत्रस्थ ग्रन्थि (एड्रनिल ग्लैंड) और यौन ग्रन्थियाँ (सेक्स ग्लैंडस्) ।

पियूष ग्रन्थि. गर्भावस्था के चौथे महीने में इस ग्रन्थि का निर्माण हो जाता है। इसकी धीरे धीरे अभिवृद्धि और विकास होता है। रोसले और राउलेट (१९५२) के अनुसार ३५ वर्ष की अवस्था में यह पूर्णरूप से विकसित हो जाती है। इस ग्रन्थि के दो भाग होते हैं : एक आन्तरिक और दूसरा वाह्य। आन्तरिक भाग का प्रभाव हड्डी तथा माँस-पेशियों पर पड़ता है। इस ग्रन्थि के सक्रिय होने पर शरीर दैत्याकार में बढ़ता है और इसकी अल्प क्रियता से शरीर की बाढ़ रुक जाती है और व्यक्ति बौना रह जाता है। इस ग्रन्थि का वाह्य भाग यौन-विकास को प्रभावित करता है। यह ग्रन्थि हड्डियों के विकास में भी सहायता पहुंचाती है।

गल ग्रन्थि. यह ग्रन्थि शरीर में साधारण उपचयन की गति तथा उपापचय की क्रिया को नियंत्रित करती है। जन्म पूर्व अवस्था में इसका विकास आरम्भ हो जाता है। दूसरे, तीसरे और चौथे महीने में यह विकसित हो जाती है। कूपर (१९२५) के अनुसार इसकी क्रियाशीलता तरुणावस्था तक जारी रहता है और २५ वर्ष से इसमें ह्रास होना शुरू हो जाता है। इसकी अल्प सक्रियता शारीरिक विकास में बाधा पहुँचाती है और यौन तथा मानसिक विकास को प्रभावित करती है। साथ ही साथ लम्बी हड्डियों का बनना रुक जाता है और हड्डियां नरम रही आती हैं, मुखाकृति पर भी प्रभाव पड़ता है, चौड़ी नाक निकल आती है और त्वचा में शुष्कता और सिकुड़न आ जाती है। इस ग्रन्थि की अधिक सक्रियता से शरीर में संरचनात्मक परिवर्तन होते हैं। वजन कम हो जाता है, निन्द्रा का नाश होता है, रक्तचाप बढ़ जाता है और आंखें निकल आती हैं।

अधिवृक्क ग्रन्थि. गर्भावस्था में इस ग्रन्थि की अभिवृद्धि होती है। जन्म के पश्चात् इसका आकार छोटा पड़ने लगता है। बाल्यावस्था में इसके विकास की गति धीमी रहती है, परन्तु प्रारम्भिक किशोरावस्था में इसका अधिक विकास हो जाता है। इस ग्रन्थि से एड्रानिल और कार्टेन आदि रस निकलते हैं। यह ग्रन्थि रक्त में शक्कर की मात्रा, नाड़ी की गति, रक्तचाप और पाचन क्रिया आदि को प्रभावित करती है।

जनन-ग्रन्थियाँ. इन ग्रन्थियों से पुरुष और स्त्री हारमोन निकलते हैं। इन ग्रन्थियों का प्रादुर्भाव गर्भावस्था में, विशेषकर सांतवें या नवें महीने में, हो जाता है। वाल्यावस्था में इन ग्रन्थियों का धीरे-धीरे विकास होता है। तरुणावस्था में इनकी खूब अभिवृद्धि हो जाती है। इन ग्रन्थियों का मानसिक तथा संवेगात्मक पक्ष के अतिरिक्त शारीरिक पक्ष पर भी प्रभाव पड़ता है। किशोरावस्था में दाढ़ी

मूंछ का निकलना, ऊँचाई में अति होना, मुँहासे निकलना, किशोरों में आवाज भारी होना, किशोरियों का रजस्वला होना, आंख और गुप्त स्थानों में बाल उगना, वक्षस्थल उभर आना, कूल्हे बढ़ना, किशोरियों की आवाज सुरीली होना, जनेन्द्रियों का बढ़ना, जांघों और शरीर का पुष्ट होना आदि इन ग्रन्थियों के लक्षण माने जाते हैं।

शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले अंग

(१) **आनुवंशिकता.** ऊँचाई, मुटाई, सूरत-शकल, रूप-रङ्ग और स्वास्थ्य आदि बच्चों को अपनी माता-पिता से विरासत के रूप में मिलते हैं। इस प्रकार अच्छी या बुरी वंश-परंपरा का शारीरिक विकास पर प्रभाव पड़ता है।

(२) **जाति.** जातिगत भेद का विकास गति में प्रभाव पड़ता है जैसे यूरोप निवासियों की अपेक्षा भारतीयों में शारीरिक परिपक्वता शीघ्र आती है।

(३) **वातावरण.** अच्छा प्रकाश, सुन्दर जलवायु, साफ-सफाई, पुष्ट भोजन, व्यायाम, गाढ़ निद्रा, विश्राम, क्रियाशीलता, माता-पिता का लाड़-प्यार, गर्भावस्था में माँ का स्वास्थ्य व भोजन और रक्त-संचालन आदि तत्व बच्चे के शारीरिक विकास को प्रभावित करने हैं।

(४) **ऋतु.** ऋतुओं का विकास क्रम के साथ सम्बन्ध रहता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में ऊँचाई तीव्र गति से बढ़ती है और शीत ऋतु में वह मन्द पड़ जाती है।

(५) **पोषाहार.** बालकों को पौष्टिक आहार मिलने से उनका शारीरिक विकास जल्दी होता है।

(६) **आर्थिक सामाजिक स्थिति.** वेकी के अनुसार अच्छी आर्थिक सामाजिक स्थिति से लड़कों के भार तथा ऊँचाई में अधिक वृद्धि देखी गयी है।

(७) **लैंगिक विभिन्नता.** कभी-कभी ऐसी बात देखी गई है कि कभी लड़कों का शारीरिक विकास तीव्र गति से होता है कभी लड़कियों का।

(८) **संवेगात्मक तनाव.** संवेगात्मक तनाव शारीरिक विकास में बाधा पहुँचाता है। इसका अधिकतर प्रभाव बालक के शरीर भार पर पड़ता है।

(९) **ऊँचाई.** नारबल और क्रागमन के अनुसार बालक-बालिका के शरीर की ऊँचाई शारीरिक विकास को प्रभावित करती है। लम्बे बच्चे की अपेक्षा ठिगना बच्चा अधिक समय तक बढ़ता है। दूसरे उसके शरीर पर शारीरिक ह्रास देर परिलक्षित होता है।

(१०) **बुद्धि.** टरमैन के अनुसार मन्द बुद्धि वाले बालक की अपेक्षा प्रखर बुद्धि वाले बालक में शारीरिक परिपक्वता शीघ्र आती है।

(११) **शारीरिक विकृति.** यदि बालकों के शरीर में कुछ विकृतियां रहती हैं तो उनमें हीनता-ग्रन्थियों का निर्माण होता है। वे सङ्गी साथियों से अलग रहते हैं, उनमें आत्मविश्वास की कमी पायी जाती है और इसके फलस्वरूप उनके शरीर के विकास पर बुरा असर पड़ता है।

(१२) **शारीरिक स्वास्थ्य.** पामर और हार्डी का कथन है कि शारीरिक स्वस्थता का दैहिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। यदि बालक रोगों के आखेट रहते हैं तो उनमें अनेक प्रकार की गड़बड़ियां उत्पन्न हो जाती हैं। जैसे—रक्त और भार का कम होना, ऊँचाई का न बढ़ना, हृदय और मस्तिष्क को हानि पहुँचना और मांस-पेशियों में विकृति आना जिसके फलस्वरूप शीघ्र थकावट का अनुभव करना और हड्डियों का ठीक विकास न होना आदि।

शारीरिक विकास और शिक्षा-व्यवस्था

वारन और चार्ल्स के कथनानुसार माता-पिता और शिक्षक बालकों के शारीरिक विकास सम्बन्धी समस्याओं के हल के लिए निम्नलिखित सुझाव दे सकते हैं। यथा :—

(१) **शारीरिक संरचना का ज्ञान.** माता-पिता और शिक्षक को बालक-बालिकाओं के शरीर के बाह्य और आंतरिक अवयवों का सम्पूर्ण ज्ञान कराना चाहिए और कार्य-प्रणाली से पूर्णतया अवगत कराना चाहिये ताकि वे अपना शारीरिक विकास ठीक तरह से कर सकें।

(२) **नियमित डाक्टरी जाँच.** शारीरिक स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी के लिए बालकों की समय समय पर डाक्टरी परीक्षा होनी चाहिए।

(३) **विकास में विविधता तथा विभिन्नता का ज्ञान.** ऐसा देखा जाता है कि कभी किन्हीं बालक-बालिकाओं की शारीरिक अभिवृद्धि तथा विकास तीव्र गति से होता है और किन्हीं का मन्द गति से। इससे उनके लिए यह चिन्ता का विषय बन जाता है। इसलिए उन्हें शारीरिक विकास क्रम मे विविधता तथा व्यक्तिगत विभिन्नताओं का ज्ञान कराना चाहिए और उनके मन में यह विश्वास उत्पन्न करना चाहिए कि वे कभी न कभी देर-अबेर से शारीरिक परिपक्वता प्राप्त कर ही लेंगे।

(४) **व्यक्तिगत ध्यान.** माता-पिता, शिक्षक, अभिभावकों तथा सगे-सम्बन्धियों को बालक-बालिकाओं की शारीरिक विकास की समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्तिगत

मूंछ का निकलना, ऊँचाई में अति होना, मुँहासे निकलना, किशोरों में आवाज भारी होना, किशोरियों का रजस्वला होना, आंख और गुप्त स्थानों में बाल उगना, वक्षस्थल उभर आना, कूल्हे बढ़ना, किशोरियों की आवाज सुरीली होना, जनेन्द्रियों का बढ़ना, जांघों और शरीर का पुष्ट होना आदि इन ग्रन्थियों के लक्षण माने जाते हैं।

शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले अंग

(१) **आनुवंशिकता.** ऊँचाई, मुटाई, सूरत-शकल, रूप-रङ्ग और स्वास्थ्य आदि बच्चों को अपनी माता-पिता से विरासत के रूप में मिलते हैं। इस प्रकार अच्छी या बुरी वंश-परंपरा का शारीरिक विकास पर प्रभाव पड़ता है।

(२) **जाति.** जातिगत भेद का विकास गति में प्रभाव पड़ता है जैसे यूरोप निवासियों की अपेक्षा भारतीयों में शारीरिक परिपक्वता शीघ्र आती है।

(३) **वातावरण.** अच्छा प्रकाश, सुन्दर जलवायु, साफ-सफाई, पुष्ट भोजन, व्यायाम, गाढ़ निद्रा, विश्राम, क्रियाशीलता, माता-पिता का लाड़-प्यार, गर्भावस्था में माँ का स्वास्थ्य व भोजन और रक्त-संचालन आदि तत्व बच्चे के शारीरिक विकास को प्रभावित करने हैं।

(४) **ऋतु.** ऋतुओं का विकास क्रम के साथ सम्बन्ध रहता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में ऊँचाई तीव्र गति से बढ़ती है और शीत ऋतु में वह मन्द पड़ जाती है।

(५) **पोषाहार.** बालकों को पौष्टिक आहार मिलने से उनका शारीरिक विकास जल्दी होता है।

(६) **आर्थिक सामाजिक स्थिति.** बेकी के अनुसार अच्छी आर्थिक सामाजिक स्थिति से लड़कों के भार तथा ऊँचाई में अधिक वृद्धि देखी गयी है।

(७) **लैंगिक विभिन्नता.** कभी-कभी ऐसी बात देखी गई है कि कभी लड़कों का शारीरिक विकास तीव्र गति से होता है कभी लड़कियों का।

(८) **संवेगात्मक तनाव.** संवेगात्मक तनाव शारीरिक विकास में बाधा पहुँचाता है। इसका अधिकतर प्रभाव बालक के शरीर भार पर पड़ता है।

(९) **ऊँचाई.** नारबल और क्रागमन के अनुसार बालक-बालिका के शरीर की ऊँचाई शारीरिक विकास को प्रभावित करती है। लम्बे बच्चे की अपेक्षा ठिगना बच्चा अधिक समय तक बढ़ता है। दूसरे उसके शरीर पर शारीरिक ह्रास देर से परिलक्षित होता है।

(१०) **बुद्धि.** टरमेन के अनुसार मन्द बुद्धि वाले बालक की अपेक्षा प्रखर बुद्धि वाले बालक में शारीरिक परिपक्वता शीघ्र आती है।

(११) **शारीरिक विकृति.** यदि बालकों के शरीर में कुछ विकृतियां रहती हैं तो उनमें हीनता-ग्रन्थियों का निर्माण होता है। वे सङ्गी साथियों से अलग रहते हैं, उनमें आत्मविश्वास की कमी पायी जाती है और इसके फलस्वरूप उनके शरीर के विकास पर बुरा असर पड़ता है।

(१२) **शारीरिक स्वास्थ्य.** पामर और हार्डी का कथन है कि शारीरिक स्वस्थता का दैहिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। यदि बालक रोगों के आखेट रहते हैं तो उनमें अनेक प्रकार की गड़बड़ियां उत्पन्न हो जाती हैं। जैसे—रक्त और भार का कम होना, ऊंचाई का न बढ़ना, हृदय और मस्तिष्क को हानि पहुँचना और मांस-पेशियों में विकृति आना जिसके फलस्वरूप शीघ्र थकावट का अनुभव करना और हड्डियों का ठीक विकास न होना आदि।

शारीरिक विकास और शिक्षा-व्यवस्था

वारन और चार्ल्स के कथनानुसार माता-पिता और शिक्षक बालकों के शारीरिक विकास सम्बन्धी समस्याओं के हल के लिए निम्नलिखित सुझाव दे सकते हैं। यथा :—

(१) **शारीरिक संरचना का ज्ञान.** माता-पिता और शिक्षक को बालक-बालिकाओं के शरीर के बाह्य और आंतरिक अवयवों का सम्पूर्ण ज्ञान कराना चाहिए और कार्य-प्रणाली से पूर्णतया अवगत कराना चाहिये ताकि वे अपना शारीरिक विकास ठीक तरह से कर सकें।

(२) **नियमित डाक्टरी जाँच.** शारीरिक स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी के लिए बालकों की समय समय पर डाक्टरी परीक्षा होनी चाहिए।

(३) **विकास में विविधता तथा विभिन्नता का ज्ञान.** ऐसा देखा जाता है कि कभी किन्हीं बालक-बालिकाओं की शारीरिक अभिवृद्धि तथा विकास तीव्र गति से होता है और किन्हीं का मन्द गति से। इससे उनके लिए यह चिन्ता का विषय बन जाता है। इसलिए उन्हें शारीरिक विकास क्रम मे विविधता तथा व्यक्तिगत विभिन्नताओं का ज्ञान कराना चाहिए और उनके मन में यह विश्वास उत्पन्न करना चाहिए कि वे कभी न कभी देर-अबेर से शारीरिक परिपक्वता प्राप्त कर ही लेंगे।

(४) **व्यक्तिगत ध्यान.** माता-पिता, शिक्षक, अभिभावकों तथा सगे-सम्बन्धियों को बालक-बालिकाओं की शारीरिक विकास की समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्तिगत

रुचि लेनी चाहिए और उन्हें पूरा-पूरा सहयोग देना चाहिए ताकि वे उन समस्याओं के निराकरण में व्यक्तिगत रूप से ध्यान दे सकें।

(५) **विभिन्न आयु के बालकों में सम्पर्क.** क्रीडांगणों तथा विविध मनोरंजक क्रियाओं में भिन्न-भिन्न आयु तथा विकास क्रम के बालकों में परस्पर सम्पर्क के अवसर प्रदान करना चाहिए ताकि वे समान परिपक्वता वाले बालकों से भली-भांति मिल-जुल सकें।

(६) **सांवेगिक तनाव का अभाव.** हीनता के भाव तथा मानसिक अशांति से बचने के लिए बालक-बालिकाओं में सांवेगिक तनाव की स्थिति नहीं आने देना चाहिए नहीं तो उनका शारीरिक स्वास्थ्य चौपट हो जाता है।

(७) **पुष्ट और संतुलित भोजन.** शरीर के उचित विकास के लिए पुष्ट और संतुलित भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए। गाय या बकरी के दूध का अधिक सेवन कराना चाहिए।

(८) **निश्चित समय में मल-मूल त्याग की आदत डालना.** बालकों में निश्चित समय में मल-मूल त्यागने की आदत डालना चाहिये ताकि उनका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रह सके।

(९) **व्यायाम.** शरीर के उचित रक्त सञ्चालन तथा शारीरिक शक्तियों की अभिवृद्धि के लिए नियमित व्यायाम करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।

(१०) **ऋतु के अनुसार वस्त्र धारण और नियमित स्नान.** ऋतु के अनुसार वस्त्र धारण करने की व्यवस्था करना चाहिए। शिशुओं को अधिकतर ढीले वस्त्र पहिनाना चाहिए और प्रतिदिन स्नान कराना चाहिए।

(११) **साफ-सफाई.** आंख, कान, दाँत, नाक और नाखून आदि की प्रतिदिन खूब साफ-सफाई करनी चाहिए और बिस्तर आदि खूब साफ-सुथरे रखना चाहिए।

(१२) **लाड़-प्यार से पालन-पोषण.** माता-पिता को चाहिए कि वे बालक-बालिकाओं का बड़े लाड़-प्यार से पालन-पोषण करें और जहाँ तक सम्भव हो उनकी अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहें ताकि उनमें कुसमायोजन का प्रवेश न होने पावे।

(१३) **निद्रा और विश्राम.** शरीर के विकास तथा स्वस्थता के लिए निद्रा और व श्राम की आवश्यकता है अतः इसकी उचित व्यवस्था होना चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) शारीरिक विकास का क्या अर्थ है ?

(२) इसकी कौन-कौन सी अवस्थायें हैं ? वर्णन कीजिए।

(३) बालक के शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व कौन-कौन से हैं ? स्पष्ट कीजिए।

(४) बालक के शारीरिक विकास में ऊँचाई, भार, स्नायु-मण्डल, ग्रन्थियों, मांस-पेशियों, तथा श्वास-संस्थान में कौन-कौन से परिवर्तन होते हैं ? इनका संक्षेप में वर्णन कीजिए।

(५) बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था में शारीरिक विकास की विवेचना कीजिए।

(६) शारीरिक विकास के लिए माता-पिता तथा शिक्षक के कर्त्तव्य एवं उत्तर-दायित्व की विवेचना कीजिए।

अध्याय ५

गामक विकास

गामक विकास का स्वरूप

हरलाक के अनुसार मांस-पेशियों की गति पर नियन्त्रण ही गामक विकास है। क्रो और क्रो के मत में गामक विकास का अर्थ उन अनेक शारीरिक गति-विधियों से है जो नाड़ियों तथा मांस-पेशियों की क्रियाओं के समन्वय या संयोजन द्वारा सम्भव हैं। विलपफोर्ड मार्गन के अनुसार गामक विचार के अन्तर्गत मानव तथा पशुओं की क्रियायें सम्मिलित हैं जैसे—उठना-बैठना, चलना-फिरना, पकड़ना, दौड़ना और लिखना आदि। जन्म के पश्चात बालक में जैसे-जैसे कार्य करने या विभिन्न क्रियायें करने की क्षमता बढ़ती जाती है उसे ही गामक विकास कहा जाता है।

गामक विकास का महत्व

बालक के जीवन में गामक विकास का विशेष महत्व रहता है। जितने ही शीघ्र वह अपनी मांस-पेशियों तथा गतियों पर नियंत्रण करना सीखता है उतनी ही जल्दी वह वातावरण के साथ समायोजन कर सकता है। जैसे—नवजात शिशु या तो प्राय: लेटा रहता है या गोद में रहता है। अत: उसकी गतियों का दायरा सीमित रहता है। परन्तु ज्यों ही उसमें क्रियात्मक या गामक विकास होता है, वह उठने-बैठने और कूदने-फांदने लगता है। जब उसमें चलने की योग्यता आ जाती है, तो वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर चला जाता है और खेल-कूद में अपने साथियों के साथ सक्रिय भाग लेने लगता है। इस प्रकार वह अनेक प्रकार की परिस्थितियों में समायोजन करने की क्षमता प्राप्त करता है। सभी प्रकार की शारीरिक क्रियायें गामक विकास पर निर्भर रहती हैं। यदि उसमें दूसरे बालकों के समान गामक विकास नहीं हो पाता, तो उसे निराशा हाथ लगती है। यदि दूसरे बालकों के समान उसका भी गामक विकास होता है तो उसे आनन्द की प्राप्ति होती है और उसमें आत्म-निर्भरता आती है। क्रियात्मक योग्यताओं तथा बौद्धिक क्षमताओं में निकट संबंध रहता है। क्रियात्मक योग्यतायें प्राप्त करने से उसमें बौद्धिक क्षमतायें आती हैं। गामक विकास द्वारा बालक अन्य बालकों के

साथ खेल-कूद कर तथा अन्य क्रियाओं द्वारा सामाजिक सम्पर्क स्थापित कर सकता है और इसके परिणाम स्वरूप सामाजिकता की भावना का विकास कर सकता है। गामक विकास के अभाव में बालक में हीनताग्रन्थि का निर्माण हो सकता है। क्रियाओं के विशिष्टीकरण से वह व्यर्थ शक्ति के अपव्यय की बचत कर सकता है और मांस-पेशीय क्रियाओं में समन्वय स्थापित कर सकता है। ५ वर्ष की अवस्था पहुँचते-पहुँचते बालक अपनी क्रियाओं की गतिविधियों पर नियन्त्रण करना सीख जाता है जिसके फलस्वरूप वह वस्तुओं को पकड़ने, फेंकने, लिखने तथा अन्य उपकरणों का प्रयोग करने में समर्थ हो जाता है। इस सब के परिणाम स्वरूप उसमें सूक्ष्म तथा जटिल कार्य करने की क्षमता का विकास होता है।

क्रियात्मक योग्यताओं द्वारा बालक अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है, कारण कि उसकी क्रियात्मक योग्यताओं और विशेषताओं में उसके व्यक्तित्व की झलक मिल जाती है। यदि किसी भी व्यक्ति को औद्योगिक, व्यवसायिक तथा सामाजिक संबंधी क्षेत्रों में अपने विचारों का दूसरों पर प्रभाव डालना होता है तो उसे गति सम्बन्धी क्रियाओं का सहारा लेना पड़ता है, अन्यथा उसे उस क्षेत्र में सफलता हाथ नहीं लगती। अतः सन्तोषजनक जीवन बिताने के लिए गति पर नियन्त्रण प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार सन्तोषजनक शिक्षा क्रम के लिए गामक विकास को यथार्थ रूप से समझना और उस पर नियंत्रण प्राप्त करना बहुत जरूरी है।

गामक विकास की विशेषतायें

(१) **निश्चित क्रम एवं क्रमबद्धता.** शरीर की विभिन्न क्रियाओं की योग्यताओं का विकास एक निश्चित अनुक्रम के अनुसार होता है न कि ऊट-पटांग या अचानक ढंग से। जैसे शरीर की क्रियाओं का विकास सिर के भाग से आरम्भ होकर पैर की ओर बढ़ता है।

(२) **सामान्य से विशिष्ट क्रियाओं की ओर.** बच्चों में सबसे पहले सामान्य प्रतिक्रियायें उत्पन्न होती हैं। और उन्हीं से विशिष्ट क्रियाओं का प्रस्फुटन होता है।

(३) **बड़े अंगों से छोटे अंगों की ओर.** कोई भी शारीरिक क्रिया करते समय पहले बड़ी बड़ी मांस-पेशियों में गति आती है और फिर छोटी मांस-पेशियों में।

(४) **वैयक्तिक विभिन्नता.** यद्यपि गामक विकास एक निश्चित क्रम में होता

है, परन्तु इसमें वैयक्तिक विभिन्नता पाई जाती है। उपयुक्त अभ्यास के अभाव में वालक चलना सीखने में अन्य बालकों से पिछड़ सकता है। इसी प्रकार हाथ की क्रियाओं पर नियन्त्रण प्राप्त करने पर भी।

(५) **विवृद्धि तथा प्रशिक्षण का योग.** बालक का गामक विकास अर्थात् मांस-पेशियों पर नियन्त्रण प्राप्त करना विवृद्धि और सीखने पर निर्भर है। आयु के अनुसार बालक में परिपक्वता आती है और आयु में वृद्धि के साथ विशेष प्रकार की क्रिया के सम्पादन में उसे सीखने में या प्रशिक्षण की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार दोनों के योग से गामक विकास संभव होता है।

(६) **शारीरिक कौशलों का विकास.** बालक में शारीरिक कौशलों का विकास ३ वर्ष से लेकर ११ वर्ष के अंदर होता है। शारीरिक कौशलों का विकास मांस-पेशियों पर नियन्त्रण, परिपक्वता, प्रशिक्षण, अवसर, प्रोत्साहन और अनुकरण पर निर्भर रहता है।

(७) **निकट और दूर वाला विकास.** जो अंग प्रधान अंग के जितना निकट रहता है उसका विकास भी उतना ही पहले होता है और जो अंग जितना ही दूर रहता है उसका विकास उतनी ही देर से होता है। जैसे कमर और जांघ में विकास होने के पश्चात् पैर में विकास होता है।

(८) **अभ्यास.** क्रियात्मक योग्यता व कौशल प्राप्त करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है, अन्यथा सीखे हुए क्रिया कौशल को वह भूल भी सकता है।

गामक विकास के सोपान

मनोवैज्ञानिकों ने प्रधानतया गामक विकास के तीन सोपानों का उल्लेख किया है जैसे :—(१) गर्भावस्था की गतियां, (२) नवजात शिशु में गामक विकास, तथा (३) प्रारम्भिक बाल्यावस्था में गामक विकास।

(१) **गर्भावस्था की गतियां.** गर्भस्थ शिशु आठ सप्ताह में कीड़े की तरह रेंगता है। तीसरे महीने में गर्दन और हाथ मोड़ने की क्रिया आरम्भ करता है। तीसरे चौथे महीने में सिर, हाथ और पैरों को हिलाना शुरू करता है। छठवें महीने में गर्भस्थ शिशु सरकने लगता है और अनेक गतियां करने लगता है।

(२) **नवजात शिशु में गामक विकास.** जन्म होते ही शिशु में कुछ सहज क्रियायें आरम्भ हो जाती हैं जैसे स्तन-पान करना और चूसना आदि। साथ ही अनैच्छिक क्रियायें भी होती हैं जैसे :—पलक गिराना। कोई क्रिया में सारा शरीर क्रियाशील हो जाता है। शिशु की क्रियाओं में संयोजन नहीं होता।

(३) **प्रारम्भिक बाल्यावस्था में गामक विकास.** इस अवस्था में अनेक क्रियाओं का विकास होता है। जैसे– सवा साल का बच्चा अपने आप चलने लगता है। डेढ़ साल में सीढ़ियों पर चढ़ना। चलना सीखने के पहले भी बच्चा घुटने के बल चढ़ कर सीढ़ी चल लेता है। ढाई वर्ष में एक पैर पर खड़े होना इत्यादि।

विभिन्न क्रियात्मक योग्यताओं का विकास-क्रम

गैसेल, मार्टिन, हरलाक, थामसन और मेक्ग्रा (१९६६) के अनुसार बालक के गामक विकास का एक निश्चित क्रम होता है और उसकी एक निश्चित दिशा होती है। इस सम्पूर्ण गामक विकास क्रम को चार भागों में बांटा जा सकता है। यथा :—(१) सिर के क्षेत्र का गामक विकास, (२) भुजाओं तथा हाथों का गामक विकास, (३) धड़ का गामक विकास, (४) पैरों का गामक विकास।

(१) **सिर के क्षेत्र का गामक विकास.** इस विकास के अंतर्गत नेत्र की गति विधि, मुस्कराना, हंसना और सिर को ऊपर उठाने की क्रियाओं का विकास होता है। जन्म के कुछ घण्टों पश्चात् शिशु की आंख की गतिविधि असम्बद्ध रहती है। उस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं रहता। दूसरे महीने के अन्त तक वह अपनी दृष्टि किसी स्थिर वस्तु पर केन्द्रित कर सकता है और तीसरे महीने चलती-फिरती वस्तुओं पर अपनी दृष्टि दौड़ा सकता है। ब्रेकेनरिज और विंसेण्ट के अनुसार ६ वर्ष के पूर्व बालक में पूर्ण रूप से दृष्टि-नियंत्रण नहीं आने पाता और पढ़ने योग्य दृष्टि-संयोजन नहीं होने पाता। मुस्कराने की सहज क्रिया एक सप्ताह के शिशु में देखी जा सकती है। यह क्रिया स्नायविक तथा त्वकीय उत्तेजना के फलस्वरूप हो सकती है। परन्तु ३ मास के पूर्व वह हंसने की सहज क्रिया सामाजिक स्तर पर नहीं कर सकता। किसी अन्य व्यक्ति को हंसते देखकर वह मुस्कराने की क्रिया तीन महीने के पूर्व नहीं कर सकता। जोन्स के अनुसार सामाजिक मुस्कराहट ३९ दिन की अवस्था पर आती है। इसी समय पलक-प्रत्यावर्तन की क्रिया का विकास होता है।

ब्रायन के अनुसार नवजात शिशु जन्म से २० मिनिट पश्चात् अपना सिर पूरा उठाने में समर्थ होता है। यदि १ महीने के शिशु को औंधे लिटाकर सीने और पेट का सहारा दिया जाये तो वह अपना सिर सीधा कर सकता है। गैसेल के अनुसार ६ महीने में शिशु अपना सिर बिना किसी के सहारे उठाने में समर्थ होता है। जब उसकी गर्दन और मांस-पेशियां विकसित हो जाती हैं तो वह बिना कठिनाई के अपना सिर और गर्दन इधर-उधर घुमाने में समर्थ हो जाता है।

(२) भुजाओं तथा हाथों का गामक विकास. यद्यपि नवजात शिशु अत्यन्त कोमल, असहाय और असमर्थ होता है परन्तु उसकी भुजाओं तथा हाथों में जन्म से ही गति पाई जाती है। जन्म ही से मुट्ठी बाँधने की सहज क्रिया आरंभ हो जाती है। वह निरुद्देश्य और ऊट-पटांग ढंग से वांह, हाथों को आगे-पीछे झटक देता है। और अंगुलियों को मनमाने ढंग से खोलता, फैलाता, सिकोड़ता और वंद करता है। कभी-कभी निद्रावस्था में ऐसा करता हुआ पाया जाता है। जन्म के कुछ समय वाद उसके हाथों में संयोजित गति देखी जाती है। कभी-कभी अपनी जान की रक्षा के लिए अपना हाय उठाते पाया जाता है। यह एक सहज क्रिया है। शेरमैन और शेरमैन के अनुसार दूसरे सप्ताह तक हाथों की यह क्रिया संयोजित हो जाती हैं।

पकड़ना. फिर किसी वस्तु को आंख से देख कर उसकी ओर हाथ वढ़ाकर उसे पकड़ने की चेष्टा करता है पर उसे पकड़ने में असमर्थ होता है। परन्तु ज्यों ही उसकी आंखें और हाथ समन्वित रूप से कार्य करने लगते हैं, त्यों ही वह वस्तु की ओर हाथ वढ़ाकर उसे पकड़ने की चेष्टा करता है। पांचवें महीने तक वह अंगुलियों का उपयोग करने लगता है। ६ महीने की आयु तक शिशु की आंख तथा हाथों में पर्याप्त संयोजन की क्रिया विकसित हो जाती है। अतः वह अव किसी वस्तु की ओर हाथ नहीं वढ़ाता, वल्कि उसे पकड़कर अपने मुख तक ले जाने का प्रयास करता है। लिपमैन के अनुसार सातवें महीने में वह अनेक वस्तुओं को एक साथ पकड़ने की योग्यता प्राप्त करता है। ९ महीने तक वालक स्वेच्छापूर्वक खाने की वस्तु को अपने मुख तक ले जाता और १० महीने में एक वस्तु को पकड़ने में समर्थ हो जाता है।

खाना. साल भर में वह अपने प्याले से स्वयं दूध पीने में समर्थ होता और चम्मच से कुछ उठाकर खा सकता है। गैसेल के अनुसार २ वर्ष में स्वयं अपने हाथ से खाने लगता है।

वस्त्र पहिनना. वालक ३ साल की अवस्था तक कपड़ा पहिनने के पूर्व उसे उतार देना सीखता है। की के अनुसार डेढ़ से साढ़े तीन वर्ष की आयु में शिशु में कपड़े पहिनने की योग्यता का विकास बड़ी तीव्र गति से होता है। कुर्ता, कमीज, कोट और मोजे पहिनना सरलता से सीख लेता है। वैगनर और आर्यस्ट्रांग के अनुसार वालक ५ वर्ष तक सरलता से वटन खोल व लगा सकता है।

फेंकना. प्रायः ६ महीने की अवस्था से शिशु हल्के ढंग से वस्तु को फेंकने की कोशिश करता है। ११ महीने तक वह गेंद को अनिश्चित दिशा में लुढ़का सकता है। दूसरे वर्ष एक निश्चित दिशा में वह गेंद फेंक सकता है। वालक ६ वर्ष में सफलता पूर्वक गेंद फेंकने में समर्थ होता है।

लिखना. लिखना एक जटिल क्रिया मानी जाती है जिसमें हाथ और अंगुलियों का महत्वपूर्ण उपयोग होता है। साथ ही इसके सम्पादन में क्रियात्मक, ज्ञानात्मक और भावात्मक पहलुओं का समावेश रहता है। २ साल की आयु तक बालक लिखने में असमर्थ रहता है। २-३ वर्ष की आयु में वह टेढ़ी-मेढ़ी रेखायें खींच लेता है। हिल्ड्रेथ के अनुसार ३ वर्ष की अवस्था तक ऊट-पटांग ढंग से बच्चा कागज पर कुछ गोदना-गादना सीखता है। चौथे वर्ष तक उसकी लिखावट में कुछ आकार और रूप का निखार होता है। ५ वर्ष तक वह सार्थक अक्षर या शब्द लिखने में समर्थ होता है। ६ वर्ष तक वह सार्थक ढंग से लिखना सीख लेता है। ११-१२ वर्ष की आयु तक उसकी अपनी लिखने की शैली बन जाती है।

हाथ के अन्य कार्य. चार वर्ष की आयु में बालक एक स्थान से दूसरे स्थान तक वस्तुओं को बिना बिगाड़े उठाने तथा रखने में समर्थ होता है। साढ़े चार वर्ष में भोजन की थाली, पानी और गिलास को लाने और अन्य हाथ के छोटे-छोटे कार्य करने में समर्थ होता है। गैसेल के अनुसार पांच वर्ष के लड़के कागज को मोड़ सकते हैं, कुछ चित्र खींच सकते हैं और सन्दूक में खिलौनों को एक ढंग से जमा करके रख सकते हैं। कुछ बालकों में बायें हाथ की प्रधानता रहती है, परन्तु बाद में वह प्रधानता दायें हाथ में चली जाती है। कुछ लोगों की धारणा है कि बायें ओर का मस्तिष्क दायें ओर के मस्तिष्क से अधिक प्रभावशाली होता है, इसलिए व्यक्ति दाहिने हाथ वाला होता है। वामहस्तता सामाजिक व्यवस्था, वृहत मस्तिष्क की प्रधानता आंख के उपयोग के कारण पाई जाती है। हाथ की प्रधानता के साथ-साथ आँख की भी प्रधानता होती है। वस्तुतः नवजात शिशु न तो वामहस्त होता और न दक्षिणहस्त होता है। हस्तता तो वंशानुगत होती है और वह सांस्कृतिक प्रभाव, शिक्षण और अभ्यास पर निर्भर रहती है। इस दिशा में माता-पिता और शिक्षक का भी प्रभाव पड़ता है। वामहस्तता को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है।

(३) धड़ का गामक विकास

करवट लेना. जन्म के उपरान्त शिशु माधो की मूरत के समान जहां का तहां पड़ा रहता है। करवट बदलने अथवा पीठ से पेट के बल उलटने में असमर्थ रहता है। दो महीने में करवट बदलने लगता है और शरीर मुड़ने लगता है। ६ महीने तक वह पट से चित्त और चित्त से पट हो सकता है और पूरे शरीर को इधर-उधर मोड़ सकता है। शालटन, ब्रान्ड के अनुसार घूमने में पहले बच्चे के

सिर का अंग घूमता है। इसके पश्चात् कंधा, पेट और अंत में झटके के साथ पांव।

बैठना. पीठ और कमर की मांस-पेशियों के यथेष्ट रूप से विकसित होने पर शिशु बैठने में समर्थ होता है। गैसेल और थाम्पसन के अनुसार वह १६ सप्ताह में बैठने का उपक्रम करता है और २० सप्ताह तक सहारा पाने पर बैठने लगता है। लड़कियां लड़कों से पूर्व बैठने लगती हैं। ६-१० महीने में वह बिना किसी के सहारे बैठने लगता है। २-३ वर्ष में वह अपने हाथ के बल बैठने लगता है। ५ वर्ष में प्रौढ़ व्यक्ति के समान बैठने उठने लगता है। धीरे-धीरे वह घुटनों को मोड़कर सन्तुलित ढंग से बैठना सीख लेता है।

(४) पांव का गामक विकास. बच्चा चलने की प्रतिक्रिया का पूर्व अभ्यास भ्रूणावस्था से शुरू कर देता है जबकि वह अपने पांव को एक के बाद एक करके उछालते रहता है। वह अपने पैरों को फैलाते अथवा उछालते पैरों की मांस-पेशियों पर नियंत्रण करना सीखता है। धीरे-धीरे वह धड़ की मांस-पेशियों पर नियंत्रण कर लेता है। फिर ९ से १५ महीने की आयु के बीच हड्डियों, मांस-पेशियों और पैर तथा धड़ स्नायुओं के विकसित होने पर वह चलने की प्रतिक्रिया का उपक्रम करने लगता है।

लुढ़कना. सर्व प्रथम उसका चलने की गति सम्बन्धी व्यवहार लुढ़कने की क्रिया में दिखाई पड़ता है। इस क्रिया में बालक अपने पैरों तथा हाथों की सहायता से अपने शरीर को आगे बढ़ाने की चेष्टा करता है।

खिसकना. इसके बाद वह बैठे-बैठे खिसकने की क्रिया शुरू करता है जिसमें वह अपने पैरों, भुजाओं तथा हाथों की सहायता से अपने शरीर को आगे की ओर ढकेलता है। वह बैठे-बैठे खिसकने की क्रिया ६ माह की अवस्था में करने लगता है।

रेंगना और घुटनों चलना. खिसकने की क्रिया के बाद वह हाथ-पैर के बल रेंगने अथवा घुटने चलने की क्रिया सम्पन्न करता है। चौथे महीने में इस क्रिया को शुरू कर देता है। सातवें और आठवें महीने तक वह घुटनों से चलने में सक्षम हो जाता है। इस क्रिया में सिर और कंधे के ऊपर उठाते हुए भुजाओं और हाथ के सहारे वह आगे बढ़ता है।

खड़ा होना. इस क्रिया के बाद ९-१० महीने तक वह बिना सहारे खड़े होने का उपक्रम करता है। प्रारम्भ में संतुलन ठीक न होने के कारण खड़े होते

ही डगमगा कर गिर पड़ता है। धीरे-धीरे वह संतुलन स्थापित करता है और फिर वह खड़े होने लगता है।

चलना. अच्छी तरह खड़ा होना सीखने के बाद वह चलने के लिए आगे कदम बढ़ाता है। बार-बार अभ्यास या प्रयत्न करने पर वह चलना आरम्भ कर देता है। डेढ़ वर्ष की अवस्था तक वह वयस्क की भांति चलने लगता है। चलते समय बालक अपने शरीर को सीधा रखकर पैरों के बल चलता है। चलने की प्रारम्भिक अवस्था में उसका सारा शरीर गतिशील रहता है। शुरू में वह छोटे छोटे पग डालता है। वह चलने में लड़खड़ाता और गिरता भी है। अभ्यास और प्रयत्न के आधार पर वह चलने में प्रवीणता प्राप्त कर लेता है। डेढ़ वर्ष से लेकर ६ वर्ष की आयु तक बालक का चलने संबंधी कौशल बढ़ता ही रहता है।

दौड़ना. चलने के पश्चात् वह दौड़ने लगता है। आरंभ में दौड़ते समय वह बहुधा गिर जाया करता है। पांच वर्ष की अवस्था में उसे दौड़ने में आनन्द आने लगता है।

कूदना. चार वर्ष की अवस्था में वह कूदना सीख लेता है। गहरिज ने अपने अन्वेषण द्वारा यह सिद्ध किया है कि पांच वर्ष की अवस्था में बच्चे अच्छी तरह कूद सकते हैं। कभी-कभी बच्चे को कूदने की चेष्टा में धराशायी होना पड़ता है और कभी चोट खानी पड़ती है। आयु वृद्धि के साथ उसकी कूदने की योग्यता में विकास हो जाता है। फिर उसमें एक पैर से कूदने और छलांग मारने की योग्यता आती है।

चढ़ना. चलने के पहले ही बालक घुटने-घुटने सीढ़ियों पर चढ़ना और उतरना सीख लेते हैं। अतः उन्हें चढ़ने में कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। गहरिज के अनुसार तीन वर्ष की अवस्था तक सभी बालकों को चलकर और पैर को एक के बाद एक अगली सीढ़ी पर रखकर चढ़ना आ जाता है। चौथे और पांचवे वर्ष बालक और बालिकाओं में चढ़ने की योग्यता सामान्य रहती है।

तैरना. तैरने की योग्यता अवसर तथा प्रशिक्षण पर निर्भर रहती है। अनेक व्यक्ति ऐसे भी हैं जो जीवन-पर्यन्त तैरना नहीं जानते। कुछ बालक चार वर्ष की अवस्था या उसके पहले ही तैरना सीख लेते हैं। श्वसन क्रिया और हाथ-पैर की गति पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लेने पर तैरना जल्दी आ जाता है।

भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में गामक विकास-क्रम

गर्भावस्था

गर्भ में आने के कुछ महीनों पहले ही गर्भस्थ जीव का नाड़ी-मण्डल, मांस-

पेशियां और अन्य अंग भलीभाँति विकसित हो जाते हैं। तीसरे महीने तक उसकी बाहों तथा टाँगों में गतियां होने लगती हैं। सिर के क्षेत्र में अधिक सक्रियता होती है। गर्भ के भीतर ७ मास की समाप्ति पर गर्भस्थ जीव अनेक क्रियायें करने लगता है। जैसे—सिर और धड़ का घुमाना, छूने पर अपने अंगों को सिकोड़ना और फैलाना और मां के पेट में इधर-उधर सरकना आदि।

शैशवावस्था

५-६ मास का शिशु अपनी इच्छा-अनुसार अपना सिर दायें-बायें तेजी से घुमाता है। सिर के क्षेत्र में नेत्र की गतिविधि, मुस्कराना और सिर को ऊपर उठाने की क्रियाओं का विकास होता है। नवजात शिशु ऊट-पटांग ढंग से अपनी बाहों और हाथों को चलाता, खोलता और बंद करता है। फिर उसमें वस्तुओं को पकड़ने, स्वयं खाने पीने, वस्त्र उतारने और पहिनने, वस्तुओं को फेंकने और लिखने आदि की योग्यता का विकास होता है। धड़ के गामक विकास के अन्तर्गत वह करवट लेने और बैठने की शक्ति का विकास करता है। वह पट से चित्त और चित्त से पट हो सकता है। गैसेल के अनुसार वह १६ सप्ताह में सहारे के साथ और २० सप्ताह में बिना सहारे के बैठना सीख लेता है। ५ वर्ष में वह वयस्क के समान बैठने लगता है। फिर वह पैरों की मांस-पेशियों पर नियन्त्रण करना सीखता है। हड्डियों, मांस-पेशियों, पैर और धड़ के स्नायुओं के विकसित होने पर वह क्रमशः लुढ़कना-पुढ़कना, खिसकना, रेंगना, खड़े होना, चलना, दौड़ना, कूदना-फांदना, चढ़ना-उतरना, तैरना और तीन पैर की साइकिल आदि के चलाने का कौशल प्राप्त करता है।

बाल्यावस्था

शैशवावस्था में बालक की गतियां तथा क्रियायें भौंडी, असम्बद्ध और असमन्वित होती हैं। पर बाल्यावस्था में उनमें सुडौलता, क्रमबद्धता, समन्वय और ताल-बद्धता का समावेश हो जाता है। साथ ही उनमें रफ्तार और यथार्थता आ जाती है। इसके फलस्वरूप बालक की शक्ति और समय का अपव्यय नहीं होने पाता। इस अवस्था में स्वयं खाने-पीने, वस्त्र पहिनने तथा नहाने के कौशल में निखार आने लगता है। बाल संवारना और नहाना इन कौशलों को इस अवस्था में सरलता से सीखा जा सकता है। बालक गेंद फेंकने और पकड़ने में विशेष कुशलता प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में बालक पहाड़ियों पर चढ़ना, आँख मिचौनी खेलना, कूदना-फाँदना, सरपट दौड़ लगाना, छलांग मारना और तैरना आदि अच्छी तरह सीख जाता है। आँख और हाथ का समन्वय करना

शीघ्र सीख लेता है। कला-कृत्तियों में वालक विकास करता है। इस अवस्था में वालक सब प्रकार की गामक क्रियाओं में खूब रस लेता है। खूब अभ्यास करने के लिये तत्पर रहता है। अभ्यास से उसकी गतियों में तेजी से संचार होता है और यथार्थता की वृद्धि होती है तथा उसका विकास बढ़ जाता है। व्यर्थ की गतियाँ धीरे-धीरे लुप्त होने लगती हैं। इस अवस्था में विभिन्न कौशलों में पूर्णता प्राप्त करने की दिशा में व्यक्तिगत भेद पाये जाते हैं। लड़कियाँ सूक्ष्म पेशियों से सम्बन्धित कौशलों, जैसे :—कढ़ाई-बुनाई, सिलाई, चित्र-कला आदि में लड़कों से आगे रहती हैं परन्तु लड़के साहस के खेलों, कूदने-फांदने और तेज दौड़ लगाने आदियों में लड़कियों से आगे रहते हैं। इस समय बालक दायें वायें दोनों हाथों का प्रयोग करने लगता है।

किशोरावस्था

समाज द्वारा स्वीकृत गति सम्बन्धी कौशलों, खेल-कूद, नाच तथा सामाजिक क्रियाकलापों में किशोर किशोरियां अधिक दिलचस्पी लेती हैं। उनमें कुशलता प्राप्त करके ही वे दम लेती हैं। गत्यात्मक कार्य करने की योग्यता की परिपक्वता लड़कियों में १४ वर्ष और लड़कों में १७ वर्ष में आ जाती है। सामाजिक सम्मान प्राप्त होने वाले कौशलों में तथा प्रतियोगिता वाले खेल-कूदों में किशोर अधिक रुचि लेने लगते हैं। किशोरियां उन्हीं खेल-कूदों में रुचि लेती हैं जिनमें बल का महत्व नहीं रहता। जैसे—नृत्य करना, फुगड़ी खेलना और गोता लगाना आदि। इस अवस्था में आँख और हाथ का संयोजन चरम सीमा पर होता है। तेज दौड़, ऊँची कूद, लम्बी कूद और दूर पर गोला फेंकना आदि कौशलों में किशोर किशोरियों से आगे रहते हैं।

विलम्बित गामक विकास

वैसे तो सामानतया बच्चों का गामक विकास सामान्य क्रम से होता है। परन्तु ऐसे भी बालक पाये जाते हैं, जिनका कि गामक विकास सामान्य अनुक्रम से नहीं हो पाता है, कुछ विलम्ब से होता है। यदि उनकी परिपक्वता की प्रक्रिया में किसी प्रकार की गड़बड़ी तथा विलम्ब होता है तो उनकी गामक योग्यता कुछ कुण्ठित और लुण्ठित सी हो जाती है। इसका उनके सामाजिक तथा व्यक्तित्व विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसे बालक अपने साथ के वालकों से मिलने-जुलने में संकोच और लज्जा का अनुभव करने लगते हैं जिसके फलस्वरूप उनमें आत्महीनता की भावना ग्रन्थि बनने की सम्भावना रहती है। गामक विकास में विलम्ब होने के अनेक कारण हैं जो इस प्रकार हैं।

गामक विकास में विलम्ब होने के कारण

(१) **परिपक्वता का अभाव.** परिपक्वता बाल-विकास की प्रधान प्रक्रिया है। इसी के कारण बालक की स्नायुविक तथा शारीरिक क्षमता का विकास होता है। अतः यदि समय के अनुसार यह परिपक्वता नहीं आती तो बालक का गामक विकास निश्चित अनुक्रम के अनुसार नहीं होने पाता।

(२) **बीमारी तथा पौष्टिक भोजन का अभाव.** बीमारी अजारी और बुरे स्वास्थ के कारण बालक के गामक विकास में देर लगती है। सूखा रोग हो जाने पर या जन्म से अन्धा या गूंगा हो जाने पर क्रियाशीलता में अवरोध आ जाता है। पौष्टिक भोजन न मिलने पर भी बालक का गामक विकास-क्रम कुण्ठित हो जाता है।

(३) **शरीर का आकार.** उठने-बैठने, खड़े होने, चलने-फिरने तथा अन्य कौशलों के विकास पर शरीर के आकार का प्रभाव पड़ता है। यदि पैर और धड़ की लम्बाई अनुपात से अधिक बढ़ जाती है और वजन तथा ऊँचाई का अनुपात घट जाता है तो शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है। छोटी हड्डी वाले दुबले-पतले बच्चे पुष्ट मांस-पेशी वाले मोटे बच्चों की अपेक्षा चलना जल्दी सीख लेते हैं। इस सम्बन्ध में शर्ली और नारबल ने महत्वपूर्ण अध्ययन किया है।

(४) **बौद्धिक हीनता.** टरमेन (१९२५) तथा गैरीसन (१९५२) के अनुसार मन्द बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा प्रखर बुद्धि वाले बालक उठना, बैठना, पकड़ना और चलना-फिरना जल्दी सीख लेते हैं। जरसिल्ड (१९५४) के अनुसार जो बालक बैठने, खड़े होने और चलने आदि में मन्द होते हैं वे बौद्धिक विकास में भी पिछड़े होते हैं।

(५) **शिक्षा एवं सभ्यता.** अधिक शिक्षित माता-पिता सफाई और सभ्यता के नाम पर धूल के हीरों को खुले पांव नहीं चलने देते और न धूल में खेलने देते। प्रारम्भ से ही उन्हें जूते मौजे पहिना कर गन्दगी से बचाने का जबर्दस्ती प्रयास करते हैं। ऐसा करने से उनका गामक विकास कुण्ठित हो जाता है। बच्चों का प्रारम्भिक जीवन जितना ही सरल, सुख-मय, स्वतन्त्र और सुविधाजनक होता है उतना ही उनका क्रियात्मक विकास अच्छा होता है।

(६) **पोशाक अथवा पहिनावा.** बच्चे के शरीर पर जितने भी कम कपड़े रहेंगे वह उतनी ही सरलता से अपने शरीर के विभिन्न अवयवों को घुमा सकेगा, अंग-प्रत्यन्ग का सन्चालन भली-भांति कर सकेगा और उतना ही शीघ्र वह मांस-

पेशी नियन्त्रण प्राप्त कर सकेगा। किन्तु आधुनिक सभ्यता के शिकार माता-पिता छोटी अवस्था से ही बच्चों को नाना प्रकार के कपड़े पहिनाने लगते हैं। चुस्ती के नाम पर चुस्त कपड़े और पांव में चुस्त जूते पहनाते हैं। शारीरिक कष्ट के कारण बच्चे स्वतन्त्रता पूर्वक चल फिर नहीं पाते। इन सब कारणों से उनका गामक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

(७) **अति चिन्ता.** अतिचिन्तित मां-बाप बस यही चाहते हैं कि उनका लाल जल्दी से जल्दी बोलने, खड़े होने, चलने-फिरने अथवा दौड़ने लगे। इसके लिए वे अपरिपक्वावस्था में ही भौतिक उपादानों का सहारा लेते हैं। बैठने को योग्यता न आने पर भी वे अपने बच्चों को जबर्दस्ती बैठाते हैं जिससे उनके गामक विकास में बाधा पहुंचती है।

(८) **समुचित वातावरण, अवसर तथा अभ्यास का अभाव .** जिन बच्चों को इधर-उधर चलने फिरने के अधिक स्थान और अवसर मिलते हैं वे बच्चे मांस-पेशियों पर शीघ्रतर नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं और जिन बच्चों को ये अवसर अथवा सुविधायें नहीं मिलती उनका गामक विकास देर से होता है। जो बच्चे अधिक गोद में रखे जाते हैं वे देर से उठना-बैठना और चलना-फिरना सीख पाते हैं। जोन्स (१९४९) और गेरीसन (१९५२) का कहना है कि अभ्यास के अवसर के अभाव में क्रियात्मक कुशलता का विकास अवरुद्ध हो जाता है।

(९) **प्रोत्साहन, प्रेरणा और प्रशिक्षण का अभाव.** समुचित वातावरण के रहते हुए भी प्रोत्साहन और प्रेरणा के अभाव में बच्चों की गतियों का विकास अच्छा नहीं हो पाता। डेनिस (१९३४) और विलियम (१९५४) का कथन है कि अत्यन्त लाड़-प्यार से पले बच्चे जिन्हें चलने-फिरने की प्रेरणा कम मिलती है, वे आलसी परावलम्बी रहते हैं और उनकी गति का विकास धीरे होता है। भिन्न आदिम संस्कृतियों में प्रशिक्षण के अवसर न मिलने पर शिशुओं के क्रियात्मक विकास में भिन्नता आ जाती है।

(१०) **खेल कूद की सुविधा का आभव.** जो बच्चे घर-घुसने बने रहते हैं और जिन्हें मौज से खूब खेलने कूदने के अवसर नहीं दिये जाते और हरदम कड़े नियन्त्रण में रखे जाते हैं, उनका गामक विकास रुक जाता है।

(११) **भय और शारीरिक दण्ड.** मांस-पेशी तथा स्नायु मण्डल की यथेष्ट परिपक्वता के पूर्व यदि बालक को विशिष्ट क्रिया करने के लिए बाध्य किया जाता है या उसे डराया-धमकाया जाता है या शारीरिक दण्ड दिया जाता है तो इसका फल उसके क्रियात्मक नियन्त्रण पर उल्टा पड़ता है। समय के पूर्व यदि उसे चलने,

दौड़ने या कूदने-फादने के लिए विवश किया जाता है तो उसकी इन सब गतियों का विकास देर से होता है। मेरी और मेरी (१६५०) के अनुसार निरन्तर मानसिक तनाव की स्थिति में उसका क्रियात्मक विकास कुण्ठित हो जाता है। कुछ माता-पिता अपने बच्चे के विलम्बित विकास पर चिन्तातुर हो जाते हैं। चिन्ता होने पर वे उसकी अन्य बालकों से स्वयं तुलना करने लगते हैं और बालकों की विभिन्न प्रकार से भर्त्सना करने लगते हैं। इससे उसका गामक विकास रुक जाता है।

गामक विकास और शिक्षा व्यवस्था

बालकों का क्रियात्मक विकास पुष्ट तथा सन्तुलित भोजन पर निर्भर रहता है। अतः उसके उचित विकास के लिए पुष्ट तथा सन्तुलित व्यवस्था करनी चाहिए बालकों का पहिनावा भी गामक विकास को प्रभावित करता है। इसलिये अंग प्रत्यन्ग के खुले सन्चालन के लिये ढीले-ढाले, हल्के-फुल्के, मुलायम और कम से कम बस्त्र पहिनाना चाहिये। चुस्त और शरीर से सटे हुए कपड़े नहीं पहिनाना चाहिये। साथ ही जूते भी खूब मुलायम और आराम देह पहिनाना चाहिये। ऐस कहा गया है कि बालक का प्रारम्भिक जीवन जितना भी सरल, सुखमय, स्वतन्त्र, सन्तोषजनक और सुविधाजनक होगा उतना ही अधिक अच्छा क्रियात्मक विकास होगा। अतः उसे पूरी पूरी स्वतन्त्रता और सुविधा दी जानी चाहिए और उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की अधिक से अधिक पूर्ति की जानी चाहिये।

आवश्यक परिपक्वावस्था के पूर्व बालक के क्रियात्मक विकास में अनावश्यक, जोर-जबर्दस्ती और जल्दी-बाजी नहीं करना चाहिये। अन्यथा गामक विकास में अवरोध उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। खेल बालक के जीवन का अनिवार्य अंग है। प्रारम्भ में वह खेल-खेल में अपने सारे शरीर के अंग-प्रत्यंगों को बार-बार इधर-उधर घुमाकर आनन्द लेता है। अस्तु बालक को विभिन्न प्रकार के खेल खेलने के लिये अनेक अवसर प्रदान करना चाहिये। गुटरिज का कथन है कि मांस-पेशीय नियन्त्रण के अवसर के अभाव से क्रियात्मक क्षमता का विकास देरी से होता है। अतः मांस-पेशियों का खुलकर विकास होने के लिये विभिन्न गतियों द्वारा उनके अभ्यास का अवसर प्रदान करना चाहिये।

हस्तकौशल के लिये दस्तकारी और लेखन आदि अधिक कराना चाहिये। टांगों के कौशल के विकास के लिए अधिक से अधिक चलने और दौड़ने और कूदने-फांदने के अवसर प्रदान करना चाहिये। लड़कियों को नृत्य-संगीत आदि में सक्रिय भाग लेने को प्रोत्साहित करना चाहिये। सूक्ष्म पेशियों के विकास के लिये उन्हें सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, चित्रकला और मूर्तिकला आदि में अधिक भाग लेने के लिये

प्रेरणा प्रदान करना चाहिये। मांस-पेशियों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिये बालकों को स्वयं भोजन करने, वस्त्र पहिनने तथा नहाने के लिये बढ़ावा देना चाहिये। बालकों की समय समय पर प्रशंसा और प्रोत्साहन से उनमें शान्ति, सन्तोष और सौजन्यता का संचार होता है। उनमें न मानसिक तनाव और न भय का वातावरण का प्रभाव उत्पन्न करना चाहिए और न शारीरिक दण्ड देना चाहिए, अन्यथा ऐसा करने से उनका गामक विकास कुण्ठित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त मांस-पेशी एवं स्नायु-मण्डल की परिपक्वता के लिए बालकों को किसी विशिष्ट क्रिया करने के लिये बाध्य नहीं करना चाहिये। अधिक लाड़-प्यार भी नहीं करना चाहिये। विभिन्न परिस्थितियों से स्वयं जूझने के लिये अनेक मौके देना चाहिये। शारीरिक श्रम अधिक करवाना चाहिये और व्यायाम की आदत डालना चाहिये। बालक की प्रारम्भिक छोटी-छोटी गल्तियों पर डाँटना-फटकारना, खिल्ली उड़ाना, उलाहना देना, भर्त्सना करना, दण्ड देना और घृणा करना नहीं चाहिये। ऐसा करने से संवेगात्मक कुण्ठा उत्पन्न होती है जो कि आगे चलकर गामक विकास को प्रभावित करती है। ज्यादा प्रतिबन्ध तथा नियंत्रण के शिकन्जे में बालकों को नहीं फंसाना चाहिये। बल्कि स्वतन्त्र वातावरण में विचरने का अवसर प्रदान करना चाहिये। किशोर समाज द्वारा स्वीकृत खेल-कूदों और क्रिया-कलापों को अधिक महत्व देते हैं। अतः उन्हें इन कौशलों में दक्षता प्राप्त करने के लिए अधिक सुविधा, समय और अवसर प्रदान करना चाहिये। आयु, लिंग, शक्ति, अवस्या, रुचि और रुझान के अनुसार बालक बालिकाओं से सारी क्रियायें करवाना चाहिये। इस प्रकार बालक बालिकाओं के गामक विकास में माता-पिता, अभिभावक तथा शिक्षक योगदान दे सकते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. बालक के गामक विकास का क्या अर्थ है ?

२. गामक विकास की विशेषताओं एवं महत्व पर प्रकाश डालिये।

३. गामक विकास के विभिन्न सोपानों का विश्लेषण कीजिये।

४. विभिन्न अवस्थाओं में गामक योग्यताओं का विकास किस प्रकार होता है ? स्पष्ट कीजिए।

५. बालक के गामक विकास के क्रम का वर्णन कीजिए।

६. विलम्बित गामक विकास के कारणों की व्याख्या कीजिए।

७. बच्चों के गामक विकास में माता-पिता तथा शिक्षक किस प्रकार योगदान दे सकते हैं।

८. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—

(अ) सिर के भाग में क्रियात्मक विकास।

(ब) धड़ में क्रियात्मक विकास।

(स) पैरों में गामक विकास।

भाषा के कार्य या प्रयोजन

बुहलर (१६३४) के अनुसार भाषा के प्रमुख तीन कार्य या प्रयोजन हैं :- प्रतिवेदन, अभिव्यक्ति और अपील। वाट्स के अनुसार भाषा संवहन का साधन और विचार का उपकरण है। इनके अतिरिक्त भाषा के अनेक कार्य बतलाये गये है। जैसे :-आकांक्षाओं का प्रकट करना, दूसरे के विचारों, भावनाओं और क्रियाओं को प्रभावित करना, ध्यान आकर्षित करना, स्मृति को सहायता प्रदान करना, तर्क पूर्ण चिन्तन प्रकट करना, सुख-दुःख प्रकट करना, विचारों को सुबोध तथा सुन्दर बनाना, विचार-भावों को व्यक्त करना, अर्थो का संवहन करना, और छिपाना, विचार व भावों को रहस्यात्मक रूप में प्रस्तुत करना, अलंकारिक वर्णन करना, भला-बुरा कहना और ऊँची हांकना आदि।

वलेन्स इ० रेगसडेल के मतानुसार भाषा के कार्यो को तीन वर्गो में बांटा जा सकता है।

(१) **समाजीकृत वाणी के रूप में.** भाषा सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने और अभिव्यक्ति का माध्यम तथा साधन है। इसीलिए मेकार्थी का कथन है कि विद्यालय प्रवेश के पूर्व बालकों द्वारा व्यक्त भाषा में ६६ प्रतिशत प्रतिक्रियायें सामाजिक होती हैं। प्याजे, मेरी और मेरी के अनुसार बालकों में समाजीकृत भाषा का विकास उस समय होता है जबकि उनका समाज के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है। समाजीकृत भाषा को पांच भागों में विभाजित किया गया है—अनुकूलित सूचनाओं के रूप में जिसमें बालक आपस में विचार विनिमय करते हैं; आलोचना के रूप में जिसमें बालक एक दूसरे के व्यवहारों और क्रियाओं की आलोचना करते हैं; आज्ञा, प्रार्थना, और धमकियों के रूप में जिसमें बालक आज्ञायें देते और मानते, किसी वस्तु के लिए प्रार्थना करते और धमकियां देते हैं; प्रश्न के रूप में जिसमें बालक विभिन्न प्रकार के प्रश्न करते हैं; और वास्तविक प्रश्नों के उत्तर देने के रूप में जिसमें बालक यद्यपि दूसरों से बात-चीत करते हैं, परन्तु अपनी अभिव्यक्ति पर ज्यादा जोर देते हैं। इस प्रकार समाजीकृत वाणी के स्वस्थ विकास द्वारा बालक अपने को समाज में समायोजित कर लेते हैं।

(२) **आत्मकेन्द्रित वाणी के रूप में.** प्याजे के अनुसार बालक के जीवन के प्रथम दो-तीन वर्षो की बातचीत या बोलना आत्मकेन्द्रित हुआ करता है। परन्तु ज्यों-ज्यों उसका सम्पर्क बढ़ता जाता है त्यों-त्यों भाषा का प्रयोग दोनों के मिलने-जुलने के उद्देश्य से हुआ करता है। प्याजे का कथन है कि बच्चे में अपने आप बात-चीत करने की प्रवृत्ति रहती है। अपने आप बातचीत करने के समय वे दूसरों के विचारों की ओर ध्यान नहीं देते और न उनके विचारों को समझने-बूझने की

चेष्टा करते हैं। वे अपने विषय में ही बात करते हैं और कहने सुनने वाले दोनों के कार्य स्वयं करते हैं। इस प्रकार उनकी यह क्रिया अपने आप में सीमित रहती है अर्थात् आत्मकेन्द्रित रहती है। उनकी भाषा में स्वर की मात्रा अधिक रहती है। वे अपनी भाषा का प्रयोग प्रभुत्व स्थापित करने, आज्ञा तथा दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये करते हैं।

इसके अतिरिक्त आत्मकेन्द्रित वाणी या भाषा के रूप में यह बात देखी जाती है कि दूसरों की उपस्थिति में बच्चे या तो अपने आप बातचीत करते हैं या उपस्थित व्यक्ति के विचारों को उसकी ओर संकेत करते हुए व्यक्त करते हैं। आगे चलकर प्याजे का कहना है कि विशेष आयु में ३-५ वर्ष में बालक का सोचना और बोलना आत्मकेन्द्रित हुआ करता है और ७-८ वर्ष की अवस्था में उसमें कमी आ जाती है। मेकार्थी का कथन है कि बच्चे की वाणी भले ही एकान्त में आत्मकेन्द्रित हो, परन्तु दूसरे व्यक्तियों अथवा अपने साथियों की उपस्थिति में वह आत्मकेन्द्रित नहीं होती। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि बालकों के जीवन के प्रथम दो-तीन वर्षों की भाषा आत्मकेन्द्रित हुआ करती है, परन्तु ज्यों-ज्यों उनका सम्पर्क दूसरों के साथ बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वे समाजीकृत वाणी का प्रयोग करने लगते हैं। आत्म-केन्द्रित वाणी और समाजीकृत वाणी के वयःसन्धि के विषय में कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती। बालकों की समाजीकृत वाणी का विकास उनके सामाजिक पर्यावरण की उपलब्धता पर निर्भर रहता है। जिन बालकों को सामाजिक सम्पर्क अधिक प्राप्त होता है उनकी समाजीकृत वाणी शीघ्र और अधिक प्रस्फुटित होती है।

(३) **चिन्तन के रूप में.** बालक भाषा के माध्यम से चिन्तन भी करते हैं। भले ही उनके चिन्तन को समाज की ओर से मान्यता न मिले।

भाषा विकास की विभिन्न अवस्थायें

जन्म क्रन्दन से लेकर जटिल वाक्य रचना तक भाषा विकास की विभिन्न अवस्थायें होती हैं। बाल मनोवैज्ञानिकों ने भाषा विकास को निम्नलिखित अवस्थाओं में बाँटा है।

(१) **क्रन्दन.** नवजात शिशु का प्रारम्भिक ध्वनि उच्चारण जन्म-क्रन्दन या रोने के रूप में प्रकट होता है। अधिकांश मनोवैज्ञानिकों ने इसे एक दैनिक क्रिया माना है, कारण कि रोते समय शिशु के शरीर में अनेक दैहिक परिवर्तन होते हैं। जैसे – सांस का रुक जाना या नाड़ी का रुक जाना आदि। जीवन के प्रथम दो सप्ताह तक शिशु अत्यन्त अनियमित रूप से क्रन्दन करता है। पहले शिशु

भाषा के कार्य या प्रयोजन

वुहलर (१९३४) के अनुसार भाषा के प्रमुख तीन कार्य या प्रयोजन हैं:– प्रतिवेदन, अभिव्यक्ति और अपील। वाट्स के अनुसार भाषा संवहन का साधन और विचार का उपकरण है। इनके अतिरिक्त भाषा के अनेक कार्य बतलाये गये है। जैसे :–आकांक्षाओं का प्रकट करना, दूसरे के विचारों, भावनाओं और क्रियाओं को प्रभावित करना, ध्यान आकर्षित करना, स्मृति को सहायता प्रदान करना, तर्क पूर्ण चिन्तन प्रकट करना, सुख-दुःख प्रकट करना, विचारों को सुबोध तथा सुन्दर बनाना, विचार-भावों को व्यक्त करना, अर्थो का संवहन करना, और छिपाना, विचार व भावों को रहस्यात्मक रूप में प्रस्तुत करना, अलंकारिक वर्णन करना, भला-बुरा कहना और ऊँची हांकना आदि।

क्लेन्स इ० रेग्सडेल के मतानुसार भाषा के कार्यो को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है।

(१) **समाजीकृत वाणी के रूप में.** भाषा सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने और अभिव्यक्ति का माध्यम तथा साधन है। इसीलिए मेकार्थी का कथन है कि विद्यालय प्रवेश के पूर्व वालकों द्वारा व्यक्त भाषा में ९६ प्रतिशत प्रतिक्रियायें सामाजिक होती हैं। प्याजे, मेरी और मेरी के अनुसार बालकों में समाजीकृत भाषा का विकास उस समय होता है जबकि उनका समाज के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाता है। समाजीकृत भाषा को पांच भागों में विभाजित किया गया है—अनु-कूलित सूचनाओं के रूप में जिसमें बालक आपस में विचार विनिमय करते हैं; आलोचना के रूप में जिसमें बालक एक दूसरे के व्यवहारों और क्रियाओं की आलो-चना करते हैं; आज्ञा, प्रार्थना, और धमकियों के रूप में जिसमें बालक आज्ञायें देते और मानते, किसी वस्तु के लिए प्रार्थना करते और धमकियां देते हैं; प्रश्न के रूप में जिसमें बालक विभिन्न प्रकार के प्रश्न करते हैं; और वास्तविक प्रश्नों के उत्तर देने के रूप में जिसमें बालक यद्यपि दूसरों से बात-चीत करते हैं, परन्तु अपनी अभिव्यक्ति पर ज्यादा जोर देते हैं। इस प्रकार समाजीकृत वाणी के स्वस्थ विकास द्वारा बालक अपने को समाज में समायोजित कर लेते हैं।

(२) **आत्मकेन्द्रित वाणी के रूप में.** प्याजे के अनुसार बालक के जीवन के प्रथम दो-तीन वर्षो की बातचीत या बोलना आत्मकेन्द्रित हुआ करता है। परन्तु ज्यों-ज्यों उसका सम्पर्क बढ़ता जाता है त्यों-त्यों भाषा का प्रयोग दोनों के मिलने-जुलने के उद्देश्य से हुआ करता है। प्याजे का कथन है कि बच्चे में अपने आप बात-चीत करने की प्रवृत्ति रहती है। अपने आप बातचीत करने के समय वे दूसरों के विचारों की ओर ध्यान नहीं देते और न उनके विचारों को समझने-बूझने की

चेष्टा करते हैं। वे अपने विषय में ही बात करते हैं और कहने सुनने वाले दोनों के कार्य स्वयं करते हैं। इस प्रकार उनकी यह क्रिया अपने आप में सीमित रहती है अर्थात् आत्मकेन्द्रित रहती है। उनकी भाषा में स्वर की मात्रा अधिक रहती है। वे अपनी भाषा का प्रयोग प्रभुत्व स्थापित करने, आज्ञा तथा दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये करते हैं।

इसके अतिरिक्त आत्मकेन्द्रित वाणी या भाषा के रूप में यह बात देखी जाती है कि दूसरों की उपस्थिति में बच्चे या तो अपने आप बातचीत करते हैं या उपस्थित व्यक्ति के विचारों को उसकी ओर संकेत करते हुए व्यक्त करते हैं। आगे चलकर प्याजे का कहना है कि विशेष आयु में ३-५ वर्ष में बालक का सोचना और बोलना आत्मकेन्द्रित हुआ करता है और ७-८ वर्ष की अवस्था में उसमें कमी आ जाती है। मेकार्थी का कथन है कि बच्चे की वाणी भले ही एकान्त में आत्मकेन्द्रित हो, परन्तु दूसरे व्यक्तियों अथवा अपने साथियों की उपस्थिति में वह आत्मकेन्द्रित नहीं होती। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि बालकों के जीवन के प्रथम दो-तीन वर्षों की भाषा आत्मकेन्द्रित हुआ करती है, परन्तु ज्यों-ज्यों उनका सम्पर्क दूसरों के साथ बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वे समाजीकृत वाणी का प्रयोग करने लगते हैं। आत्म-केन्द्रित वाणी और समाजीकृत वाणी के वयःसन्धि के विषय में कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती। बालकों की समाजीकृत वाणी का विकास उनके सामाजिक पर्यावरण की उपलब्धता पर निर्भर रहता है। जिन बालकों को सामाजिक सम्पर्क अधिक प्राप्त होता है उनकी समाजीकृत वाणी शीघ्र और अधिक प्रस्फुटित होती है।

(३) **चिन्तन के रूप में.** बालक भाषा के माध्यम से चिन्तन भी करते हैं। भले ही उनके चिन्तन को समाज की ओर से मान्यता न मिले।

भाषा विकास की विभिन्न अवस्थायें

जन्म क्रन्दन से लेकर जटिल वाक्य रचना तक भाषा विकास की विभिन्न अवस्थायें होती हैं। बाल मनोवैज्ञानिकों ने भाषा विकास को निम्नलिखित अवस्थाओं में बाँटा है।

(१) **क्रन्दन.** नवजात शिशु का प्रारम्भिक ध्वनि उच्चारण जन्म-क्रन्दन या रोने के रूप में प्रकट होता है। अधिकांश मनोवैज्ञानिकों ने इसे एक दैनिक क्रिया माना है, कारण कि रोते समय शिशु के शरीर में अनेक दैहिक परिवर्तन होते हैं। जैसे – सांस का रुक जाना या नाड़ी का रुक जाना आदि। जीवन के प्रथम दो सप्ताह तक शिशु अत्यन्त अनियमित रूप से क्रन्दन करता है। पहले शिशु

शारीरिक तनाव कम करने के लिये क्रन्दन करता है। सात सप्ताह तक शिशु भूख, शोर-गुल, तेज प्रकाश, स्नान, सर्दी-गर्मी, और पीड़ा आदि के कारण रोते हैं। उनके प्रारम्भिक क्रन्दन के कारण उनकी आवश्यकतायें होती हैं। जैसे-जैसे वे विकसित होते हैं तैसे-तैसे उनके क्रन्दन विशिष्ठ परिस्थितियों से सम्बद्ध हो जाते हैं। तीसरे महीने की अवस्था में शिशु क्रन्दन द्वारा दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना है। चार महीने का शिशु तब रोता है जबकि कोई उसके साथ खेलना छोड़ देता है।

पांचवें महीने में यदि कोई उसके कमरे में प्रवेश करता है परन्तु उसकी ओर ध्यान नहीं देता तो वह रोने लगता है। ६ महीने में यदि कोई उसके सामने दूसरा बच्चा गोद में ले लेता है तो वह चीखने चिल्लाने लगता है। डांटने डपटने से वह टन्ना कर रोने लगता है। वासटन (१६२५), कैल (१६३२) और यंग (१६४३) के अनुसार दो वर्ष के बाद शिशु का रोना प्रायः सामाजिक कोटि का होता है। यदि कोई सयाना लड़का उसका खिलौना छीन लेता है या उसे मारने की धमकी देता है तो वह रोने लगता है। आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की पूर्ति से शिशु रोना बंद कर देते हैं। रोने की प्रारम्भिक अवस्था में शिशु पहले स्वरों का जैसे—अ, इ, उ, आदि का उच्चारण करता है बाद में व्यञ्जनों का जैसे – म, न, प, फ आदि। वह शब्द-खण्ड जैसे मां, बा, दू, आदि का भी उच्चारण करने लगता है।

(२) **निरर्थक तथा विस्फोटक ध्वनियां तथा बबलाना.** इरविन (१६४८) और मेकार्थी (१६५४) के अनुसार प्रथम महीने में शिशु गँ, गूँ, कूँ आदि के रूप में निरर्थक ध्वनियाँ निकालता रहता है। बाद में पीड़ा, परेशानी, आनन्द, खांसी, जम्हाई, और छींक इत्यादि से सम्बन्धित ध्वनियों का भी विकास होता है। प्रारम्भिक ध्वनियां विस्फोटन स्वरूप की होती हैं। चौथे या पांचवें महीने तक ये ध्वनियां स्पष्ट होने लगती हैं। प्रथम वर्ष में ध्वनियां स्वर प्रधान और बाद में व्यञ्जन प्रधान हो जाती हैं। ये ध्वनियां उच्चारण से सम्बन्धित शरीर के जो अवयव हैं उनकी गतियों से उत्पन्न होती हैं। शिशुओं के दांत निकलने पर त, थ, द का उच्चारण करता है। शिशु में दूसरे या तीसरे महीने में बबलाना शुरू हो जाता है। बबलाने की ध्वनियों की संख्या में धीरे-धीरे वृद्धि हो जाती है। छठवें महीने में शिशु स्वर और व्यञ्जनों को संयुक्त रूप में उच्चरित करता है। जैसे दादा, मामा, आदि। बबलाना ध्वनि का विकास आकस्मिक या धड़ाके के साथ की ध्वनि से होता है। इस ध्वनि के द्वारा शिशु अपने विचारों और भावों को व्यक्त नहीं कर पाता।

शिशु बबलाने में खूब रस लेता है। बच्चों में बबलाना प्रधानतः उनकी स्वर यन्त्रों की परिपक्वता पर निर्भर रहता है। लेविस (१९५१) के अनुसार यदि उसके यन्त्रों में परिपक्वता नहीं आती तो वह २–२½ वर्ष तक बबलाता ही रहता है। एक वर्ष तक बबलाने की बहुलता रहती है। यद्यपि बबलाने के माध्यम से शिशु सामाजिक परिस्थिति में बातचीत करने का उपक्रम करता है, परन्तु माता-पिता आदि इसका अर्थ निकालते हैं। एक वर्ष तक बबलाने का सम्बन्ध किसी वस्तु, व्यक्ति तथा परिस्थिति से नहीं रहता इसलिए इसे भाषा का रूप नहीं कहा जा सकता। इतना सब होते हुये भी बबलाने की क्रिया द्वारा शिशु को अपने स्वर यन्त्रों की मांस-पेशियों पर नियंत्रण करना आ जाता है जो कि आगे चलकर भाषा सीखने तथा भाषा शक्ति के समझने में सहायक सिद्ध होता है।

(३) **भाव-भंगिमायें या हाव-भाव या संकेत व अंग-विच्क्षेप.** बच्चे की बोली अस्पष्ट होती है। उसे सुनने वाला समझ नहीं पाता। अतः वह भिन्न हाव-भाव व अंग-विच्क्षेप तथा संकेत के द्वारा अपने मन के विचारों तथा भावों को दूसरों को समझाने की चेष्टा करता है। दूसरे वह मुस्कराकर, आंखें तरेरकर, हाथ फैलाकर, नाक-मुंह फुलाकर और दांत पीसकर अपनी संवेगात्मक स्थितियों को प्रकट करता है। शिशु तथा वयस्कों के हाव-भाव में प्रमुख अन्तर यह होता है कि शिशु इसका प्रयोग भाषा के स्थान पर करता है और वयस्क इसका प्रयोग भाषा के पूरक रूप में करता है। ज्यों-ज्यों शिशु भाषा सीखता जाता है त्यों-त्यों उसके अंग-विच्क्षेप की क्रियायें कम होती जाती हैं।

(४) **आकलन शक्ति अथवा भाषा का प्रारम्भिक ज्ञान.** बालक अपने विचारों तथा भावों को शब्दों द्वारा व्यक्त करने की बजाय दूसरों के द्वारा बोले गये शब्द या कही हुई बात शीघ्र समझ लेता है। मैकार्थी, गैरीसन और जर्सिल आदि के अनुसार ३-४ महीने की आयु से ही बालक के भाषा ज्ञान या आकलन शक्ति का प्रारम्भ हो जाता है। जैसे ४ महीने की आयु में शिशु माता को देखकर व पहिचानकर मुस्कराने लगता है और किसी आवाज को सुनकर उसकी ओर सिर घुमाने लगता है। दूसरों को मुस्कुराता हुआ देखकर स्वयं मुस्कराने लगता है। ८ माह का बालक दूसरों के शब्द ध्यान से सुनकर उसी प्रकार बोलने की चेष्टा करता है। १ वर्ष की आयु में वह वयस्कों के आदेशों और निर्देशों को समझने लगता है। ४-५ वर्ष की आयु तक उसकी आकलन शक्ति या भाषा ज्ञान की शक्ति बहुत बढ़ जाती है। हरलाक का कथन है कि किसी भी आयु में बच्चे के समझने का शब्द कोश उसके बोलने वाले शब्द-कोष से बड़ा होता है। बोलने वाले की मुखाकृति, ध्वनि, हाव-भाव आदि को शिशु समझ जाता है कि उससे क्या कहा जा रहा है और उसे क्या करना है।

(५) **शब्द-प्रयोग तथा शब्द-भंडार की वृद्धि.** प्रथम शब्द के बोलने अथवा प्रकट होने के सम्बन्ध में लिंग, बुद्धि, वातावरण, शिक्षित परिवार और प्रेरणा के कारण समय में कुछ अन्तर पाया जाता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियां पहिले बोलना सीखती हैं। प्रखर बुद्धि वाले बालक मन्द बुद्धि वाले बालक की अपेक्षा शीघ्र बोलते हैं। माता-पिता व अभिभावक की प्रेरणा और प्रशंसा द्वारा भी बालक के प्रथम शब्द जल्दी प्रकट होते हैं। शिक्षित परिवार के बालकों का प्रथम शब्द जल्दी प्रकट होता है। बालक द्वारा जल्दी या देर से बोलने के इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद पाया जाता है। शर्ली के अनुसार ६० सप्ताह की आयु में बच्चे प्रथम शब्द बोलते हैं। बालकों में शब्द-भंडार का विकास दो रूपों में होता है, सामान्य शब्द भंडार और विशिष्ट शब्द भंडार। सामान्य शब्द भंडार में प्रत्येक शब्दों का उपयोग होता है। बबलाने की ध्वनियों में बच्चों को जो ध्वनि सबसे अच्छी लगती है उसे ही प्रथम शब्द के रूप में वे प्रकट करते हैं। बाद में इस शब्द को वे बार-बार दुहराते हैं। जैसे मामा, दादा आदि। धीरे-धीरे वे सुने हुये शब्दों का अनुकरण करके उन्हें दुहराते हैं। प्रारम्भ में उनकी शब्दावली में सरल और उपयोगी शब्दों का प्रयोग होता है। शुरू में एक शब्द के प्रयोग द्वारा बालक अपना पूरा भाव प्रकट करते हैं जैसे रोटी शब्द के उच्चारण से बालक यह भाव प्रकट करना चाहता है कि मैं रोटी खाऊंगा क्योंकि मुझे भूख लगी है। बच्चे सबसे पहिले संज्ञा शब्दों को सीखते हैं। संज्ञा के पश्चात् वे क्रियाओं जैसे खाना-पीना, रोना आदि, फिर विशेषण जैसे अच्छा-बुरा, लाल-पीला और फिर क्रिया विशेषण, जैसे तेजी या धीरे से आदि शब्दों को सीखते हैं और सबसे अन्त में सर्वनाम शब्दों को जैसे मेरा, तेरा आदि। १८ महीने के बालक की भाषा में संज्ञा की अधिकता रहती है। २ वर्ष की अवस्था में विशेषण और क्रियाविशेषण शब्दों की। ३ वर्ष की आयु में वे पूरे वाक्यों में बोलने लगते हैं। बालक का शब्द भंडार धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होता है।

स्मिथ के अनुसार एक साल का बालक औसतन ३ शब्द, डेढ़ वर्ष का २२ शब्द, २ वर्ष का २७२ शब्द, ३ वर्ष का ८९६ शब्द, ४ वर्ष का १५४० शब्द, १० वर्ष का ५४०० शब्द और १४ वर्ष का बालक ९४०० शब्द बोलता है। इस प्रकार शब्दावलि का विकास होता है। बालकों में विशिष्ट शब्द भंडार का ज्ञान ३ वर्ष की आयु से आरम्भ हो जाता है। इसमें शब्दों के अर्थ विशेष परि-स्थितियों में प्रयुक्त होते रहते हैं। बालकों को विशिष्ट शब्दों का ज्ञान इस प्रकार होता है :-

(अ) **रटे हुये शब्दों का ज्ञान.** वयस्क बच्चे से अनेक शब्दों का उच्चारण

करने को कहते हैं। वे बार-बार दुहराकर या रटकर शब्दों का उच्चारण करना सीख जाते हैं परन्तु उनका यथार्थ अर्थ नहीं समझ पाते।

(ब) शिष्टाचार सम्बन्धी शब्दों का ज्ञान. इनके अन्तर्गत धन्यवाद, कृतज्ञता ज्ञापन, अभिवादन, प्रसन्नता और पश्चाताप आदि की अभिव्यक्ति आदि शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे कृपया, धन्यवाद, अफसोस है इत्यादि।

(स) संख्या ज्ञान. २$\frac{1}{2}$ से ३ वर्ष के बालक १० तक की गिनती बिना समझे-बूझे सीख लेते हैं। ६ वर्ष की आयु का बालक १० तक की गिनती का अर्थ समझने लगता है।

(ड) रंगों का ज्ञान. छोटे बच्चे रंगीन वस्तुओं के प्रति शीघ्र आकर्षित होते हैं। बुक के अनुसार वे ४ वर्ष की आयु में नीले-पीले आदि रंगों से परिचित हो जाते हैं।

(प) समय सूचक शब्दों का ज्ञान. ६-७ वर्ष की आयु तक बालक सवेरे-शाम, गर्मी और सर्दी का अर्थ सहित ज्ञान कर लेता है।

(फ) मुद्रा सम्बन्धी शब्दों का ज्ञान. ५ वर्ष की अवस्था तक बालक मुद्राओं के विभिन्न रूपों का नाम जान जाता है परन्तु उनके मूल्यों का अंकन नहीं कर पाता। बड़े घर के लड़के रुपये पैसे का ज्ञान जल्दी प्राप्त कर लेते हैं।

(भ) गाली और शपथ सूचक शब्दों का ज्ञान. बालक शपथ और गाली-गलौज के शब्द अपने संगी-साथियों से सीख लेता है जैसे—भगवान कसम, गधे, सुअर आदि।

(म) गुप्त भाषा. किशोर अवस्था में दूसरों को छकाने के लिए गुप्त भाषा के शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस भाषा का प्रयोग घनिष्ट मित्रों से भी किया जाता है। साथ ही साथ संकटों के काल में भी इस भाषा का प्रयोग होता है। कभी-कभी छकाने के रूप में इस भाषा का प्रयोग किया जाता है। जैसे जब कोई लड़की दोनों आँखों में खब काजल लगा लेती है तो उसकी सहेली उसे छकाने के लिए इस प्रकार की गुप्त भाषा का प्रयोग करती हुई कहती है कि आज हमारे कुंए में दो बिल्ली गिरीं।

(६) वाक्य रचना तथा प्रयोग. लगभग २ वर्ष की आयु में बालक दो शब्दों को जोड़कर वाक्य बनाना आरम्भ कर देते हैं जैसे 'पानी दो' इसमें क्रिया और संज्ञा शब्दों का प्रयोग करते हैं। इनके अधिकांश वाक्य अपूर्ण रहते हैं और वे अपने हाव-भाव के मिश्रण से उन्हें पूर्ण करते हैं। वे अपने वाक्यों में अधिकतर संज्ञा, क्रिया, विशेषण और क्रिया-विशेषण शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। ४ वर्ष की अवस्था में वे पूरे वाक्यों का प्रयोग करते हैं। ५ वर्ष के लगभग उनके वाक्यों

के प्रयोग में पूर्णता आ जाती है और ६ वर्ष की अवस्था तक वे सरल, मिश्रित और संयुक्त वाक्य भी बना लेते हैं जैसे सरल वाक्य—मोहन सांप देखता है। मिश्रित वाक्य—मोहन एक सांप देखता है जो काला है। संयुक्त वाक्य—मोहन बाजार जाता है और खिलौने खरीदता है। विभिन्न आयु-स्तर के विभिन्न बालकों में वाक्य रचना या विन्यास में अन्तर पाया जाता है। सुशिक्षित तथा सम्पन्न परिवार के बालकों में वाक्य बनाने की क्षमता शीघ्र विकसित हो जाती है।

(७) **लिखित और मौखिक भाषा.** ६ वर्ष की आयु के पश्चात् वे केवल वाक्य रचना या प्रयोग ही नहीं सीखते, बल्कि उनमें लिखने और बोलने की अधिक क्षमता आ जाती है और इसके अन्तर्गत वे सरल वाक्यों से लेकर जटिल वाक्यों तक बोलने और लिखने में समर्थ हो जाते हैं।

(८) **पठन योग्यता.** सातवें वर्ष से बालक मिले-जुले और संयुक्त अक्षर पहिचानने लगते हैं और उनमें पढ़ने की कुछ क्षमता आ जाती है, यद्यपि पढ़ने में वे गलतियाँ करते हैं और कुछ शब्द या वाक्यों को छोड़ देते हैं। वे जोर से या धीरे भी पढ़ते हैं। वे जीवनियाँ और कहानियाँ आदि ७-८ वर्ष की अवस्था में पढ़ने लगते हैं। १०-१२ वर्ष के बालक पूरी तरह पढ़ने लगते हैं। पठन योग्यता में देखने-सुनने की इंद्रियों की क्षमता, मानसिक योग्यता, शाला और घर के वातावरण आदि के कारण भिन्नता पाई जाती है।

(९) **लिखित अभिव्यक्ति.** लिखने की योग्यता बालकों के विस्तृत शब्द भंडार, वातावरण, सूझ-बूझ और वाक्य रचने की योग्यता तथा हाथ पेशियों के उचित विकास पर निर्भर करती है। शालाओं में लिखित रूप से अपने विचारों तथा भावों को व्यक्त करने की योग्यता का काफी विकास होता है, क्योंकि वहाँ पर शुद्धाशुद्ध लिखना, पत्र लिखना, सारांश लिखना, निबन्ध लिखना और प्रश्नों के उत्तर देने का अभ्यास होता है।

भाषा को प्रभावित करने वाले अंग

यद्यपि सामान्यत: बालकों का भाषा-विकास एक निश्चित क्रम के अनुसार होता है, तो भी उनकी भाषा विकास की गति, शब्दोच्चारण तथा शब्द-भंडार विकास आदि में व्यक्तिगत विभेद पाया जाता है। इस विभेद के लिए निम्नलिखित तत्व उत्तरदायी माने जाते हैं यथा :—

(१) **शारीरिक अवस्था.** जो बालक शैशव काल के आरम्भ ही से अस्वस्थ रहते हैं उनका सम्पर्क लोगों से अधिक नहीं हो पाता; अत: ऐसे बीमार बालकों का भाषा विकास कुछ देरी से होता है। गैसेल के अनुसार अक्सर बहरे बालक देर से बोलना सीखते हैं।

(२) **मानसिक योग्यता.** फिशर (१९३४), हरमैन (१९२८) और मेकार्थी (१९५४) का कहना है कि मन्द बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा प्रखर बुद्धि वाले बालकों का शब्द भण्डार अधिक विकसित होता है और उनके वाक्यों में कम अशुद्धियां रहती हैं। उनमें भाषा के अर्थ समझने की अच्छी योग्यता रहती है। परन्तु कुछ मन्द बुद्धि वाले बालक तीव्र बुद्धि वाले बालक से पहले बोलना सीख लेते हैं।

(३) **पारिवारिक सम्बन्ध.** डेविस (१९३७) के अनुसार भाषा विकास पर माता-पिता तथा परिवारों के मधुर सम्बन्धों का प्रभाव पड़ता है। अनाथालय तथा अन्य संस्थाओं में पले हुये बालकों का भाषा विकास इतना विकसित नहीं होता और देर से होता है, क्योंकि उनमें अपनत्व का भाव कम रहता है और उन्हें माता-पिता व परिवार के अन्य लोगों का प्यार नहीं मिल पाता। अनाथालयों में पले हुए बालकों का अध्ययन करके स्पिज, मेकार्थी और थामसन ने यह निष्कर्ष निकाला कि उनका बालक शिशु सामान्य परिवारों में पले बालकों की तुलना में कम होता है।

(४) **लिंग भेद.** जर्सिल्ड (१९५४) के अनुसार लड़कियों का शब्द भण्डार लड़कों से अधिक होता है। शब्दों के प्रयोग, उच्चारण तथा व्याकरण सम्बन्धी शुद्धता की दृष्टि से लड़कियां लड़कों से आगे होती हैं। मेकार्थी के अनुसार लड़कियां माता से अधिक निकट होने से अधिक सामाजिक सम्पर्क रखती हैं। पिता के अक्सर घर से बाहर रहने के कारण लड़कों को पिता का सम्पर्क नहीं मिल पाता। इसलिए लड़कों का आध्यात्मक विकास लड़कियों से पिछड़ जाता है। मेकार्थी की इस धारणा को कई मनोवैज्ञानिक नहीं मानते। उनका कथन है कि लड़कियों का सभी प्रकार का विकास लड़कों की अपेक्षा तीव्र गति से होता है।

(५) **सामाजिक आर्थिक स्तर.** हैविगहर्स्ट (१९४७) के अनुसार अच्छे सामाजिक-आर्थिक स्तर के वातावरण में पले हुए बालकों का भाषा विकास अपेक्षाकृत ऊंचा होता है। सुखी, सम्पन्न और सुरक्षित परिवार के बच्चे जल्दी बोलना सीख लेते हैं। इनका शब्द-भण्डार अधिक व्यापक और विकसित रहता है। ऐसा अक्सर देखा गया है कि शाला में निर्धन परिवार से आने वाले बालकों की अपेक्षा उच्च स्तर के परिवारों से आने वाले बालकों का शब्द-भंडार, अधिक रहता है। दूसरे 'उच्च सामाजिक-आर्थिक स्तर के परिवारों के बालकों को सीखने तथा समझने के लिए रेडियो तथा पत्र-पत्रिकाओं आदि के रूप में अधिक साधन उपलब्ध रहते हैं।

(६) **सबल स्वरतंत्र, कण्ठतन्त्री और शारीरिक यन्त्र.** शब्दों के शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण के लिए स्वर-तन्त्री, कण्ठतन्त्री और शारीरिक यन्त्र का सबल होना अत्यन्त आवश्यक है। जीभ, कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि के विकृत होने से भाषा विकास कुण्ठित हो जाता है।

(७) **यथेष्ट गामक शक्ति का विकास.** भाषा एक जटिल गामक क्रिया है। इस कार्य के सम्पादन के लिये शरीर के विभिन्न अवयवों, गतियों और कौशलों का सहयोग बहुत आवश्यक है। ध्वनि उत्पादन में श्वास गति, स्वर-यंत्र और कण्ठतन्त्र की सक्रियता अपेक्षित है। साथ ही स्नायविक तथा मांस-पेशीय तत्वों का संयोग और सहयोग भी।

(८) **यथेष्ट श्रवण शक्ति.** भाषा का विकास अधिक सुनने पर निर्भर रहता है। शब्दों को ठीक न सुनने से बालक बोलने तथा लिखने में गलती कर सकता है। इसलिए भाषा विकास के लिये अच्छी श्रवण शक्ति का होना आवश्यक है।

(९) **संकेतात्मक क्षमता.** भाषा एक संकेत है। शब्दों के सांकेतिक महत्व को जानने के लिये वयस्कों द्वारा व्यवहार में लाये हुये शब्दों तथा उनके विभिन्न अर्थों का जानना जरूरी है। अतः इसके लिए संकेतात्मक क्षमता अपेक्षित है।

(१०) **समोत्तेजन.** परिपक्व तथा स्वस्थ ग्राह्येन्द्रियों पर समोत्तेजन का प्रभाव पड़ता है जो कि आगे चलकर भाषा विकास को प्रभावित करता है।

(११) **दुभाषियापन (बाईलिंगुअलिज्म).** घर में दो या तीन से अधिक भाषा बोलने वाले बालकों का शब्द-भण्डार दोनों भाषाओं में सीमित रह जाता है। कारण कि दुभाषिये बालक को दो प्रकार की भाषा के शब्दों और दो प्रकार के व्याकरण के नियमों से परिचित होना पड़ता है। एक भाषा बोलने वाले बालक की अपेक्षा दो भाषा बोलने वाले बालक का शब्द-भंडार कम होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर स्मिथ ने यह आदेश दिया है कि जब तक बालक में भाषा सम्बन्धी विशेष क्षमता नहीं प्राप्त होती तब तक उसे दो भाषायें नहीं सिखाना चाहिए।

(१२) **श्रवण द्वारा भाषा ज्ञान.** बालक की श्रवणेन्द्रिय भाषा विकास को सबसे अधिक प्रभावित करती है। श्रवणेन्द्रिय में कुछ दोष होने से भाषा विकास में बाधा पड़ती है।

(१३) **मुख के विभिन्न अंग.** मुख के अन्तर्गत कण्ठ, जीभ, तालु, मोर्धा और दांत आदि शरीर के अंगों के विकास पर भाषा विकास निर्भर रहता है। यदि मुख के अंग विकसित नहीं होते तो सही उच्चारण में कठिनाई होती है।

(१४) **अक्षर ज्ञान.** विभिन्न ध्वनियों के प्रतीक अक्षर होते हैं। अतः बालक को सबसे पहिले अक्षर ज्ञान कराया जाता है। निरन्तर अभ्यास से उसका अक्षर ज्ञान अच्छा हो जाता है, जिसके कारण उसमें शीघ्र पढ़ने और लिखने की क्षमता आ जाती है।

(१५) **भाषा-लेखन.** जब बालक पढ़ने की योग्यता प्राप्त कर लेता है तब

वह उस भाषा को लिखने का प्रयास करता है। लिखने के लिये उसे आंख, हाथ और मानसिक शक्तियों का उपयोग करना पड़ता है।

(१६) **वार्तालाप.** बच्चा ज्यों-ज्यों बड़ा होता है त्यों-त्यों संगी-साथियों के बीच टूटी-फूटी भाषा का प्रयोग करने लगता है। वयस्क, मित्र एक साथ बैठकर वार्तालाप करते हैं और एक दूसरे से सीखते हैं। इस प्रकार भाषा का ज्ञान तथा विकास वार्तालाप द्वारा होता है।

(१७) **कहानी.** बच्चे कहानी सुनना बहुत पसन्द करते हैं। वे अपनी माता, दादी तथा नानी से कहानी बड़े चाव से सुनते हैं। कहानी सुनने के साथ भाषा का बोलना और भाषा में विचार या भाव लाना सीखते हैं।

(१८) **प्रश्नोत्तर.** बच्चों में कहानी सुनने के समान प्रश्न पूछने की भी प्रवृत्ति रहती है। वे प्रश्नों की भरमार से अपने बड़े-बूढ़ों का सदा सिर खाया करते हैं और इन प्रश्नोत्तर द्वारा वे भाषा भी सीखते हैं।

(१९) **खेल.** कुछ खेल ऐसे होते हैं जिनके द्वारा बच्चे भाषा बोलना सीखते हैं। खेल में आई हुई शब्दावलि को वे याद कर लेते हैं। इस प्रकार खेल की शब्दावलि से भाषा का विकास करते हैं।

भाषा-विकास का क्रम

भाषा विकास का एक निश्चित क्रम हुआ करता है जो इस प्रकार है :—

(१) **ध्वनि पहचानना.** शुरू-शुरू में शिशु कोई भी ध्वनि नहीं पहचान पाता। धीरे-धीरे ५-६ महीने की अवस्था में उसमें ध्वनि पहचानने की क्षमता आती है और उसके कान ध्वनि ग्रहण करने में समर्थ होते हैं।

(२) **ध्वनि उच्चारण.** पहिले शिशु गूं गां करता है फिर मां शब्द की ध्वनि पहिचानता है। शिशु उन शब्दों को पहले सीखता है जिनका सम्बन्ध उसकी आवश्यकताओं से अधिक रहता है।

(३) **शब्दोच्चारण तथा प्रयोग की अवस्था.** शिशु २ या ३ वर्ष की अवस्था में छोटे-छोटे सरल शब्दों के अतिरिक्त जटिल शब्दों का उच्चारण करने लगता है और फिर प्रयोग करने लगता है।

(४) **वाक्यों का प्रयोग.** शब्द उच्चारण के बाद शिशु अस्पष्ट और असन्तुलित छोटे-छोटे वाक्य बोलने लगता है। फिर धीरे-धीरे स्पष्ट वाक्यों को बोलने लगता है और उनका प्रयोग भी करने लगता है।

(५) **लिखित भाषा का प्रयोग.** बच्चा प्रारम्भ में बोलना सीखता है और

फिर लिखना। लिखने से भाषा में परिपक्वता आती है। इस प्रकार बोलने और लिखने से भाषा की शुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

(६) **भाषा विकास की पूर्ण अवस्था.** भाषा की पूर्णता का अर्थ यही है कि बालक को भाषा का समझना, बोलना, पढ़ना और लिखना सब अच्छी तरह आ जाय। इसके लिये निरन्तर अभ्यास और प्रयास की आवश्यकता है।

भाषा सम्बन्धी दोष और उनके सुधार

भाषा विकास की गति एक सी नहीं होती। उसमें अनेक कारणों से दोष आ जाते हैं। विभिन्न भाषा दोषों का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों ने चार प्रकार के प्रमुख भाषा दोष बताये हैं :—

(१) **उच्चारण सम्बन्धी दोष.** इन दोषों का वातावरण के कारण जन्म होता है। प्रारम्भ में बच्चे वयस्कों की भाषा का अनुकरण करते हैं। उन्हें शब्दों के शुद्धाशुद्ध का ज्ञान नहीं रहता। दोषपूर्ण श्रवण शक्ति, कम बुद्धि, कम अनुभव, कम योग्यता, खराब स्मृति तथा आलस्य के आधार पर वे शब्दों के अशुद्ध उच्चारण करने लगते हैं। जैसे लक्ष्मण को लखन। इन दोषों को विशेष ध्यान देकर सुधारा जा सकता है और अशुद्ध उच्चारण को अभ्यास द्वारा बार-बार शुद्ध किया जा सकता है।

(२) **शरीर सम्बन्धी दोष.** ये दोष जन्मजात हुआ करते हैं। कभी-कभी आकस्मिक घटना या आघात के कारण ये दोष आ जाते हैं। विभिन्न वर्णोच्चारण में शरीर के विभिन्न अंगों व अवयवों की आवश्यकता पड़ती है। अतः अंग क्षति होने से वर्ण विशेष के उच्चारण में कठिनाई आ जाती है जैसे खण्डित तालु से फ, ब, ज के शुद्ध उच्चारण में कठिनाई आ जाती है। वात रोग से भी भाषा दोष आ जाता है।

(३) **नाड़ी सम्बन्धी दोष.** वर्णों व शब्दों के उच्चारण में नाड़ी मण्डल और स्नायुओं का विशेष हाथ रहता है। यदि नाड़ी मण्डल में किसी प्रकार की विकृति रहती है तो उच्चारण में अशुद्धता आ जाती है और भाषा का विकास कुण्ठित हो जाता है।

(४) **मन सम्बन्धी दोष.** वातावरण से असफल समायोजन से बालक को असन्तुष्टि होती है। उसमें कई प्रकार के मनोविकार जैसे :—झुंझलाहट, दुश्चिन्ता, निराशा, अन्यमनस्कता और हीन भाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। शिक्षक तथा अभिभावक के सम्मिलित प्रयास से सहानुभूतपूर्ण वातावरण निर्माण करके इन भाषा दोषों का निवारण किया जा सकता है।

विलम्ब के आधार पर भाषा में दोष

विलम्ब के आधार पर भाषा में निम्न प्रकार के दोष पाये जाते हैं जैसे :—

(१) **अशुद्ध वर्ण व शब्दोच्चारण.** इस दोष के अन्तर्गत बालक अशुद्ध वर्णों, शब्दों का प्रयोग तथा अशुद्ध उच्चारण करता है। जैसे दोष को दोख। प्रारम्भ मे तोतले, टूटे-फूटे शब्द अभिभावकों तथा माता-पिता को अच्छे लगते हैं अतः उन्हें वे बार-बार कहलवाते हैं जिससे उसकी गलत उच्चारण की आदत पड़ जाती है। यह दोष अनेक कारणों से हो सकता है जैसे :—गलत सुनना, वस्तु ज्ञान का अभाव, केन्द्रीय नाड़ी मण्डल का दोष, अशुद्ध प्रत्यक्षीकरण, दोषपूर्ण स्मृति, बुद्धि का अभाव, स्वर यन्त्र की खराबी या विकार, प्रमाद और आलस्य, यदृच्छा, लिपि दोष और क्रियात्मक शक्ति में कमी इत्यादि। इस दोष का निवारण शिक्षक और अभिभावक के सत्प्रयत्न से हो सकता है।

(२) **आनुनासिक शब्दोच्चारण.** स्वर यन्त्र और मस्तिष्क की खराबी से बोलते समय नाक से हवा निकल जाती है और बालक नाक से बोलने लगता है। इस दोष की निवृत्ति के लिये श्वास गति पर नियन्त्रण करना आवश्यक है साथ ही प्राणायाम और आसन का भी।

(३) **अस्पष्ट उच्चारण.** जीभ, जबड़ों तथा दांतों की निष्क्रियता व गड़बड़ी, कण्ठतन्त्री के पक्षाघात, संवेगात्मक तनाव और स्वर यन्त्रों का ठीक-ठीक काम न करने के कारण वाणी तथा उच्चारण में अस्पष्टता आ जाती है। इसमें शब्द आपस में मिलकर खिचड़ी हो जाते हैं।

(४) **अक्षर लोप.** इसमें अक्षर या अक्षरों का लोप कर दिया जाता है जैसे बालक दूध के लिये दू और पानी के लिये प कहता है। ये दोष तो अंग विकार या पूर्ण शब्द विकार नहीं होने के कारण उत्पन्न होते हैं। इस दोष का निवारण शब्दों के पूर्ण और शुद्ध उच्चारण पर जोर देकर किया जा सकता है।

(५) **ध्वनि परिवर्तन.** इस दोष में ध्वनियों का आपस में स्थान बदल दिया जाता है। जैसे मतलब को मतबल और लखनऊ को नखलऊ कहना। यह दोष आंगिक विकास, जबड़े, ओंठ तथा दांतों की गड़बड़ी के कारण होता है। इस दोष को दूर करने के लिये शब्दों के शुद्ध उच्चारण तथा लेखन पर जोर देना चाहिये।

(६) **हकलाना.** इस दोष में बालक एक अक्षर को बार-बार बोलता है। एक अक्षर पर कुछ देर के लिये रुक जाता है, फिर सहसा पूरे व बड़े परिश्रम से झटके के साथ शब्दोच्चारण करता है। सम्पूर्ण वाक्य बोलने में उसे बड़ी कठिनाई होती

है। इस दोष के अनेक कारण बताये गये हैं :–अति चिन्ता, बौद्धिक अपर्याप्तता, अति चेतनता, दोष भाव, चेतनापूर्ण प्रयास, असुरक्षा भाव, सचेष्ट खिंचाव, अति रंजित भय, संवेगात्मक तनाव, ध्वनियों की विस्मृति, मस्तिष्क के दो अर्ध भागों का असन्तुलन, अंतःश्रावी ग्रन्थियों का असन्तुलन, दूपित वन्श-परम्परा, आंगिक विकृति, अतिसंरक्षण, कड़ा अनुशासन, गलत प्रशिक्षण, रक्त में पोटेशियम और प्रोटीन की कमी, चूने की शर्करा की अधिकता, मस्तिष्क को आघात लगना, जिन बच्चों में बांयें हाथ से लिखने के प्रति झुकाव है उन्हें बांया हाथ छोड़कर दाँया हाथ से लिखने की जोर जबर्दस्ती करना इत्यादि। वातावरण तथा प्रभावक अंगों का संशोधन करके, उनमें परिवर्तन लाकर तथा सचेष्ट प्रयास करके इस दोष का सुधार किया जा सकता है।

(७) **घबराहट पूर्ण बोलना.** इस दोष से पीड़ित बालक बड़ी तीव्र गति से गडमड शब्दावलि बोल पड़ता है। उसकी बोली में खड़बड़ाहट और घबराहट देखी जाती है। यह दोष अस्थायी होता है। थोड़ी सावधानी बरतने से यह दोष दूर किया जा सकता है।

(८) **वाक्यों में भी दोष रहते हैं.** निम्नलिखित कारणों से बालक वाक्यों को भद्दे व दूषित बना देते हैं जैसे—मैं राष्ट्रभाषा पर फिदा हूं इत्यादि। वाक्य दोष के कई कारण हैं जैसे अर्थहीनता, अस्पष्टता, भ्रामकता, शिथिलता, जटिलता, पुनरुक्ति और असंगति इत्यादि।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. बच्चों के भाषा विकास का महत्व दर्शाइये।
२. भाषा के सीखने के सिद्धांतों का निरूपण कीजिए।
३. भाषा विकास के कारण स्पष्ट कीजिए।
४. भाषा विकास की प्रक्रिया की विवेचना कीजिए।
५. भाषा के कार्यों तथा प्रयोजनों का उल्लेख कीजिए।
६. भाषा विकास की प्रमुख विभिन्न अवस्थाओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
७. बालक का शब्द भण्डार किस प्रकार विकसित होता है ?
८. बच्चों में भाषा विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।
९. भाषा विकास क्रम की चर्चा कीजिए।

१०. भाषा सम्बन्धी कौन-कौन से दोष पाये जाते हैं ? इनके सुधार के उपाय सुझाइये ।

११. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये :–

(१) हकलाना

(२) वाम हस्तता और हकलाना

(३) विलम्बित भाषा विकास के कारण

(४) निरर्थक शब्दोच्चारण ।

अध्याय ७

मानसिक विकास

प्रस्तावना

जीन प्याजे के पूर्व यह बात मानी जाती थी कि कोई भी व्यक्ति का बुद्धिस्तर जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त उसी प्रकार का रहता है, उसमें कोई परिवर्तन और परिवर्द्धन नहीं होता। उसकी मानसिक योग्यता की संस्थापना के लिए वंश-परम्परा ही सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना जाता था। उसके द्वारा ही बुद्धि प्रभावित होती है और जीवन के अनुभवों और वातावरण का उस पर कोई प्रभाव नहीं माना जाता था। बुद्धि की स्थिरता संबंधी यह भावना मेंढक तथा अन्य जानवरो पर प्रयोग करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई। पहिले के शोधकर्ताओं की यह धारणा थी कि निम्न प्राणियों की तरह मानवीय मस्तिष्क भी कार्य करते हैं और वंशानुगत शीलगुण परिवर्तित नहीं किये जा सकते।

बुद्धि की स्थिरता की भावना को ध्यान में रखते हुए मनोवैज्ञानिकों ने उसके मापन की पद्धतियों का आविष्कार किया। बुद्धि-लब्धि पर बुद्धि परीक्षणों ने लोकप्रियता प्राप्त की और उनका प्रयोग किया जाने लगा। शिक्षकों तथा माता-पिताओं को एक-दो बुद्धि परीक्षणों से प्राप्तांकों के आधार पर बालकों के विभिन्न बुद्धि-स्तरों का वर्गीकरण करने में बड़ी सुविधा हुई और बालकों की बुद्धि परीक्षणों द्वारा जानी हुई बुद्धि की मात्रा के अनुसार उन्हें कार्य करने को दिया गया। उस समय यह बात मानी गई कि यदि बालक की निम्न स्तर की बुद्धिलब्धि है तो उसका विकास करने या उसे ऊँचा उठाने के लिए कुछ उठा-पटक नहीं की जा सकती। परंतु वर्तमान बुद्धि सिद्धांत में यह बात मानी जाने लगी कि बुद्धि की विवृद्धि तथा विकास में अनुभव तथा वातावरण का काफी प्रभाव रहता है। हंट की पुस्तक "इनटेलीजेंस एंड एक्सपीरीयेंस" तथा डेनिश गार्डन (१९६६) की शोध ने इस बात की पुष्टि की। जीन प्याजे के बुद्धि संबंधी सिद्धांतों ने यह बात प्रमाणित की कि बुद्धि पर अनुभव का बहुत ज्यादा असर पड़ता है। बुद्धि के संबंध में प्याजे के दो सिद्धांत पाये जाते हैं:—(१) स्वतन्त्र अवस्था का सिद्धान्त, और (२) परतंत्र अवस्था का सिद्धान्त।

स्वतंत्र अवस्था का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार प्याजे का कहना है कि बौद्धिक विकास को ४ तत्व जैसे अनुभव, परिपक्वीकरण, सामाजिक संचारण और साम्यधारण प्रभावित करते हैं। परिपक्वीकरण, स्नायविक तथा शारीरिक अभिवृद्धि की प्रतिक्रिया है, सामाजिक संचारण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सूचना पहुँचाने की प्रक्रिया है। परिपक्वन बिना अनुभव के नहीं होता। साम्य धारण सबसे प्रमुख तत्व है और वह संतुलन प्राप्त करने की प्रक्रिया है। पहिले समझी-बूझी वस्तुओं तथा समझी जाने वाली वस्तुओं के बीच संतुलन स्थापित किया जाता है। जब बालक का नई वस्तु से साबका पड़ता है तब वह सक्रिय रूप में उसकी जानकारी के लिए कार्य करता है और उसके विषय में थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त करता है। इस प्रकार यह नई वस्तु उसके लिए परिचित-सी हो जाती है और वह संतुलन का नवीन स्तर प्राप्त करता है। आगे चलकर उसका कथन है कि नई परिस्थिति के साथ समायोजन अतीत के अनुभव के आधार के बिना संभव नहीं होता और यही बौद्धिक विकास में योगदान देता है। प्याजे के सिद्धान्त का प्रमुख भाग संधारण माना जाता है। इसका तात्पर्य यह माना जाता है कि बालक यह देखता है कि वस्तु के कतिपय गुण धर्म वही रहते हैं यद्यपि वस्तु का स्वरूप बदल जाता है। संधारण के प्रत्यय के अन्तर्गत संख्या, समय, लम्बाई और आयतन का समावेश किया जाता है।

परतंत्र अवस्था का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त में प्याजे ने ४ प्रमुख अवस्थायें मानी हैं : (१) इन्द्रिय चालित अवस्था, (२) पुनः परिचालन की अवस्था, (३) वस्तु वाचक संक्रिया की अवस्था, और (४) औपचारिक संक्रिया की अवस्था। आगे इन अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

बुद्धि का स्वरूप

यद्यपि बुद्धि सम्बन्धी अनेक परीक्षण हो चुके हैं और नित्य नये-नये हो भी रहे हैं तो भी बुद्धि क्या है और उसका स्वरूप क्या है, इसके सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित मत नहीं स्थापित हो सकता है। बुद्धि के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में हजार मुंह हजार बातें वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। मनोवैज्ञानिकों में इस विषय में काफी मतभेद पाया जाता है। सन् १८३३ में गाल्टन ने पहचानने और चुनने की शक्ति को बुद्धि की संज्ञा दी। सन् १८६७ में एबिन्धास ने उसे भागों

को सम्पूर्ण बनाने की योग्यता माना। एटाउट के अनुसार अवधान की शक्ति ही बुद्धि है। विने के अनुसार सुव्यवस्थित होकर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने की योग्यता ही बुद्धि है। टरमैन के अनुसार अमूर्त वस्तु के विषय में सोचने की शक्ति बुद्धि है। बर्ट के अनुसार बुद्धि, जन्मजात व्यापक योग्यता का नाम है। थाम्पसन बुद्धि को वंश-परम्परागत प्राप्त विभिन्न गुणों का निचोड़ मानता है। स्टर्न के अनुसार नयी परिस्थितियों में समायोजना कर लेने की सामान्य शक्ति बुद्धि है। थार्न-डाइक के मतानुसार व्यक्ति के अनुसार प्रतिक्रिया की योग्यता ही बुद्धि है। स्पीयरमैन बुद्धि के अन्तर्गत व्यक्ति की समान योग्यताओं का समावेश मानता है। इस प्रकार के मतभेद होने के कारण बुद्धि का यथार्थ स्वरूप निश्चित करना बड़ा कठिन कार्य है।

बुद्धि के सिद्धान्त

मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न परीक्षणों के आधार पर बुद्धि के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। उनमें से प्रमुख ये हैं :—

(१) एक सत्तात्मक सिद्धान्त. इस सिद्धान्त के प्रवर्तक विलियम स्टर्न और डा० जानसन हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि एक ऐसी केन्द्रीय या सर्वशक्तिमान शक्ति है जो व्यक्ति की सभी मानसिक क्रियाओं को संचालित करती है। नयी परिस्थिति में अभियोजनशीलता की योग्यता प्रदर्शन करना बुद्धि का काम है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि न्यूटन कविता की ओर अपनी बुद्धि का प्रयोग करता तो वह एक महान् कवि बन जाता। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई व्यक्ति एक क्षेत्र में मानसिक कार्य अच्छी तरह कर सकता है तो वह दूसरे क्षेत्र में भी उसका प्रयोग अच्छी तरह कर सकता है। यह जरूरी नहीं है कि गणित में निपुण व्यक्ति संगीत में भी निपुणता प्राप्त कर सकता है।

(२) द्वितत्वीय सिद्धान्त. इस सिद्धान्त के जन्मदाता स्पियरमैन हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि दो तत्वों जैसे सामान्य तत्व और विशेष तत्व से मिलकर बनी है। सामान्य तत्व व्यक्ति की सहायता प्रत्येक सामान्य परिस्थिति में करता है परन्तु विशेष तत्व व्यक्ति को विशेष प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने में सहायता पहुँचाता है। जैसे संगीत कला या चित्र कलादि का ज्ञान प्राप्त करने में स्पीयरमैन के अनुसार सामान्य तत्व ही का एक विषय या क्षेत्र से दूसरे विषय या क्षेत्र में स्थानान्तरित हो जाता है।

(३) **असत्तात्मक सिद्धान्त.** इस सिद्धान्त के प्रणेता थार्न-डाइक हैं। उनके मतानुसार बुद्धि विभिन्न प्रकार की शक्तियों का समूह मात्र है। वे स्पियरमैन के बुद्धि के सामान्य तत्व को नहीं मानते। उनके मतानुसार सभी व्यक्तियों की बुद्धि विशेष होती है। आगे चलकर उनका कथन है कि बालक को अनेक प्रकार की योग्यताओं में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए अनेक विषयों का अध्ययन करना आवश्यक है।

(४) **संघ सत्तात्मक सिद्धान्त या समूह सिद्धान्त.** इस सिद्धान्त के समर्थक गाडफ्रे थामसन हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति की बुद्धि कई प्रकार की योग्यताओं से मिलकर बनती है। इन योग्यताओं के विभिन्न समूह हुआ करते हैं। एक ही समूह की योग्यताओं में आपस में सम्बद्ध और समानता होती है जैसे साहित्यिक समूह के अन्तर्गत गद्य, कविता, कहानी और निबन्धादि में परस्पर सम्बन्ध होता है। परन्तु इन विषयों का विज्ञान के विषय-समूह में कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वास्तव में देखा जाय तो योग्यताएं एक दूसरे में स्वतंत्र रूप में काम नहीं करतीं बल्कि एक इकाई या समूह के रूप में काम करती हैं।

(५) **थर्स्टन का बहुसंख्यक योग्यता का सिद्धान्त.** इस सिद्धान्त के पोषक थर्सटन हैं। उन्होंने बुद्धि को विभिन्न प्रकार की योग्यताओं का समूह माना है। थर्सटन का कथन है कि बुद्धि नौ प्रकार की योग्यताओं का समूह है। ये योग्यताएं इस प्रकार हैं जो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न अनुपात में पाई जाती हैं :

(१) दृश्य अथवा वरिम योग्यता, (२) प्रत्यक्ष ज्ञान की योग्यता, (३) संख्यात्मक योग्यता, (४) शाब्दिक योग्यता, -(५) आगमन तर्क-विषयक योग्यता, निगमन तर्क विषयक योग्यता, (६) साहचर्य स्मरण की योग्यता, (७) परिक्षणात्मक योग्यता, (८) समस्या हल करने की योग्यता, (९) वस्तु-प्रक्षण की योग्यता।

उनका कहना है कि जीवन की अनेक परिस्थितियों में सामान्य योग्यता की आवश्यकता नहीं पड़ती। सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि के अन्तर्गत एक सामान्य अंग नहीं होता है और अनेक स्वतंत्र अंग होते हैं, बल्कि नौ योग्यताएं होती हैं जो एक दूसरे से स्वतंत्र होते हुए भी पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं होतीं।

बुद्धि मापन का अर्थ

बुद्धि परीक्षा की जब विश्व में लहर चली तो मनोवैज्ञानिकों के सामने एक सवाल उठा : क्या लोहे, पत्थर तथा सोने की तरह बुद्धि को तोला जा सकता है ?

समुद्र की गहराई के समान मापा जा सकता है ? अनेक विद्वानो का यह मत रहा, चूंकि मन व बुद्धि अमूर्त तत्व है, इसलिए यह मूर्त पदार्थों की तरह न मापा न नापा जा सकता है। परन्तु इस मत के विरुद्ध थार्न-डाइक का विचार है कि जो कुछ मूर्त व अमूर्त वस्तु है वह कुछ मात्रा में रहती है और यदि वह मात्रा में रहती है तो उसका मापन किया जा सकता है। जैसे विद्यार्थियों की बौद्धिक योग्यता जानने के लिए परीक्षा में प्राप्त अंकों को रखा जाता है। ६० प्रतिशत से अधिक अंक पाने वाले विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में, ४५ और ६० के बीच अंक पाने वाले विद्यार्थी द्वितीय श्रेणी और ३३ से ४४ तक अंक पाने वाले को तृतीय श्रेणी में रखा जाता है। इसके आधार पर विभिन्न विद्यार्थियों की विभिन्न प्रकार की बौद्धिक योग्यता का पता लगाया जाता है। प्रथम श्रेणी के अंक पाने वाले विद्यार्थी को प्रखर बुद्धि वाला, द्वितीय श्रेणी के अंक पाने वाले विद्यार्थी को मध्यम और तृतीय श्रेणी के अंक पाने वाले विद्यार्थी को मंद बुद्धि वाला विद्यार्थी समझा जाता है। इस प्रकोर बौद्धिक योग्यता जानने के लिए अंक विज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है।

बौद्धिक विकास में परिवर्तन के रूप

बौद्धिक विकास दो रूपों में होता है :—

(१) **बौद्धिक विकास का मात्रामूलक परिवर्तन का रूप.** यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि बुद्धि अथवा सामान्य योग्यता मात्रा में बढ़ती है। उदाहरण के लिए गृह के शिशु की अपेक्षा शाला में प्रविष्ट बालक में अधिक बौद्धिक योग्यता रहती है। १० वर्षीय बालक ५ वर्ष के बालक की अपेक्षा अधिक समस्यायें हल कर सकता है। बालकों में विभिन्न आयु-स्तरों पर तथा बुद्धि मात्राओं में भिन्नता पाई जाती है। इन्हीं मात्राओं के आधार पर विभिन्न बालकों के बुद्धि-स्तर का मापन होता है। विकास के काल में बालकों की लम्बाई, भार तथा क्रियाशीलता में भिन्नता पाई जाती है साथ ही उनकी मानसिक आयु तथा बुद्धिलब्धि में भी भिन्नता देखी जाती है।

(२) **बौद्धिक विकास का गुणात्मक परिवर्तन का रूप.** बौद्धिक विकास का दूसरा परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन है। बुद्धि की एक परिभाषा यह दी जाती है कि बुद्धि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से सामना करने की एक योग्यता है। जब बालक बढ़ता है और अपने वातावरण से परस्पर क्रिया करता है तो नये गुणों तथा नये अभ्युनुकूलन के प्रतिरूपों का उद्गमन होता है।

बौद्धिक विकास में गुणात्मक परिवर्तन की विचारधारा पर गैसेल ने बहुत बल दिया। वह मन को परिवर्तन की एक प्रक्रिया मानता है। वह कहता है कि व्यक्ति को संगठन, समाकलन और नियंत्रण का कार्य रहता है। ज्यों-ज्यों बालक बढ़ता है त्यों-त्यों उसके मूलभूत गुण या योग्यता की अभिवृद्धि होती है। साथ ही उसके अभ्युनुकूलन में भी। ज्यों-ही वह परिपक्वावस्था को प्राप्त होता है त्यों-ही उसमें परिवर्तन उपस्थित होता है। गैसेल के अनुसार बौद्धिक विकास जैविक परिपक्वन का क्रियात्मक रूप है अर्थात् वह एक प्रक्रिया है जो कि प्रकृति में गुणात्मक तथा मात्रात्मक दोनों है। प्याजे का कहना है कि जन्म से लेकर परिपक्वावस्था तक विकासात्मक परिवर्तन होते हैं। वे एक निश्चित विकासक्रम तथा विशेष करके संरचनाओं के संगठन के रूप में होते हैं और उनमें एक दूसरे में गुणात्मक भिन्नता पाई जाती है। इस प्रकार प्याजे भी मानसिक विकास को एक गुणात्मक परिवर्तन मानता है।

बुद्धिलब्धि के स्तर

मनोवैज्ञानिकों ने यह बात मानी है कि व्यक्तियों की बुद्धि में अन्तर होता है अतः टरमन और वेश्लर आदि ने बुद्धिलब्धि के सम्बन्ध में वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं जो इस प्रकार हैं :—

टरमन के अनुसार बुद्धिलब्धि के स्तर

१४० से ऊपर	प्रतिभाशाली
१२०—१४०	अति श्रेष्ठ बुद्धि
११०—१२०	श्रेष्ठ बुद्धि
९०—११०	सामान्य बुद्धि
७०—९०	सीमावर्ती हीन बुद्धि
७० से कम	मन्द बुद्धि

वेश्लर के अनुसार बुद्धिलब्धि के स्तर

१२८ से ऊपर	अति श्रेष्ठ बुद्धि
१२०—१२७	श्रेष्ठ बुद्धि
१११—११९	सामान्य तीव्र बुद्धि
९१—११०	औसत बुद्धि
८०—९०	मन्द बुद्धि सामान्य
६६—७९	सीमावर्ती हीन बुद्धि
६५ से कम	हीन बुद्धि

बौद्धिक विकास को प्रभावित करने वाले तत्व

बुद्धि परीक्षणों से कई प्रकार के निष्कर्ष निकाले गये हैं। उन पर से यह बात सिद्ध होती है कि बुद्धि जन्मजात योग्यता है और इस बात का भी पता चलता है कि वंशानुक्रम, वातावरण, परिवार, समाज, शाला, आयु, क्षमता, आर्थिक-सामाजिक स्थिति और यौन भेद इत्यादि तत्व भी बौद्धिक विकास तथा बुद्धिलब्धि को प्रभावित करते हैं। यथा—

(१) **वंशानुक्रम.** वंश परम्परावादियों का कहना है कि वंश परम्परा से बुद्धि विरासत में मिलती है। पित्रैकों का प्रकिण्वों पर प्रभाव पड़ता है। यदि पित्रैक दोषपूर्ण रहते हैं तो उनसे बुद्धिमंदता का प्रादुर्भाव होता है। यमजों के अध्ययन से पता चलता है कि समलिंगी जुड़वे में वंशानुक्रम की समानता पाई जाती है। यदि यमजों के माता-पिता के अतिरिक्त उनका किसी दूसरे परिवार द्वारा पालन-पोषण किया जाता है तो उनकी बुद्धिलब्धि में अंतर पाया जाता है।

(२) **पर्यावरण.** (अ) परिवार के पर्यावरण से बालक बहुत कुछ सीखता है। यदि परिवार का बौद्धिक पर्यावरण रहता है तो उससे मानसिक विकास में पर्याप्त सहायता मिलती है। परिवार के स्वतंत्र पर्यावरण से बालक की मानसिक योग्यताओं का अच्छा विकास होता है।

(ब) पास-पड़ोस का पर्यावरण. बालक जब बड़ा हो जाता है तब अपने पास-पड़ोस के लड़कों के साथ खेलने लगता है। उसके संगी-साथियों का उसके मानसिक विकास पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है।

(स) शालाका पर्यावरण. शाला में बालक के बौद्धिक विकास पर शिक्षकों के प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, अच्छी शिक्षण पद्धति, बालमनोविज्ञान पर आधारित पाठ्यक्रम और उचित अनुशासन बालकों के मानसिक विकास में अच्छा योगदान देते हैं। स्टार्कवेदर (१९३८) का मत है कि पाठशाला के पर्यावरण से बालक को विशेष प्रकार की उत्तेजना प्राप्त होती है।

(ड) नगर और गांव का पर्यावरण. गांव की अपेक्षा नगर में पैदा होने वाले बालकों के पर्यावरण में अपनी जन्मजात मानसिक योग्यताओं को बढ़ाने के लिए अधिक अवसर और सुविधायें प्राप्त होती हैं। अतः वे बुद्धि परीक्षणों में गांव के बालकों की अपेक्षा अधिक अंक प्राप्त करते हैं। स्टेनफोर्ड परीक्षण द्वारा नगर के बालकों की बुद्धिलब्धि का औसत १०८ २ और गांव के बालकों की बुद्धिलब्धि का औसत ९६ था।

(प) सांस्कृतिक पर्यावरण. बालक के बौद्धिक विकास में संस्कृति का भी असर पड़ता है। मारगरेड मीड ने यह सिद्ध किया है कि पास-पास के स्थान आरापेश और मुडगोमर की संस्कृतियां भिन्न थीं इसलिए इन दोनों स्थानों के व्यक्तियों की बुद्धिलब्धि में अंतर था।

(३) माता-पिता या अभिभावक का व्यवसाय. बुद्धि और व्यवसाय का सम्बन्ध पाया जाता है। श्रमिक और घरेलू नौकरों की अपेक्षा उच्च व्यवसायों में लगे हुए डाक्टर, वकील, प्रोफेसर आदि व्यक्तियों की बुद्धिलब्धि अधिक होती है। मैक नीटर (१९४२) के वुद्धि परीक्षण के आंकड़ों के अनुसार उच्च व्यवसाय में लगे हुये बालकों की बुद्धिलब्धि ११५ थी और श्रमिक वर्ग के लड़कों की बुद्धिलब्धि ९४ थी।

(४) सामाजिक-आर्थिक स्थिति. सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अंतर्गत शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें मनोरंजनात्मक क्रियायें, पढ़ने में रुचियाँ, गृह और पास-पड़ोस का वातावरण, आमदनी और उसके स्रोत तथा स्तर और जातीय तत्व पाये जाते हैं। सुखी, सम्पन्न और सुसभ्य परिवार का वातावरण अपेक्षाकृत अधिक नियंत्रित, सुविधाजनक, सुव्यवस्थित और सुखपूर्ण रहता है। अतः इनका बालकों के मानसिक विकास पर कुछ-न-कुछ मात्रा में प्रभाव अवश्य पड़ता है। बायले और जोन्स (१९३७) के अनुसार सामाजिक-आर्थिक स्थिति का बुद्धिलब्धि पर असर पड़ता है।

(५) जाति. जातिगत विभिन्नताओं के कारण बौद्धिक भिन्नता भी पाई जाती है। पेआमानिक तथा लाट ने अमेरिका के नीग्रो जाति तथा श्वेत जाति के बौद्धिक स्तर के परीक्षण किये। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जातिगत विभिन्नता के कारण उनमें बौद्धिक भिन्नता पाई जाती है।

(६) यौनि भेद. कुछ अध्ययनों के आधार पर यह कहा जाता है कि विज्ञान कला, शिक्षा तथा तकनीकी क्षेत्रों में महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक हैं।

(७) आयु. ओविस और मन के अनुसार वुद्धि विकास की सीमा १८ वर्ष है, पर टरमन के अनुसार यह १५ वर्ष की है। तत्पश्चात् वुद्धि स्थिर हो जाती है, पर ज्ञान और अनुभव की वृद्धि और विकास होता रहता है।

(८) पोषाहार. पुष्ट तथा अपुष्ट भोजन का बुद्धिलब्धि पर प्रभाव देखा गया है। पाउस (१९३८) के वुद्धि परीक्षण के अनुसार कुपोषित वर्ग तथा सुपोषित वर्ग

के बालकों का बुद्धि परीक्षण किया गया। सुपोषित वर्ग के बालकों की बुद्धिलब्धि, कुपोषित वर्ग के बालकों की अपेक्षा अधिक पाई गई।

(९) स्वास्थ्य तथा रासायनिक एवं ग्रन्थि सम्बन्धी तत्व. यद्यपि स्वास्थ्य और बुद्धि का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है फिर भी इतनी बात जरूर है कि अस्वस्थ तथा जीर्ण रोग से पीड़ित बालक बुद्धि परीक्षण में अच्छे अंक नही प्राप्त करता। गर्मी, सुजाक से पीड़ित व्यक्ति मंद बुद्धि हो जाता है। स्कॉवर (१९३७) के अनुसार बुद्धि परीक्षण द्वारा यह पता चला कि जन्म के समय ओसजन की कमी के कारण अधिक बालकों में मंदबुद्धिता पाई गई। ग्रंथियों के ठीक तरह से काम करने पर भी मानसिक क्षमता में कमी पाई जाती है। स्को (१९४६) के वुद्धि परीक्षण के अनुसार थायराइड ग्रन्थि के विकृत हो जाने पर बालक मूढ़ हो जाता है।

(१०) शिक्षक. यदि शिक्षक का मानसिक विकास अच्छा रहता है और यदि वह बालक के प्रति प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करता है और यदि रोचक शिक्षण विधियों से शिक्षण देता है तो बालक का मानसिक विकास अच्छा होता है। इस प्रकार बालक के मानसिक विकास में शिक्षा का अच्छा योगदान रहता है।

भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में बौद्धिक विकास

१. संवेदनात्मक तथा गामक क्रियाओं का विकास

स्पर्श संवेदन. स्पर्श, ताप, दबाव और त्वक् संवेदन जन्म ही से उपस्थित रहते हैं। प्रेट (१९५४) के अनुसार नवजात शिशु की नाक का जरा सा स्पर्श करने पर वह आंखें बन्द कर लेता है। ताप भी उसे प्रभावित करता है। ठंडी वस्तु के स्पर्श से वह चीखने-चिल्लाने लगता है तथा हाथ-पैर फेंकने लगता है। प्राट के अनुसार जिह्वा तथा अंगुलियों का स्पर्श-संवेदन का विकास होता है। दृष्टि के संयोजन से स्पर्श की संवेदन शक्ति का विकास तीव्र गति से होने लगता है। चौथे या पांचवें दिन शिशु सुई की चुभन और विद्युतीय पीड़ा का अनुभव नहीं करता, परन्तु आठवें या दसवें दिन करने लगता है। पीड़ा की संवेदनशीलता ओठों, पैर, तलवों, नाक और कपोल में अधिक होती है। ६ या ८ सप्ताह में शिशु आंत पीड़ा का अनुभव करता है।

घ्राण-संवेदन. लिपसिट (१९६३) के अनुसार जन्म के समय ही से नवजात शिशु में सूंघने की शक्ति का विकास हो जाता है। नवजात शिशु की तीव्र घ्राण संवेदनशीलता का ज्ञान उसके रोने, ऐंठने और चूसने की गतियों से प्राप्त होता है।

स्तन पर हींग लगाने से उसकी गंध के कारण बच्चा स्तनपान करने से अपना मुंह मोड़ देता है। नाक द्वारा रासायनिक उत्तेजना उत्पन्न करने से जन्म के कुछ दिनों पश्चात् शिशु की तीव्र प्रतिक्रिया देखी जाती है। स्टर्न ने एक परीक्षण किया। उसने रोते हुए शिशुओं को सुगंधित वस्तुएं सुघाईं जिससे वे चुप हो गये।

स्वाद संवेदन. नेलसन, पराट, सन और मेनी आदि मनोवैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि नवजात शिशुओं में जन्म के दो दिन बाद ही स्वाद उद्दीपकों के प्रति प्रतिक्रियायें पाई गईं। नवजात शिशु की मीठी उत्तेजनाओं के प्रति अनुकूल और खट्टी और चिरपिरी उत्तेजनाओं के प्रति निषेधात्मक प्रतिक्रियायें देखी गईं। मर्फी (१९६३, के अनुसार २-३ महीने में स्वाद-संवेदन विकसित होने लगता है। पर शिशुओं में स्वाद-प्रभाव सीमा में भिन्नता होती है।

श्रवण संवेदन. ध्वनिशीलता के सम्बन्ध में भी मनोवैज्ञानिकों में मतभेद पाया जाता है। कुछ के अनुसार जन्म के १० मिनट बाद ही शिशुओं में ध्वनि उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया देखी गई। ब्रजेस (१९६१) का कथन है कि ५ दिनों में नवजात शिशु विभिन्न स्वराघातों की ध्वनियों के प्रति अपनी प्रतिक्रियायें प्रकट करते हैं। इंलिगवर्थ (१९६२) का कथन है कि चार सप्ताह की आयु में शिशु घंटी बजने पर शान्त रहता है। १२ से १८ हफ्तों के बीच शिशु ध्वनियों के प्रति अपना सिर उठाकर अनुक्रिया प्रकट करते हैं। २८ सप्ताह में शिशु ध्वनियों की नकल करते हैं।

दृष्टि संवेदन. जन्म के लगभग ३० घंटे पश्चात् नवजात शिशु की नेत्र इंद्रिय काम करने लगती है। फ्रेन्तज् (१९६३) के अनुसार ५ दिन की आयु से शिशु काले और सफेद प्रतिरूपों के प्रति दृष्टि संवेदना की प्रतिक्रिया प्रकट करने लगते हैं। वरलाइन (१९५८) के अनुसार तीसरे या चौथे महीने में शिशु रंगों के प्रति कुछ प्रतिक्रिया प्रकट करने लगते हैं। तीव्र प्रकाश में शिशु अपनी आंखें हटा लेते हैं। प्रारम्भ में उनके दोनों नेत्रों में समन्वय नहीं रहता फिर बाद में उनकी दोनों आँखों में समन्वय स्थापित हो जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि नौ महीने पहिले जन्म लेने वाले शिशुओं में रंग विभेदीकरण की क्षमता पाई जाती है और कुछ का कहना है कि १८ महीने पहिले।

अन्तरावयव संवेदना. नवजात शिशु में भूख और प्यास की संवेदना पाई जाती है। भूख और प्यास लगने पर वह रोने लगता है। कार्लसन के मतानुसार भूख की संवेदना से शिशु के पेट में सिकुड़नें पड़ने लगती हैं। स्टर्न का कहना है कि नवजात

शिशु में थोड़ी-बहुत चेतना अवश्य रहती है, कारण कि वह जन्मकाल से ही सुख-दुःख का अनुभव करने लगता है। जेम्स का कथन है कि ज्ञानेन्द्रियों का ठीक कार्य न होने से शिशु को संसार का ज्ञान नहीं रहता। उसे तो संसार कोलाहलपूर्ण तथा भ्रमपूर्ण लगता है।

सहज क्रियायें

मनोवैज्ञानिकों का मत है कि नये व बाहरी वातावरण से समायोजन करने के लिए सहज क्रियायें महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। सहज क्रियाओं के अन्तर्गत पलक गिराना, चूषण, रोना और शारीरिक क्रिया आदि करना है। प्याजे का कहना है कि इन क्रियाओं में बुद्धि का समावेश नहीं रहता। जन्म के २४ घंटे पश्चात् चूषण क्रिया का प्रादुर्भाव देखा जाता है जिसके फलस्वरूप नवजात शिशु अपनी माता का स्तनपान करता है। प्याजे का कहना है कि दूसरे महीने से शिशु अपना अंगूठा और उंगलियों को चूसना और जीभ चलाना शुरू करता है। चार महीने के भीतर दृष्टि और श्रवण और ध्वनि के बीच संयोजन होता है। इस अवस्था में धारण सहज क्रिया जन्म से ही देखी जाती है। जब शिशु के हाथ पर कोई वस्तु रखी जाती है तब उसकी मुट्ठी बंध जाती है। ४ महीने से लेकर ८ माह की आयु तक प्रजनन आत्मकिरण तथा अनुषंगी प्रतिक्रिया चक्र देखा जाता है। चौथी अवस्था में ये क्रियायें एच्छिक हुआ करती हैं। तीसरी अवस्था से ही उन क्रियाओं में निखार और बिखार आने लगता है। पांचवीं अवस्था में १२-१८ महीने की अवस्था में क्रियाशील प्रयोग द्वारा नये साधन खोज निकालता है और वह वस्तुओं और क्रिया में अंतर समझने लगता है। छटवीं अवस्था १८ महीने से आगे रहती है। इस अवस्था में शिशु मानसिक संयोजनों द्वारा नये उपायों और साधनों की खोज करता है।

खेल. प्रथम अवस्था में नवजात शिशु अब बिना माता के स्तन व दूध की उपस्थिति में स्वतंत्र चूषण गतियों का खेल करता है। द्वितीय अवस्था में वर्तीय प्रतिक्रियाओं को बड़े प्यार पूर्वक खेल के रूप में अपनाता है। इसमें खेल की अपेक्षा समायोजन की प्रधानता रहती है। तृतीय अवस्था में स्वांगीकरण, खेल और गंभीर समायोजन की क्रिया में भी भेद रहता है। चतुर्थ अवस्था में शिशु साधनों के साथ खेलने के बजाय लक्ष्य को त्याग देता है। पंचम अवस्था में खेल और अभ्युनुकूलन के बीच भेद अधिक स्पष्ट हो जाता है। शिशु बहुधा नये अभ्युनुकूलन को खेल में परिवर्तित कर देता है। छठवीं अवस्था में शिशु झूठे-मूठे काल्पनिक खेलों में दिलचस्पी लेने लगता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान का विकास

शिशु में प्रत्यक्षीकरण की प्रतिक्रिया जन्म के बाद जल्दी ही प्रारम्भ हो जाती है। माता का स्तन मुंह में जाने पर शिशु समझने लगता है कि अब उससे दूध निकलेगा। दो सप्ताह पश्चात् शिशु उष्ण और शीत पदार्थ में और तीन सप्ताह में खट्टे-मीठे पदार्थों का अन्तर समझने लगता है। तीन मास का शिशु रंगों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करने लगता है। बुहलर के अनुसार तीसरे महीने से वयस्क को पहचान कर मुस्कुराने लगता है। गेसेल के अनुसार २२ सप्ताह का शिशु अपनी माता को पहिचानने लगता है। तीसरे और छठवें महीने के बीच शिशु वयस्क के चेहरों के भाव समझने का प्रयास करने लगता है। वह परिचित और अपरिचित व्यक्तियों के बीच भेद समझने लगता है। वह अपरिचित चेहरों को देख कर भय का भाव प्रकट करता है। एक वर्ष का शिशु हरे, पीले, नीले और लाल रंग का भेद पहिचानने लगता है। आकृति व रूप में रुचि प्रारम्भिक अवस्था में जागृत हो जाती है। तीन वर्ष का बच्चा साधारण आकृति बोर्ड का प्रथम प्रयास में ही ठीक उपयोग करना जान लेता है। आकृतियों, संख्याओं और वर्णमाला के अक्षरों में विभेद करने की योग्यता धीरे-धीरे बढ़ती है। पाँचवें वर्ष में वह अच्छी तरह विकसित हो जाती है। ज्यों-ज्यों बालक की आयु बढ़ती है त्यों-त्यों उसमें पूर्ण से अंशों के विभेदीकरण की योग्यता बढ़ती जाती है। वे प्रसंग के रूप में वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करते हैं पर प्रसंग या क्रम बदलने से बालकों को उसे जानने पहिचानने में कठिनाई का अनुभव होता है।

वर्तमान प्रयोगों के अनुसार लेखाचित्रों या वर्णों की समान आकृतियों का दृष्टि-विभेदीकरण ४ वर्ष की आयु से लेकर ८ वर्ष की आयु तक विकसित होते रहता है। साधारणतया छोटे बच्चे जो वस्तुओं के अंगों या अंशों को देखते हैं उनमें भेद नहीं कर पाते विशेषकर उद्दीपन यदि अपरिचित रहते हैं, कारण कि उनका प्रत्यक्ष ज्ञान अधूरा और टुकड़ों में रहता है और वह पहिले से परिचित वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता। बालकों की ज्ञानेन्द्रियाँ तीव्र विषयों तथा उद्दीपनों को ज्यादा ग्रहण करती हैं। जैसे—चमकीले-भड़कीले वस्त्र और उनकी आवाज उनका ध्यान शीघ्र आकर्षित करती है। बालकों का ध्यान वस्तु की स्थूल बातों पर ज्यादा जाता है। वे उनकी सूक्ष्म विशेषताओं को नहीं देख या जान पाते। साथ ही वे प्रत्यक्ष सम्वेदन और स्मृति प्रतिमाओं में अंतर नहीं समझ पाते। वयस्क की अपेक्षा बालक का प्रत्यक्ष ज्ञान धुंधला, अस्पष्ट, विकीर्ण और भ्रमपूर्ण

होता है। बालक वयस्कों की अपेक्षा सम्वेगों और उदवेगों से अधिक प्रभावित होते हैं इसलिए उनका प्रत्यक्ष ज्ञान दूषित और विकृत रहता है। जैसे वे खूंटी में टंगे हुए काले कोट को भूत समझ लेते हैं।

जब उनके भाई-बहिन कभी नई वेष-भूषा अपनाते हैं तो उन्हें पहिचानने में देर लगती है। पूर्ण से अंशों या व्यौरों का निष्कर्षण करने या सार निकालने की योग्यता धीरे-धीरे विकसित होती है। १० और १३ वर्ष की आयु के बीच तथा १७ वर्ष की आयु तक अपरिचित प्रसंगों से परिचित आकृतियों को पहिचानने में उन्हें कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। पूर्ण से अंश का विभेदीकरण करने की योग्यता किशोरावस्था में अच्छी तरह विकसित हो जाती है। बालकों की अपेक्षा वयस्कों का अनुभव अधिक होने से वे संकेत मात्र से कोई बात झटपट समझ लेते हैं, पर अनुभव की कमी से बालक किसी स्थिति को उतनी जल्दी नहीं समझ पाते। उन्हें तो एक अनुच्छेद में दिये हुये विचारों को अच्छी तरह समझने के लिए उसका एक-एक शब्द पढ़ना पड़ता है तब कहीं परिच्छेद के विचार उनकी समझ-सुराख में समाते हैं। परन्तु किशोर जरा अंश सरसरी तौर से पढ़कर भी अनुच्छेद के पूरे विचार को समझ लेता है। किशोरों की अपेक्षा बालकों का समय और दूरी का ज्ञान भी बहुत भ्रमपूर्ण रहता है। वे आकाश मण्डल में अलग-अलग दूरी में स्थित तारों को एक ही दूरी में स्थित समझते हैं, अर्थात् एक तारा पृथ्वी से तीन लाख मील दूर है और दूसरा पांच लाख मील दूर है। वे दोनों की दूरी समान समझते हैं। वयस्कों की दशाओं में परिवर्तन होने पर भी पदार्थों की विशेषतायें एक सी स्थिर दिखाई पड़ती हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान का विकास होता है।

प्रत्ययों का विकास

दो प्रकार के प्रत्यय होते हैं :—क्षैतिज और उदग्र। पहिले प्रकार के प्रत्यय वे होते हैं जो ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित वस्तुओं का बोध कराते हैं जैसे कुत्ता, बिल्ली, शेर इत्यादि। दूसरे प्रकार के प्रत्यय वे होते हैं जो मानसिक वस्तुओं से सम्बन्धित होते हैं और वस्तुओं के गुणों, धर्मों तथा क्रियाओं का बोध कराते हैं जैसे कठोर लकड़ी का कठोरपन। बालक के शुरू के प्रत्यय प्रायः ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित होते हैं साथ ही वे अनुभव और भाषा योग्यता की कमी के कारण अविस्तृत और अनअवकलित होते हैं। स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण, अधिक अनुभव और सम्वृद्ध संग्रह के कारण बालक के प्रत्यय परिष्कृत और अधिक अवकलित हो जाते हैं। २ वर्ष की आयु में

शिशु में सीमित ज्ञान और अनुभव के कारण वह जीवित और निर्जीव वस्तु में भेद नहीं कर पाता। २ या ३ वर्ष की आयु में कुत्ता और घोड़ा, लड़की और लड़का, प्रत्यय हो जाते हैं और वे अभी तक सत् वस्तुओं से सम्बन्धित रहने के कारण मूर्त रहते हैं।

प्याजे के अनुसार पूर्व प्रत्यात्मक चिन्तन की अवस्था में प्रतीकात्मक क्रिया की शुरूआत होती है। इस समय शिशु की प्रतिक्रियायें उद्दीपनों की शारीरिक प्रकृति पर या उनके अर्थ पर आधारित होती हैं। बालक समस्याओं का समाधान प्रतीकों तथा विचार द्वारा करने में अधिकाधिक समर्थ होने लगता है। आयु बढ़ने पर उसकी प्रतिक्रियायें उसके तात्कालिक प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक अनुभव से प्रभावित होती हैं। इस अवस्था में बालक की कुछ क्रियायें वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करती हैं, जैसे शिशु अपनी गुड्डी को बालक समझकर उसके साथ जीवित प्राणी के समान व्यवहार करने लगता है। लगभग ४ वर्ष की आयु में जटिल अंत: प्रज्ञा-विचार अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। अब बालक जटिल प्रतिमाओं का और अधिक विस्तृत तथ्यों का निर्माण करने लगता है। उसका प्रत्यय ज्ञान उसके प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित होता है।

शिक्षा आयु में बालकों में सूक्ष्म और अमूर्त प्रत्ययों का विकास होता है। बुद्धि परीक्षणों के निष्कर्षों के अनुसार इस आयु में बालक वस्तुओं में समानता का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इस अवस्था में बालक भौतिक वातावरण, सजीव और निर्जीव पदार्थ, खिलौने, खेल, गृह और परिवार से सम्बन्धित अनेक प्रकार के प्रत्ययों का निर्माण करते हैं। संख्या और सूक्ष्म विचारों के सम्बन्ध में भी उनमें प्रत्यय निर्माण होते है। ६ वर्ष की आयु तक बालकों के प्रत्यय उनके विशिष्ट अनुभवों तथा क्रियाओं द्वारा निर्धारित होते हैं और परिणामतः वे असंगत, विकीर्ण, अस्पष्ट और सरल होते हैं और साथ ही तात्कालिक प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक लक्षणों से संयुक्त रहते हैं। धीरे-धीरे ये प्रत्यय वयस्क के समान तार्किक और अवकलित होते जाते हैं। बालक में आयु के अनुसार कतिपय सामान प्रत्ययों का विकास होता है जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

आकार, रूप और स्वरूप सम्बन्धी प्रत्यय. ३ से ५ वर्ष की आयु के बालक के आकार, रूप और स्वरूप सम्बन्धी प्रत्यय प्रायः भ्रमपूर्ण होते हैं। आकार के अन्तर्गत बड़ी चीज छोटी चीज की अपेक्षा अधिक स्थान घेरेगी की भावना काम करती है। कोहेन (१९५८) के अनुसार बालक के प्रत्यय दूरी तथा एक वस्तु का दूसरी

वस्तु से समन्वय पर आधरित रहते हैं। २-३ वर्ष के शिशुओं को इन प्रत्ययों का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। गिवसन (१९६०) के अनुसार १८ महीने के बच्चों को फार्म बोर्ड के छिद्रों में आकृतियां जमाने को कहा गया। उनमें से अनेक बच्चों ने अंट-संट तरीकों से छिद्रों में आकृतियां जमाई और इस बात का ख्याल नहीं रक्खा कि वे उनमें समायेंगी या नहीं। ३ वर्ष की आयु के बच्चे मेज, कुर्सी और खिलौने आदि के अन्तर को समझने लगते हैं। आयु और अनुभव के बढ़ने के साथ बच्चों में वस्तुओं के आकार, प्रकार और स्वरूप के समझने की योग्यता बढ़ती है। ५ वर्ष का बालक वर्णमाला के अक्षरों के स्वरूप को पहिचानने लगता है। लांग के अनुसार २ वर्ष का बालक गोलाकार और वर्गाकार वस्तुओं में भेद कर सकता है।

आयतन और भार सम्बन्धी प्रत्यय. प्याजे (१९५२) के अनुसार ११ या १२ वर्ष के पूर्व बालक भौतिक आयतन बनाने में असमर्थ रहते हैं। भार के प्रत्यय का ठीक-ठीक समझना बच्चे के लिए टेढ़ी खीर है, कारण कि वह वस्तुओं के बड़े आकार से प्रभावित होते हैं। जैसे हवा से भरी हुई एक बड़ी गेंद उन्हें लोहे के एक छोटे गोले की अपेक्षा वजन में अधिक भारी प्रतीत होती है। भार सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान तभी संभव होता है जबकि बालक को वस्तु के आकार का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है और विभिन्न वस्तुओं के भारों की उन्हें जानकारी हो जाती है। बाल्डविन और स्ट्रेनर के अनुसार ३ से ६ वर्ष के बच्चे ३ और २४ ग्राम के अन्तर को समझने लगते हैं। कौन-सी वस्तु भारी है और कौन-सी वस्तु हल्की है, उसके यथार्थ ज्ञान के लिए यह जानना जरूरी होता है कि वस्तुएं किन धातुओं से निर्मित हैं। दूसरे हाथ से उठाकर उनकी भार सम्बन्धी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। १२ या १३ वर्ष से भार सम्बन्धी प्रत्यय योग्यता का विकास हो जाता है।

दिशा, दूरी और गहराई सम्बन्धी प्रत्यय. शिशु की प्रारंभिक अवस्था में उसका दिशा और दूरी सम्बन्धी ज्ञान बड़ा भ्रमपूर्ण रहता है। जब शिशु कोई वस्तु पकड़ने का प्रयास करता है तो वह सही दिशाओं में जाने के बजाय गलत दिशा में चला जाता है। अन्त में प्रयास और त्रुटि के द्वारा वह सही वस्तु पकड़ने में समर्थ होता है। गेसेल और इल्ग के अनुसार १ वर्ष की अवस्था में बालक २० इंच से अधिक दूर वाली वस्तु को पकड़ने का प्रयास नहीं करता। दिशा, स्थान और दूरी का अंदाजा लगाने के लिए वह दृष्टि तथा गति सम्बन्धी समवेदनों का सहारा लेता है। बालकों को दक्षिण और वाम दिशा का ज्ञान देरी से होता है। पांचवें वर्ष की आयु में उसे इन दिशाओं का अच्छा ज्ञान हो जाता है। ६ और ७ वर्ष की आयु में दिशा

सम्बन्धी ज्ञान अच्छी तरह विकसित हो जाता है। बालक का दूरी का ज्ञान भी इतना गलत रहता है कि वह आकाश में स्थित सभी तारों को समान दूरी पर स्थित समझता है। जब बालक साइकिल तथा गेंद आदि से खेलना आरंभ करता है तब उसे दूरी और दिशा का ज्ञान होने लगता है। परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन द्वारा और शाला में शिक्षक द्वारा बालक को दिशा और दूरी का यथार्थ ज्ञान होता है। दूरी के समान गहराई को जानने में भी बालकों रा गलती होती है। इस प्रत्यय का विकास मंद गति से होता है। गेरीसन के अनुसार ५ या ६ वर्ष की आयु के बालक को गहराई का अनुमान ठीक नही रहता।

समय सम्बन्धी प्रत्यय. ३ वर्ष की अवस्था तक बालक को केवल वर्तमान का ज्ञान रहता है और दूर के भूत और भविष्य का उसे ज्ञान नहीं रहता। जैसे कोई व्यक्ति ४०० वर्ष पहिले पैदा हुआ और कोई १०० वर्ष पहिले। वह इन दोनों समय में भेद नहीं कर पाता। बैंडले के अनुसार समय का प्रत्यय धीरे-धीरे विकसित होता है। ४ वर्ष की अवस्था तक प्रातः और सायंकाल का ज्ञान उसे हो जाता है। ५ या ७ वर्ष की आयु के बीच उसे दिनों तथा ऋतुओं का भी ज्ञान हो जाता है। ८ वर्ष की अवस्था में महीने की भी तारीख का ज्ञान हो जाता है। समय सम्बन्धी प्रत्ययों में व्यक्तिगत भेद पाया जाता है। ६ या ७ वर्ष के बालक को मिनिटों का ज्ञान नहीं रहता। कभी-कभी वह एक घंटे के समय बीतने को १५ मिनिट समझता है।

रंग सम्बन्धी प्रत्यय. हरलाक (विकास-मनोविज्ञान, पृ. १२३) के अनुसार सौंदर्यात्मक प्रत्यक्षण का संकेत पहले पहल रंगों को पसंद करने से मिलता है। तीन मास की आयु में शिशु दूसरे की अपेक्षा रंगों की ओर दुगुने समय तक देखते हैं लेकिन विभिन्न रंगों के प्रति होने वाली उनकी अनुक्रियाओं में कोई महत्वपूर्ण अंतर नही होता। छः से चौदह मास तक की आयु में शिशु विभिन्न रंगों के प्रति विभिन्न अनुक्रियाएँ करते हैं और उनकी पसंद का क्रम इस प्रकार होता है—लाल, पीला, नीला और हरा। छोटी आयु में शिशु तड़कीले-भड़कीले, गाढ़े और चमकदार रंग खूब पसंद करते हैं। लीपज तथा डेशियल के अनुसार आयु में वृद्धि के साथ-साथ रंग सम्बन्धी धारणायें भी बदलती रहती हैं। किशोरावस्था में किशोर और किशोरियों को हल्के और फीके रंग भले मालूम होते हैं। अक्सर बालकों को लाल-पीला-नीला रंग अच्छा लगता है और लड़कियां अधिकतर नीला और जामनी रंग पसन्द करती हैं।

संख्या सम्बधी प्रत्यय. शुरू में बालक १ संख्या जानता है। ३ वर्ष की अवस्था तक उसे अच्छा संख्या ज्ञान नहीं हो पाता। लांग और वेल्थमेन के अनुसार २-३ वर्ष का शिशु संख्याओं को रट कर सुना सकता है। जब वह बातचीत करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है तब वह कुछ संख्याओं की गिनती भी करने लगता है। इल्का के अनुसार बालक एक वर्ष में एक-एक करके वस्तुएँ गिन सकता है। टरमेन और मैरेल के अनुसार ५ वर्ष के बालक ४ संख्याओं तक अच्छी तरह गिन सकते हैं और ६ वर्ष में १०० तक गिनती गिन सकता है। ७ वर्ष में ५ के अंदर संख्याओं को घटा और २० के भीतर संख्याओं को जोड़ सकता है। ६ वर्ष की अवस्था तक वह १००० संख्या गिन सकता है। बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में संख्या प्रत्यय शीघ्र विकसित होता है। वर्नर के कथनानुसार बालक वस्तु गिनने में उंगलियों का सहारा लेता है साथ ही अधिक संख्या जताने के लिए परिमाण-सूचक शब्द जैसे इतना-उतना, बहुत-थोड़ा आदि का प्रयोग करता है। नोरो (१६६१) के अनुसार संख्या प्रत्यय विकास के लिए गुण और क्रम का ज्ञान आवश्यक है। धीरे-धीरे वह जोड़ना, घटाना, गुणा और भाग का ज्ञान प्राप्त करता है।

सामाजिक प्रत्यय. सामाजिक प्रत्ययों में योग्यता प्राप्त करने पर बालक दूसरों के विचारों, भावों तथा संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को समझने के योग्य हो जाता है। दूसरे इनके द्वारा बालक कुछ व्यक्तित्व सम्बन्धी बातों को भी समझने-बूझने लगता है। ३ मास की आयु का बालक लोगों के आने पर मुस्कुरा देता है। ५ माह की आयु में परिचित और अपरिचित व्यक्तियों को पहिचानने लगता है। ६ माह की अवस्था में वह वयस्कों को उनकी आवाजों तथा मुखाकृतियों से पहिचानने लगता है। बुहलर के अनुसार वह क्रोध, भय और ममता भरी आवाजों तथा भावों को समझने लगता है। जब उसका सामाजिक संपर्क बढ़ता है तब उसके सामाजिक प्रत्यय और अधिक हो जाते हैं। ८ या ६ वर्ष की अवस्था तक व्यक्तिगत सम्बन्धों के रूप में उसके सामाजिक प्रत्ययों का खूब विकास हो जाता है। किशोरावस्था में व्यक्तिगत और सामूहिक सम्बन्धों के रूप में उसके सामाजिक प्रत्ययों का अच्छा विकास हो जाता है।

विचार, चिन्तन, तर्कना, निर्णय और समस्या समाधान शक्तियों का विकास

मानसिक अथवा बौद्धिक विकास के अन्तर्गत प्याजे ने चिन्तन तथा तर्कना शक्तियों के विकास का विश्लेषण किया है जो इस प्रकार है। प्याजे के अनुसार बौद्धिक विकास में चार अवस्थायें पाई जाती है :

(१) संवेदनात्मक-गामक अवस्था. यह अवस्था जन्म से लेकर २ वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में वालक में न भाषा का विकास होता है, न उसमें प्रतीकात्मक क्रिया का ही। इस काल में वालक वस्तुओं के स्थायी स्वभाव में तथा गुण के विषय में जानकारी प्राप्त करता है।

(२) दूसरी अवस्था पूर्व प्रत्यात्मक और प्रज्ञ विचार की अवस्था है जो २ वर्ष से लेकर ७ वर्ष तक कायम रहती है। इस अवस्था में वालक शब्द, वस्तुओं तथा घटनाओं के नामकरण सीखता है, जो अनुभव करता है उसी के आधार पर निष्कर्ष निकालता है। इस अवस्था में वालक यह भी सीखता है कि कुछ क्रियाओं का वातावरण पर विशेष प्रभाव पड़ता है। प्याजे ने ३ वर्ष से लेकर ७ वर्ष की आयु के वालकों के चिन्तन-विकास के सम्बन्ध में यह कहा है कि इस अवधि में वच्चे में आत्म-केन्द्रित प्रवृत्ति रहती है। वे अपने ही वारे में सोचते हैं। दूसरे उनमें तार्किक संगति का अभाव रहता है। वे सजीव या निर्जीव सभी वस्तुओं को सजीव समझते हैं। उनका चिन्तन सरल और साधारण कोटि का होता है। एक ही घटना के आधार पर वह अपना सामान्य निष्कर्ष निकालने लगता है। चूंकि भाषा का विकास होता है तो विचार करना संभव होता है। इस अवस्था में वालक यह समझता है कि वस्तु के आकार में परिवर्तन के वावजूद उसके भार, आयतन लम्बाई और मात्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे सदा एक से रहते हैं। इस अवस्था में वालक उद्दीपनों को वस्तुओं के प्रतिनिधि मानता है। इस समय कल्पना सृष्टि और प्रतीकात्मक कार्य का विकास होता है। वह ३ पहिये की साइकिल को दौड़ने वाली मोटर और वृक्षों की डाल को मशीनगन समझता है। ४ वर्ष से लेकर ७ वर्ष की आन्तःप्रज्ञ विचार की अवस्था में अधिक प्रत्ययों का विस्तार करता है और अधिक जटिल विचारों और प्रतिमाओं का निर्माण करता है। इसके अतिरिक्त वह अपने समानता के प्रत्यक्षीकरणों के आधार पर वस्तुओं का जातियों में समूहीकरण करता है। भाषा योग्यता के विकास होने के फलस्वरूप वह यह सव कुछ कर सकता है। यदि वालक को वरावर भार की मिट्टी की दो गेंद दी जावें उनमें से एक की आकृति लम्बी और गोल कर दें या छोटे टुकड़ों में तोड़ने को कहा जाय और उससे यह पूछा जाय कि वस्तु का परिमाण वढ़ा या घटा या वरावर है, तो ५-६ वर्ष का वालक यह नहीं सोच सकेगा कि आकार में परिवर्तन होने के वावजूद मिट्टी में वही मात्रा रहेगी। इस प्रकार वालक का मात्रा सम्बन्धी प्रत्यय स्थायी और सूक्ष्म नहीं रहता।

(३) मूर्त संक्रिया की अवस्था ७ वर्ष से लेकर ११ वर्ष तक मानी जाती है।

इस अवस्था में बालक ठोस वस्तुओं के बारे में तर्क करने में समर्थ होता है साथ ही उन पर तार्किक नियम लागू करने में भी। वह दो प्रकार के तार्किक नियम लागू करता है जैसे, पहिला—वर्ग अंतर्वेष संक्रिया का नियम जिसमें वह अंश और पूर्ण के विषय में चिन्तन करने में समर्थ होता है। दूसरा—क्रमिक अनुक्रम संक्रिया के नियम में वस्तुओं का क्रम रहता है जिससे एक वस्तु दूसरी वस्तु से बड़ी या छोटी रहती है। इस अवस्था में ठोस वस्तुओं के अभाव में इन तार्किक नियमों को लागू करने में वह कठिनाई का अनुभव करता है। किशोरावस्था में चिंतन शक्ति में कुछ परिष्कृतता आती है और वह वस्तुनिष्ठ चिन्तन करने लगता है। इसके साथ ही इस समय बालक प्रारम्भिक रूप में तर्क और तर्कना का उपयोग करता है और वह भी केवल मूर्त पदार्थों के सम्बन्ध में करता है न कि वाचिक प्रसंगों में। दूसरे बालक में विचार-विमर्श की शक्ति नही रहती।

(४) आखिरी औपचारिक संक्रिया की अवस्था है जो कि ११ से १५ वर्ष तक रहती है। इसमें किशोर निगमात्मक ढंग से समस्याओं के विषय में तर्क और चिंतन करता है। साथ ही वह अपने तर्क और चिंतन के गुण का मूल्यांकन करने में समर्थ होता है। इस अवस्था में किशोर समस्याओं के बारे में चिन्तन की पहल करता है। इस अवस्था में अनुधारणों के विषय में तर्कना करता है और मूर्त पदार्थों की सहायता के बिना निष्कर्ष निकाल सकता है। इस अवस्था में किशोर जिन वस्तुओं और घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण करता है उनका वर्गीकरण और उन्हें श्रेणी-बद्ध करता है। प्रतीकों के आधार पर तर्कना भी कर सकता है और सामान्य विचारों के विषय में भी सोच सकता है। किशोर समस्या-समाधान के विषय में अनुधारण निर्माण कर सकता है और वैज्ञानिक तर्क करने में समर्थ हो सकता है। इस अवस्था में वह अपने स्वयं के चिंतन की तर्क-प्रणाली तथा गुण के विषय में विचार-विमर्श, मूल्यांकन और आलोचना कर सकता है। मूर्त पदार्थ के प्रत्यक्षी-करण पर निर्भरता की मात्रा कम हो जाती है। वह सच्चे या झूठे अनुधारण के बारे में विचार कर सकता है। मूर्त रूप में बगैर ध्यान दिये हुये वह तर्क-वितर्क का मार्ग अपना सकता है।

तर्क और निर्णय शक्ति का विकास

६ से १३ वर्ष की आयु के बालक में तर्कशक्ति का विकास प्रारम्भ होता है। इस प्रारंभिक अवस्था में वह वस्तुओं में कारण और परिणाम सम्बन्ध जानने लगता है। २-३ वर्ष की आयु में वयस्क के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करना

चाहिये, समझने लगता है साथ ही व्यक्तियों के विषय में सरल सामान्यीकरण करने लगता है। ६-७ वर्ष की आयु में वह अपने वातावरण के अन्तर्गत वस्तु तथा व्यक्तियों के विषय में निर्णय लेने या निष्कर्ष निकालने लगता है। कारणों, परिणामों, सम्बन्धों तथा सामान्यीकरण में वह अधिकतर वयस्कों की तर्कना और निर्णय प्रणाली को अपनाता है। सामान्यीकृत तथ्यों के आधार पर विशिष्ट वर्गों के विषय में निर्णय करने की उसमें शक्ति आ जाती है; परन्तु उसकी तार्किक क्रिया अवसर भ्रमपूर्ण हुआ करती है। उसमें समन्वय नहीं होता, और संघर्ष की अवस्था में प्रत्यात्मक चिन्तन के विकास होने पर अपनी तर्कना शक्ति का उपयोग करने लगता है। पिकूनस के अनुसार किशोर अवस्था में बुद्धि का अधिकतम विकास होता है जिससे किशोर में तर्कना के साथ-साथ निर्णय शक्ति का भी प्रादुर्भाव होता है। किशोर में विचार तथा कल्पना की बहुलता के कारण वह भिन्न-भिन्न योजना बनाने में भी समर्थ हो जाता है।

भाषा के विकास तथा कल्पना की संकुलता के साथ-साथ कभी-कभी बालक की बुद्धिमत्ता तथा तर्कना नई बात गढ़ने, झूठ बोलने, सरासर आंखों में धूल झोंकने, बात बनाने, बुद्धू बनाने और विचित्र तर्क उपस्थित करने में व्यक्त होती है। ध्यान की चंचलता, व्यवस्थित जीवन का अभाव, भावों की प्रधानता, अनुभवों की कमी तथा आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अभिनति के अभाव के कारण बालक में तर्कना एवं निर्णय शक्ति इतनी विकसित नहीं होने पाती। अतः उसके द्वारा प्रस्तुत किये हुए तर्क तथा निर्णय इतने युक्तिसंगत नहीं होते। वह अपनी बात किसी प्रकार भी सिद्ध करना चाहता है। उसकी दलीलें थोथी, लचर होती हैं और निर्णय तथ्यहीन होते हैं। यदि वह कोई बात अपनी दलीलों के द्वारा नहीं प्रमाणित कर पाता तो वह कभी रोने लगता है या अन्य व्यर्थ की हरकतें करने लगता है या अन्य उपाय अपनाने लगता है।

बालक के अज्ञात मन में कभी कोई भावना उठती है तो कभी कोई और उसके संवेदनशील हृदय तथा मन पर अनुकूल और प्रतिकूल घटनाओं के विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियायें होती हैं। अज्ञात मन अपनी दबी-दबायी और कुंठित इच्छायें प्रकट करने के लिए अनेक संलक्षणात्मक कार्य पद्धतियाँ (डिफेंस मेकेनीजम) अपनाता है। उसके द्वारा अपनाई जाने वाली कार्य पद्धतियां इस प्रकार हैं :—

(१) **आत्मीकरण (आइडेण्टीफिकेशन)**. यह मन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। इसमें बालक अपने से बड़ों के विचार, भाव तथा क्रियाओं को अपने में ढालने की चेष्टा करता है।

(२) विस्थापन (डिसप्लेसमेन्ट). इसमें अज्ञात मन अपनी दमित एवं कुंठित इच्छायें प्रगट करने के लिए विस्थापन की कार्य पद्धति अपनाता है। जब किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति कोई संवेग उत्पन्न होता है और कुछ कारणवश उसका व्यक्तिकरण नहीं हो पाता तो अन्य विषय के साथ वह अपना संवेग व्यक्त करता है। बालक अपने संगियों के व्यक्तिकरण में विस्थापन की कार्य पद्धति अपनाता है।

(३) पृथक्कीकरण (विथड्राल). इसमें बालक या व्यक्ति अपमानित होने पर एकांतिक बनकर अपने को बिल्कुल अलग कर लेता है।

(४) प्रत्यावर्तन (रिगरेशन). इसमें बालक या व्यक्ति कठिनाई का सामना न करने पर छोटे बच्चों सी हरकतें करने लगता है जैसे खूब जोर से चीखना-चिल्लाना, रोना-धोना, सिर पटकना और बाल नोचना इत्यादि।

(५) शोधन (सब्लीमेशन). इसमें मूल प्रवृत्ति को समाजोपयोगी कार्य में परिवर्तित कर दिया जाता है जिस प्रकार कि तुलसीदास ने अपने स्त्री-प्रेम को ईश्वर प्रेम में परिवर्तित कर दिया था।

(६) यौक्तिकीकरण (रेशनलाइजेशन). मानव के आचरणों का आधार वासनायें हुआ करती हैं परन्तु सामाजिक दृष्टि से उन्हें उचित या वांछनीय साबित करने के लिए किसी भोंड़े तर्क या युक्ति का आधार ले लिया जाता है। जैसे नाच न आवे आंगन टेढ़े की बात या लोमड़ी की अंगूर खट्टे की कहावत।

(७) प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन). इसमें बालक या व्यक्ति अपने दोष छिपाने के लिए दूसरों को दोषी ठहराकर उन पर दोष मढ़ता है। इसमें उल्टा चोर कोतवाल को डांटने की कहावत चरितार्थ होती है।

स्मृति का विकास

ब्रेकनरिज और विन्सेन्ट स्मिथ के कथनानुसार १८ महीने की अवस्था में जब से बालक नई शब्दावलि अभिग्रहण करता है तभी से स्मृति का विकास होना शुरू हो जाता है। शब्दों के अभिग्रहण और उनके प्रयोग की योग्यता प्राप्त हो जाने पर बालक की स्मृति परीक्षण का अवसर उपस्थित होता है। इस अवस्था में बालक तात्कालिक स्मृति से काम लेता है। १८ महीने में १ शब्द और स्मृति में ५ अक्षरों के शब्दों का वह पुनर्स्मरण कर सकता है। अनेक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि शिशु में तीसरे या चौथे महीने से स्मृति के चिन्ह दिखाई पड़ने लगते हैं। ८

या ६ महीने में वालक अपनी माता की आवाज को पहिचानने लगता है और १०-११ महीने में वह सार्थक शब्दों का उच्चारण करने लगता है। इन दोनों बातों में स्मृति का हाथ रहता है। बुहलर के अनुसार १ वर्ष का बालक खिलौना खो जाने पर ५ मिनिट तक वह वात याद रखता है और २ वर्ष का वालक २० मिनिट तक। १ वर्ष का शिशु ८-१० दिन के बाद उसके पिता के लौटने पर उन्हें पहिचान लेता है परन्तु ३-४ महीने के पश्चात् लौटे हुये पिता को वह पहिचान नहीं पाता।

बाल्डविन और स्ट्रेयर के परीक्षण के अनुसार २-३ वर्ष में शिशु में गति सम्बन्धी स्मृति देखी जाती है। इप्सटीन (१९६३) के अनुसार स्मृति का प्रथम विकास ३½ वर्ष की आयु से लेकर ४ वर्ष की आयु में हो जाता है। उस समय उस पर अधिकतर दुखदायी स्मृतियां हावी रहती हैं। सुखदायी स्मृतियां उसके मन में ज्यादा देर तक नहीं टिक पातीं। बालकों में चित्र सम्बन्धी स्मृति का क्रमशः विकास होता है। चित्रमय वर्णमाला के वे ही अक्षर बालक याद रख पाते हैं जिनसे उनका किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है। जैसे—अ आम का, इ इमली का और म मछली का। २ वर्ष का बालक ३-४ संधियों के वाक्यों को, २½ वर्ष का वालक ७ संधियों के वाक्यों को और ४ वर्ष का वालक १२-१३ संधियों के वाक्यों को, ६½ वर्ष का १६-१८ संधियों के वाक्यों को और ११ वर्ष का बालक २० संधियों के वाक्यों का पुनर्स्मरण कर सकता है। २ वर्ष से लेकर १० वर्ष की आयु के बच्चों में अंक याद रखने की स्मृति और निरर्थक शब्दों को स्मरण रखने की तात्कालिक स्मृति विकसित होती है। टरमेन, मेरिल और बिने के वुद्धि परीक्षण के अनुसार २½ से ३ वर्ष की आयु में २ अंक का वित्ता, ४½ वर्ष में ४ अंक का, ७वें वर्ष में ५ अंक का और १०वें वर्ष में ६-७ अंक का वित्ता पाया जाता है। स्ट्राडड और मोर्ल के परीक्षण के अनुसार ७ वर्ष के बालक ४ शब्द, १० के ७ और ११ के ७-८ निरर्थक शब्द याद रख सकते हैं। बाल्यावस्था में शाब्दिक स्मृति भी पाई जाती है। बिल के परीक्षण के अनुसार ८ वर्ष की वालिका १७ शब्द, लड़के १६ शब्द, १० वर्ष के लड़के-लड़कियां २० शब्द और १२ वर्ष के लड़के २२ शब्द याद रख सकते हैं। बाल्यावस्था स्मृति की स्वर्ण अवस्था मानी जाती है। बाल्यावस्था में बालक की स्मृति अधिकतर यांत्रिक होती है। वह नये तथ्यों को बिना समझे-बूझे रट्टू तोते की तरह रट लेता है। वह जल्दी से कोई भी विषय या वस्तु याद कर लेता है और जल्दी ही उसे भूल जाता है। चूंकि बाल्यावस्था में बालकों के साहचर्य के अधिक क्षेत्र नहीं रहते, दूसरे उनकी मानसिक क्रियाशीलता में सीमितता रहती है, इसलिए वे यांत्रिक स्मृति का सहारा लेते हैं।

किशोरावस्था में चिन्तना और तर्कना शक्ति का विकास हो जाता है, इसलिए किशोर कोई भी चीज बिना समझे-बूझे याद नहीं रखना चाहता। रटाई को नापसंद करने लगता है और वह तार्किक स्थिति से काम लेने लगता है। डब्लू. एच. पाइली का कथन है कि स्मृति, योग्यता तथा मानसिक आयु में सह-सम्बन्ध पाया जाता है। स्मृति आयु के साथ-साथ विकास गति को प्राप्त होती है।

कल्पना का विकास

कल्पना वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा अतीत काल के अनुभवों को नया क्रम और नया रूप दिया जाता है। किस आयु से कल्पना का आरम्भ होता है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ४-५ वर्ष के शिशु व बालक सृजनात्मक कल्पना का सहारा लेते हैं। जैसे छड़ी को घोड़ा समझकर उन पर वे चढ़ते हैं। ६-७ वर्ष की आयु में वे अनेक परिकल्पनायें करते हैं। नानी की कहानियां या अप्सराओं की कहानियों में वे अधिक रुचि लेते हैं। ३-४ वर्ष की आयु से लेकर १०-१२ वर्ष की आयु तक झूठी कल्पना तथा अन्य प्रकार की स्थूल कल्पनायें बालक के मानसिक जीवन में ओत-प्रोत रहती हैं। बालकों के खेल-कूदों तथा उनकी बातचीत में कल्पना का रंग देखा जाता है। शैशवकाल कल्पनापूर्ण रहता है और वह उसके प्रभाव में रहता है। शिशु में अनुभव की कमी रहने के कारण वह कल्पना और सत्य में अन्तर नहीं कर पाता। वह अधिकतर झूठी कल्पनाओं में दिलचस्पी लेता है। शिशुओं तथा बालकों की कल्पनायें अधिकतर स्थूल और मूर्त होती हैं। अर्थात् वे कुत्ते, बिल्ली, चित्रादि और वस्तुओं के स्थूल रूपों को अपने मानस पटल पर अंकित करते हैं। उनकी कल्पनायें परिवर्तनशील होती हैं। क्षण-क्षण में गिरगिट की तरह अपना रूप-रंग बदलती रहती हैं। वे वस्तु के मूल स्वरूप और उसे अभिव्यक्त करने वाली प्रतिमा में कोई अन्तर नहीं देख पाते, कारण कि उनकी प्रतिमायें अधिकतर अतिरंजित हुआ करती हैं और वे उन्हें सत्य मानते हैं। उदाहरण के लिए कोई भी सुनी हुई कहानी को जब वे कहते हैं तो उसमें अपनी ओर से कुछ जोड़ लेते हैं और उसमें अधिक नमक-मिर्च लगा देते हैं।

बालकों की कल्पना अधिकतर तीव्र, सही और स्पष्ट होती हैं। वे बहुधा बेबुनियादी और हवाई किले के अनुरूप होती हैं। उनमें प्रतीकात्मकता का योग रहता है। उनकी कल्पनायें आत्मगत न होकर वस्तुनिष्ठ होती हैं और उनका ध्येय कुछ लक्ष्य की प्राप्ति करना होता है। उनकी कल्पनायें आयु वृद्धि के साथ बदलती रहती हैं। जो बालक मित्रों की संगति से वंचित रहते हैं वे काल्पनिक मित्र बना

कर अपनी क्षति पूर्ति करते हैं। पूर्व प्राथमिक तथा नर्सरी स्कूल के बालकों में काल्पनिक मित्रों के साथ खेलने के उदाहरण पाये जाते हैं। स्ट्रैंग (१९५९) के अनुसार शाला प्रवेश का समय काल्पनिक खेल की उच्चतम अवस्था माना जाता है। यह अवस्था ५ और ७ वर्ष के बीच रहती है, जबकि बालक स्थूल कल्पनाओं से भरी हुई परियों की कहानी में दिलचस्पी लेने लगते हैं। जब वे प्राथमिक शाला में प्रवेश करते हैं तो वे अच्छे कार्यों के लिए कल्पना पर नियंत्रण रखते हैं। इसी समय काल्पनिक मित्रों, व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति सहानुभूति तथा समझ की भावना का उदय होता है। ९ से १२ वर्ष की आयु में वे भाग्य, तंत्र-मंत्र, जादू और अंधविश्वास में विश्वास करने लगते हैं। वे माता-पिता या शिक्षक की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए कभी-कभी काल्पनिक बीमारी का भी सहारा लेने लगते हैं।

बाल्यावस्था में तरंगात्मक या कोरी कल्पना का जोर होता है, जिसके फलस्वरूप बालकों को हवाई किले बनाने, दून की हाँकने, मनमोदक बाँधने, शेखचिल्ली बनने, मियांमिट्ठू बनने और ख्याली पुलाव पकाने की खूब सूझती है। उनके खेल-कूदों में भी इस कल्पना की प्रधानता रहती है। श्रीमती मान्टेसरी ने इस कल्पना का विरोध किया है। उसका कथन है कि ऐसी कल्पना का रंग चढ़ जाने पर बालक जीवन की वास्तविकता से दूर जा पड़ते हैं और भीषण परिस्थिति पड़ने पर उससे समायोजन नहीं कर पाते। वैकनरिज और विन्सेन्ट स्मिथ के अनुसार जिन बालकों में शारीरिक दोष पाये जाते हैं वे अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने, दूसरों की सहानुभूति और स्नेह प्राप्त करने के लिए खूब डींग हांकते हैं। गार्सिया (१९६१) के अनुसार कभी-कभी बालक परिवार की खराबी तथा मानसिक आघात के कारण कल्पना के दूषित रूप स्वैर कल्पना के शिकार हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे चुप्पी साधे बैठे रहते हैं या वृक्ष या छत पर चढ़ने में रुचि लेने लगते हैं। कल्पना की भड़ास निकालने के लिए झूठ बोलने का सहारा लेने लगते हैं। झूठ बोलने, दूसरों को बनाने व चिढ़ाने में वे बड़ी शान व गर्व का अनुभव करने लगते हैं। जिन बालकों के जीवन में अभाव और असुविधा का बोलबाला रहता है वे सदा काल्पनिक जगत में ही विचरण किया करते हैं।

किशोरावस्था में कल्पना की संकुलता और बहुलता के कारण किशोर कल्पना जगत में बहुल विचरण करने लगता है और स्वतंत्र रूप से अपनी दुनिया अलग-सलग बसाना चाहता है। दूसरे उसमें दिवा-स्वप्न और व्यर्थ विचारों का बोलबाला रहता है। किशोर कल्पना के बल पर और व्यक्तियों तथा वस्तुओं के बीच सम्बन्धों के

सूक्ष्म रूपों को पहिचानने लगता है। कल्पना के द्वारा वह अनेक परिचित तथा अपरिचित स्थानों में आ जा सकता है। निराशा हाथ लगने पर वह स्वैर कल्पना की शरण लेता है। दिवा-स्वप्नों द्वारा वह अपनी शक्तियों, स्थान और दूरी की सीमाओं को लांघ जाता है। वह पंच सवारों में अपना नाम लिखाने में गर्व का अनुभव करता है। किशोर वयस्कों के कारनामों, व्यावसायिक सफलताओं, धन-संपत्ति, मित्र, संघर्ष और ऐश्वर्य आदि के प्रति और किशोरियां आकर्षण, रोमांस, नृत्य-संगीत और बाहरी दिखावट के प्रति अपनी अधिक रुचि प्रदर्शित करती हैं। पी. साइमंड्स के अनुसार इस अवस्था में नवयुवकों की लड़ाई-झगड़े और प्रेम की कहानियाँ खूब सुनने को मिलती हैं। किशोर अवस्था की कल्पनाओं के अन्तर्गत चिन्ता, अपराध, सफलता, स्वतंत्रता, नैतिक संघर्ष और बीमारी आदि के नजारे भी देखने को मिलते हैं। ज्यों-ज्यों किशोर अवस्था विकसित होती है त्यों-त्यों किशोरों के दिवा-स्वप्नों के अनुभव जीवन के वास्तविक तत्वों में मेल खाने लगते हैं।

कार्ल सी. गैरीसन के अनुसार किशोरों की कल्पना में उनकी कविता, कहानियां, चित्र, संगीत और रचनात्मक क्रियाओं में उसका जौहर देखने को मिलता है। इस अवस्था में किशोर के जीवन में कुछ गम्भीरता आने लगती है। इसलिए वह केवल कल्पना-जगत में ही उड़ान नहीं भरता, वरन् कभी-कभी वास्तविक जगत में भी नीचे उतर आता है। जब किशोर अपनी इच्छा और आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता तब वह दिवा-स्वप्नों का आश्रय लेता है। इस प्रकार किशोरावस्था के जीवन में कल्पना और वास्तविकता का सुन्दर मेल भी दिखाई पड़ता है।

अवधान का विकास

यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि बच्चा कब से वस्तु की ओर अपना अवधान केन्द्रित करने में समर्थ होता है। पर यह देखा गया है कि १ महीने की आयु से ही शिशु दीपक की ओर टकटकी लगाकर देखने का प्रयत्न करता है। दीपक हटाने पर रोने लगता है। ४-५ महीने की अवस्था में अन्य व्यक्तियों के आने पर शिशु का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो जाता है। वह दूसरों की आवाज और पुचकार से आकर्षित होता है। अब इसका ध्यान अधिक समय तक टिकने लगता है। शैशवावस्था में अवधान का विस्तार बहुत कम और संकुचित होता है। अतः बालक एक साथ बहुत कम बातों पर ध्यान दे सकता है।

इसकी अवधान शक्ति अधिक अस्थिर और चंचल होती है, इसलिए वह एक विषय पर ज्यादा देर तक अपना ध्यान नहीं केन्द्रित कर सकता। वार्नएण्टिस्टन के अनुसार २ वर्ष के शिशु ७ मिनिट तक, ४-५ वर्ष के शिशु १५ मिनिट तक अपना ध्यान आकर्षित कर सकते हैं। स्ट्रेंग के अनुसार ५ वर्ष के बालक का मिट्टी या लकड़ी के खिलौने और गुड़ियों आदि के प्रति अधिक ध्यान खिचता है। बालकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए उत्तेजना की प्रबलता तथा तीव्रता की जरूरत पड़ती है। रंग-बिरंगी वस्तुएं, हिलने-डुलने वाली चीजें, तेज प्रकाश व आवाज, बालकों का ध्यान अधिक खींचती हैं और इनका ध्यान अधिकतर संवेदनात्मक होता है। उनके ध्यान का केन्द्र उनके स्वभाव, व्यक्तित्व, रुचि और स्वास्थ्य पर निर्भर रहता है। रुचि को ध्यान की जननी कहा गया है। जिस वस्तु में उसकी रुचि अधिक होती है उसका ध्यान उसके प्रति अधिक खिंचता है। आयु वृद्धि के साथ उनकी रुचियां अनेक विषयों में होने लगती हैं। अतः उनका ध्यान पुरानी बातों या विषयों के प्रति इतना अधिक आकर्षित नहीं होता। गुवेक के अनुसार अवधान विस्तार बाल्यावस्था और किशोरावस्था में अधिकाधिक बढ़ता जाता है और साथ ही ध्यान की एकाग्रता भी।

रुचियों का विकास

रुचि एक अर्जित प्रेरणा मानी जाती है। हेरेस के अनुसार बालक जिन वस्तुओं के साथ खेलता है, जिनका संग्रह करता है और जिन क्रियाओं को अबाधित रूप से देर तक करता है उनके प्रति उसकी अधिक रुचि रहती है, पर जर्सिल्ड का कथन है कि किसी कार्य को देर तक करने के कारण बालक की रुचि उसमें होना कोई जरूरी नहीं है; क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि बहुत से बालक रेडियो देर तक इसलिए सुनते हैं कि उनके पास काम-काज नहीं रहता, वे निठ्ठले रहते हैं। बालक की विभिन्न रुचियों का पता उसके प्रश्न करने, किस प्रकार की पुस्तकें पढ़ने, किस प्रकार की बातचीत करने और किस प्रकार के चित्र खींचने आदि से चलता है।

रुचियों की कुछ अपनी विशेषताएं होती हैं। बालक को जब किसी कार्य से संतोष होता है तो उसमें रुचि का होना स्वाभाविक है। उनके द्वारा बालक की कोई न कोई आवश्यकता की पूर्ति होती है। व्यक्तित्व विकास में रुचियों का विशेष महत्व रहता है। जिसके पास जितनी ही अधिक रुचियां रहती हैं उतना ही अधिक उसका व्यक्तित्व व्यापक रहता है। कुछ रुचियों से मन का विकास होता है, मान-

सिक शांति मिलती है और थकावट दूर होती है। बालक की रुचियां उसके शारीरिक और मानसिक विकास और सीखने के अवसर पर आधारित होती हैं। विल्सन के अनुसार उत्तरोत्तर आयु वृद्धि और बालक के विकास के साथ उसकी शारीरिक, गामक तथा मानसिक अवस्थाओं में परिवर्तन होता जाता है। इन्हीं परिवर्तनों के कारण रुचियों में भी परिवर्तन होता है। जो बातें शैशवावस्था में अच्छी लगती हैं वे बाल्यावस्था में अरुचिकर हो सकती हैं और इसी तरह किशोरावस्था में भी। शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में बौद्धिक विकास के साथ-साथ नई-नई रुचियां भी जाग्रत होती हैं। ज्यों-ज्यों बालक का वातावरण विस्तृत होता जाता है और उसका संपर्क बढ़ता जाता है उसी प्रकार उसकी रुचियां भी बढ़ती जातीं हैं। पहिले-पहल शिशुओं की रुचियां उसके शरीर तथा उसकी चीजों में सीमित रहती हैं। बाद में उनकी रुचियों में विस्तार होता है और वे भिन्न-भिन्न वस्तुओं और विषयों के प्रति जाग्रत होती हैं। शिशु बालक और किशोर में भिन्न-भिन्न रुचियां पाई जाती हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) **शरीर सम्बन्धी रुचियां.** ३ वर्ष की अवस्था से शिशु अपने शरीर के विषय में अधिक रुचि लेने लगता है। वह शरीर के विभिन्न अंगों के बारे में खूब पूछताछ करता रहता है। वह अपने शरीर के अंग विशेष रूप से आंख, बाल, नाभि, छाती और जननेन्द्रिय के विषय में ज्यादा प्रश्न करता है। मल-मूत्र त्याग की भी बात पूछता है। वह लड़की की पहिचान, उनके पहिनावे अथवा बाल बढ़ने के ढंग से करता है। बाल्यावस्था में बालक शरीर के अन्दर होने वाली बातों के विषय में बड़े-बूढ़ों से अनेक सवाल पूछता है और लिंगभेद को भी पहिचानने लगता है।

(२) **काम सम्बन्धी रुचियां.** फ्रायड के अनुसार ३ वर्ष की अवस्था में ही लैंगिक चेतना उत्पन्न हो जाती है। ६ वर्ष की आयु में बालक जननेन्द्रिय और उसके कार्यों के बारे में ज्यादा रुचि लेने लगता है। वह अपने कुटुम्ब या पास-पड़ोस में बच्चे की उत्पत्ति के बारे में अनेक प्रश्न करता है। बड़ा बालक स्त्री-पुरुष के बीच में क्या सम्बन्ध है, बच्चा कैसे पैदा होता है, माता के गर्भ में बच्चा कैसे बढ़ता है आदि बातों को विस्तार से जानना चाहता है। माता द्वारा इन जिज्ञासाओं की पूर्ति न होने से वह अपने से उमर से बड़े संगी-साथियों, कहानियों तथा पुस्तकों आदि द्वारा इन सबकी जानकारी हासिल करता है। बाल्यावस्था में अनेक बालक अपनी आयु से बड़े बालकों द्वारा समलिंगीय और विषमलिंगीय प्रेम का अनुभव करते हैं।

हरलाक के अनुसार प्यार, पिल्लों का प्रेम, रूमानी आसक्ति और नायक-पूजा

आम तौर से १४ वर्ष की आयु के आस-पास अपनी पराकाष्ठा पर रहती है। इसके पश्चात पूर्व किशोरावस्था में विषम-लिंगीय प्रेम का विकास होता है। विषम-लिंगीय प्रेम के शिकार व्यक्ति हाव-भाव, बनाव-शृंगार और भाषा द्वारा अपने प्रति ध्यान आकर्षित करते हैं। इनमें झेंप-लज्जा और आदर की चेतना होती है। इनमें लैंगिक बातों की बड़ी जिज्ञासा होती है। उत्तर किशोरावस्था में लड़कियों की अपेक्षा लड़के मानसिक और लैंगिक परिपक्वता आसानी से प्राप्त कर लेते हैं।

(३) **आकृति सम्बन्धी रुचियां.** दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए शिशु रंग-बिरंगे वस्त्र धारण करने में अधिक रुचि लेता है। यदि कोई उसके नये वस्त्र या जूते आदि के प्रति ध्यान नहीं देता तो वह नये वस्त्र और चीजें दूसरों को बार-बार दिखाकर बरबस अपनी ओर ध्यान आकर्षित करता है। बाल्यावस्था में बालकों की अपेक्षा बालिकायें अपनी आकृति के विषय में अधिक रुचि लेने लगती हैं। परन्तु बालकों को अच्छी या बुरी आकृति नहीं रहती। ८वें या ९वें वर्ष में बालक अपनी टोली के अनुरूप कपड़े पहिनने में दिलचस्पी लेने लगता है। किशोरी, अपनी आकृति अच्छी बनाने के लिए सब कुछ त्याग करने को तैयार रहती है। वह यह भी चाहती है कि अन्य लड़कियां उसकी प्रशंसा करें, उससे डाह करें और लड़के उसके प्रति आकर्षित हों। लड़कियां अपने बनाव-शृंगार और साज-सज्जा की ओर विशेष ध्यान देती हैं। तड़क-भड़कदार कपड़े, पाउडर-क्रीम, लिपस्टिक आदि अधिक पसंद करती हैं। लड़के भी अच्छे फैशन के कपड़े पहिनना पसंद करते हैं और वह भी लड़कियों को आकर्षित करने के लिए।

(४) **खेल सम्बन्धी रुचियां.** शैशवावस्था के शिशु बिल्कुल स्वतंत्र रहना चाहते हैं। इस समय वस्तुओं के फेंकने-फांकने, उलटने-पुलटने और तोड़ने-फोड़ने में उन्हें खूब मजा आता है। ३ महीने की आयु में शिशु को अपने हाथ-पैर और उंगलियों के साथ खेलने में आनन्द आने लगता है। १ वर्ष की आयु में वह अनेक प्रकार के खिलौनों के साथ उन्हें हिला-डुलाकर, तोड़-फोड़कर खेल करना पसंद करने लगता है। फिर वह रचनात्मक खेलों को जैसे घरघूला बनाना आदि में दिलचस्पी लेने लगता है। ३-४ वर्ष की अवस्था में वह काल्पनिक खेलों को चाहने लगता है। ६-७ वर्ष के बालक सामूहिक खेल के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करते हैं। इस समय लड़कियां गुड़ियों का खेल अधिक पसंद करती हैं। ८ या ९ वर्ष की अवस्था में प्रतियोगिता के खेलों के प्रति वे ज्यादा रुचि लेने लगते हैं। जैसे गिल्ली-डंडा और हाकी-फुटबाल आदि खेलना। १०-१२ वर्ष की अवस्था में लड़के-लड़कियों में कला प्रवृत्ति जागने लगती हैं अतः लड़कियां घरेलू कार्यों में अधिक रुचि

दर्शाने लगती हैं जैसे खाना बनाना, सीना-पिरोना, काढ़ना-बुनना और नाचना-गाना आदि। लड़के चित्र बनाना, कार्ड बोर्ड का कार्य करना आदि में रुचि लेते हैं। किशोरावस्था के पदार्पण होते ही किशोरों को साहसपूर्ण और दौड़-धूप वाले खेल अच्छे लगने लगते हैं। जिन खेलों में शारीरिक शक्ति अधिक खर्च-होती है उन्हीं खेलों को वे अधिक पसंद करते हैं जैसे—तैरना, वृक्ष पर चढ़ना, दौड़ना, क्रिकेट आदि खेलना। इस अवस्था में किशोर प्रतियोगिता के खेल, मनोरंजनात्मक खेल और परीक्षात्मक तथा मानसिक खेल ज्यादा पसंद करते हैं।

(५) **संग्रह सम्बन्धी रुचियां.** जुबेक के अनुसार ३ या ४ वर्ष की आयु के बच्चे रद्दी-सद्दी वस्तुओं के संग्रह करने में रुचि लेते हैं। शिक्षा प्राप्त करने और आयु के बढ़ने से उनकी संग्रह रुचि में सुधार हो जाता है। १० वर्ष की आयु में यह प्रवृत्ति सबसे प्रबल रूप में देखी जाती है। डूरोस्ट (१९३२) के अनुसार १४ वर्ष की आयु में यह प्रवृत्ति मन्द पड़ने लगती है। लड़कियाँ लड़कों से अधिक संग्रह करना चाहती हैं।

(६) **बातचीत सम्बन्धी रुचियां.** प्राथमिक शालाओं के बालकों के वार्तालाप प्रायः उन्ही से उनकी क्रियाओं से सम्बन्धित रहते हैं। डाउसन (१९३७) के अनुसार बालकों के वार्तालाप के विषय में अधिकतर खेल-कूद, व्यक्तिगत अनुभव, यात्राएं, पालतू जानवर, और उनकी विशेषताएं, कुटुम्ब और मित्र सम्बन्धी रहते हैं। फ्रीज (१९४६) के अनुसार किशोर अवस्था में बातचीत के विषय प्रेम-चर्चा, भद्दे मजाक, व्यक्तिगत धन, लड़कियां, मनोरंजन, फैशन और परिवार की समस्याओं से अधिक सम्बन्ध रखते हैं।

(७) **वाचन सम्बन्धी रुचियां.** आमी का कथन है कि शिशु में पढ़ना सीखने के बहुत पहिले उसके वाचन सम्बन्धी विषय के प्रति रुचि अदृश्य रूप में पाई जाती है। पर वास्तव में बच्चा जब पढ़ना सीख लेता है तब उसकी वाचन सम्बन्धी रुचियां विकसित होती हैं। ३-४ वर्ष की आयु में शिशु जानवरों या मनुष्यों के रंगीन चित्रों को देखना चाहता है और दादी-नानी की सरल कहानियां सुनना चाहता है। ६-७ वर्ष की आयु में बालक जानवर-सम्बन्धी मनोरंजक कहानियां सुनना और पढ़ना चाहता है। साथ ही प्रकृति सम्बन्धी बातें पढ़ने में रुचि लेने लगता है और परियों की कहानी बड़े चाव से पढ़ता है। टरमेन (१९२७) के अनुसार ९ और १० वर्ष की आयु में बच्चों की रुचि परियों की कोरी काल्पनिक कहानी के प्रति कम हो जाती है। लाजर के अनुसार इस अवस्था में जान-जोखिम और आविष्कार की कहानियां पढ़ने में ज्यादा रुचि दिखाई जाती है। साथ ही ११ वर्ष

की आयु में आविष्कार रहस्यपूर्ण कहानियां, विज्ञान और शाला सम्बन्धी कहानियों में भी बालक रुचि लेने लगते हैं। १२-१३ वर्ष की आयु के बीच पढ़ने की रुचि बड़ी तीव्रता से जागती है और इसी समय वीर-पूजा की भावना जागृत होती है। अतः बालक महापुरुषों की जीवनी तथा ऐतिहासिक कहानी पढ़ने में अधिक रुचि लेने लगते हैं साथ ही यात्रा, रहस्य और साहस सम्बन्धी कहानियों में भी। पूर्व किशोरावस्था में मनोरंजनात्मक रुचियां कम हो जाती हैं। टरमेन और लिमा (१९२७) के अनुसार किशोर अवस्था में काम प्रवृत्ति के जागरण से किशोर अधिकतर रोमांचकारी, अय्यारी-तिलस्मी और ऐतिहासिक कहानी ज्यादा पढ़ते हैं। किशोरों की रुचियां कल्पना-संकुल कहानियों और उपन्यासों, एकांकियों, नाटकों, लेखों और समाचार-पत्रों को पढ़ने की ओर अधिक रहती है। वे ज्यादा-तर पत्र-पत्रिका पढ़ने में रुचि लेते लगते हैं।

(८) **चलचित्र और आकाशवाणी के प्रति रुचियां.** मनोरंजन के साधनों में चलचित्र, रेडियो और टेलीविजन बहुत लोकप्रिय साधन माने जाते हैं। ध्वनि, दृश्य, संगीत, कथोपकथन, अभिनय और चलचित्र बालक से लेकर बूढ़ों तक अपनी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। भारत में साहसिक, सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक आदि सभी प्रकार के चलचित्र बनते हैं। अनेक लेखकों की कृतियां भी फिलमायी जाती हैं। नवकिशोर प्रेम प्रधान या हास्यरस प्रधान और साहसिक चलचित्र अधिक पसंद करते है और नवकिशोरियां कलापूर्ण और प्रेम प्रधान चल-चित्रों को अधिक पसंद करती हैं। हरलाक के अनुसार चलचित्र लड़के-लड़कियों पर अनेक प्रकार के प्रभाव डालते हैं जैसे—उनमें यौन भावनायें उभाड़ते है, उनकी नींद हराम करते हैं, उनमें अपराधी वृत्ति जागृत करते हैं, धन की बरबादी करते हैं, स्वास्थ्य में बुरा असर डालते हैं और जीवन में बेचैनी पैदा करते हैं। आजकल सिनेमा देखने का इतना जबरदस्त शौक चर्राया है कि लड़के-लड़कियां अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़कर सिनेमा देखने के लिये बुरी तरह टूट पड़ती हैं। लड़के फिल्म के अभिनेता, और लड़कियां फ़िल्म की अभिनेत्रियां बनना चाहती हैं।

रेडियो सुनना आजकल लड़के-लड़कियां अधिक पसंद करती हैं। भारत में आकाशवाणी के अनेक केन्द्रों से दिल्ली, लखनऊ, भोपाल आदि स्टेशनों से बच्चों के लिए सप्ताह में विशेष कार्यक्रम प्रसारित किये जाते हैं। बाल्यावस्था में लड़के-लड़कियां गाने, प्रहसन, सैर-सपाटे और भक्तिपूर्ण कार्यक्रमों को अधिक पसंद करती हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों किशोरावस्था बढ़ती है त्यों-त्यों किशोर-किशोरियां नृत्य-संगीत, परिहासात्मक शब्द-चित्र, नाटक, अपराध और जासूस सम्बन्धी प्रोग्राम और खेल-

कूद प्रतियोगिता सम्बन्धी कार्यक्रमों को अधिक पसंद करती हैं।

(९) धर्म सम्बन्धी रुचियां. ३ से ६ वर्ष की आयु में बच्चे में अपने बड़े-बूढ़ों के धार्मिक कृत्यों की नकल करने में आनन्द आता है। वे धार्मिक प्रार्थना तथा भजन आदि तोते की तरह रट लेते हैं। उनके लिए ईश्वर एक विशेष प्रकार का आदमी होता है जिसकी बड़ी-लम्बी दाढ़ी होती है, वह बड़ी राजसी पोशाक पहिनता है और ऊपर स्वर्ग में रहता है इत्यादि। वह मनुष्य की प्रत्येक इच्छा को पूरा करता है। इस *अवस्था में धर्म के विषय में बालक में भय, विस्मय और श्रद्धा की भावना* रहती है। प्रारम्भ में बच्चों के परिवार के लोगों द्वारा स्वर्ग और देवी-देवताओं के विषय में चमत्कारपूर्ण बातें बताई जाती हैं और इन बातों में धार्मिक विचारों की स्पष्ट छाप रहती है। अनुभव और ज्ञान की कमी के कारण वे इन पर विश्वास कर लेते हैं। बालक यह भी विश्वास करता है कि ईश्वर माता-पिता की भाँति कार्य करता है। ६ वर्ष की अवस्था से ११-१२ वर्ष की अवस्था के बीच बालक ईश्वर को यथार्थ रूप में देखने लगता है। वह धार्मिक शिक्षा और पूजा-पाठ में रुचि लेने लगता है। साथ ही वह अपने ईश्वर के प्रतीकों को अपने पास रखने लगता है जैसे हिन्दू बालक गीता को, ईसाई बालक सूली (क्रास) को। वह अंध विश्वास के रूप में धर्म में आस्था रखता हैं।

किशोरावस्था के धार्मिक दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन हो जाता है। किशोर ईश्वर को एक जीवित प्राणी समझने लगता है। वह धार्मिक विश्वासों की बड़ी बारीकी से छानबीन करता है। वह धर्म के प्रति शंकालु भी हो जाता है। उसमें धार्मिक कट्टरता भी आ जाती है और साथ ही धार्मिक सहिष्णुता भी। कभी-कभी वह अनीश्वरवादी भी हो जाता है। आयु बढ़ने के साथ-साथ उसमें धार्मिक परिपक्वता आने लगती है।

(१०) शाला के प्रति रुचियां. जब बालक प्राथमिक विद्यालय में पढ़ता है तब वह अपने विद्यालय तथा शिक्षक के प्रति अधिक श्रद्धा और रुचि दिखलाता है। यहां तक कि वह शाला की प्रत्येक वस्तु के प्रति गहरी रुचि दर्शाता है। शिक्षा को अपना आदर्श मानकर उसके आदर्शों की नकल करने की चेष्टा करता है। शाला के नियम और अनुशासन के प्रति वह रुचि का प्रदर्शन करता है। ज्यों-ज्यों वह ऊंची कक्षा में पहुंचता है त्यों-त्यो उसमें अपने प्यारे विद्यालय तथा शिक्षकों के प्रति रुचि कम हो जाती है। यहां तक कि वह उनकी आलोचना करने लगता है। पाठ्येतर क्रियाओं में अधिक दिलचस्पी लेने लगता है। जैसे—खेल-कूद, नाटक, व्यायाम और साहित्यिक कार्यक्रम आदि में। अधिक दंड देने वाले शिक्षकों

के प्रति वह अनादर का भाव रखता है। छोटी कक्षा के बालक सामान्यतया भाषा-गणित, स्वास्थ्य विज्ञान आदि में अधिक रुचि दर्शाते हैं और लड़कियां सामान्य गणित व विज्ञान के प्रति। साथ ही साथ भाषा के प्रति भी। किशोरावस्था में किशोर आदर्श शिक्षक के प्रति रुचि दर्शाते हैं।

(११) **सामाजिक रुचियां.** सामाजिक रुचियों का विकास बालकों में अन्य रुचियों के साथ-साथ होता है। यह देखा जाता है कि डेढ़ वर्ष के शिशु को यदि अकेला छोड़ दिया जाता है तो वह बड़ा जिद्दी होता है। २ या ३ वर्ष का शिशु सम्वय शिशुओं के साथ मिलकर खेलना पसंद करता है। ५-६ वर्ष की अवस्था में मेले-ठेले, समारोह और उत्सवों में जाना पसंद करता है। ८-१० वर्ष का शिशु समाज और गिरोह में जाकर वहाँ के आदर्शों को ग्रहण करता है और टोली के लिए सब कुछ निछावर करने के लिए तैयार रहता है। त्यौहारों के अवसर पर अपने घरों को सजाने और संवारने में उसे बड़ा आनन्द आता है। नवकिशोरों को अपने मित्रों से बातचीत करने, गपशप लड़ाने, खेलने-कूदने आदि में मजा आता है।

(१२) **व्यावसायिक रुचियां.** शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में बालकों की व्यवसायिक रुचियों का पता नहीं लग पाता क्योंकि वे अवस्थायें उनके खाने-खेलने की रहती हैं। दूसरे उन्हें जीवन की विभिन्न समस्याओं की जानकारी भी नहीं होती। १२वें तथा १३वें वर्ष के आरम्भ में बच्चों में व्यावसायिक रुचियों के कुछ संकेत मिलने लगते हैं। बच्चों की व्यावसायिक रुचि के विकास में माता-पिता के व्यवसायों का प्रभाव पड़ता है। जैसे—सुनार का बालक सुनारी के प्रति अधिक रुचि प्रदर्शित करता है। भारतीय बच्चों के व्यावसायिक चुनाव में शिथिलता और उदासीनता दिखाई पड़ती है। हरलाक के अनुसार विभिन्न व्यवसायों के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल अभिवृत्तियाँ शायद सभी की बाल्यावस्था में बन जाती हैं। भारत में माता-पिता, शिक्षक तथा मित्रों की सलाह पर अधिकांश बालक व्यवसायों का चुनाव करते हैं। जीवन के प्रति रुचि पूर्व किशोरावस्था में जोर पकड़ने लगती है और इस समय तड़क-भड़क वाले व्यवसाय चुनने की इच्छा हो जाती है, पर किशोरावस्था में ऊंची प्रतिष्ठा वाले व्यवसाय चुनने की इच्छा जागृत हो जाती है और किशोरों में व्यावसायिक रुचियों के प्रति अधिक स्थिरता आ जाती है।

मानसिक विकास और शिक्षा-व्यवस्था

शैशवावस्था में मानसिक विकास के लिए शिशुओं की स्वाभाविक क्रियाओं और स्वतंत्रता में बाधा नहीं डालना चाहिये। उनकी आत्माभिव्यक्ति के लिए मातृभाषा

का प्रयोग करना चाहिए और साथ ही कल्पना के विकास के लिए छोटी-छोटी कविताएं और भजन कंठस्थ कराना चाहिये। उनके सामने कौतूहल का वातावरण उपस्थित करना चाहिये ताकि उनमें आरम्भ ही से अन्वेषण शक्ति की नींव पड़ सके। उन्हें विभिन्न वस्तुओं को देखने, सुनने, छूने और सूंघने आदि के अनेक अवसर प्रदान करने चाहिये। रचनात्मक प्रवृत्ति का सदुपयोग रचनात्मक कार्यों में बच्चों को लगाकर करना चाहिए।

बाल्यावस्था में संचय प्रवृत्ति का सदुपयोग अच्छी वस्तुओं के संग्रह द्वारा कराना चाहिए। बालक को छोटा-मोटा संग्रहालय बनाने का प्रोत्साहन देना चाहिए। आत्मप्रदर्शन की पुष्टि के लिए बालक को नाटक, वाद-विवाद और अन्य उत्सवों में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिये ताकि उसकी चिन्तना, तर्कना शक्ति का भर-पूर विकास हो सके।

किशोरावस्था में मानसिक शक्तियों का अच्छा विकास होता है, जिसके फलस्वरूप किशोर में निरीक्षण शक्ति तीव्र हो जाती है अस्तु इस शक्ति को अधिक प्रखर और पैनी करने के लिए किशोरों को प्रकृति निरीक्षण, अजायबघर, शैक्षिक यात्राओं और ऐतिहासिक स्थानों के परिभ्रमण के लिए अधिक अवसर प्रदान करने चाहिये। इस अवस्था में बुद्धि का अधिकतम विकास हो जाता है। इसलिए बौद्धिक शक्तियों को विकसित और पुष्पित करने के लिए किशोरों को सूक्ष्म विचारों से परिपूर्ण ग्रंथों का अध्ययन और अवलोकन कराना चाहिए। शालाओं को चाहिए कि वे विद्यार्थियों को विश्व के मुख्य-मुख्य विषयों और विचारों को स्वतंत्रता से सोचने का अवसर प्रदान करें। इस अवस्था में थार्नडाइक और माइल्स के कथनानुसार सीखने की शक्ति भी अपनी चरमावस्था में पहुंचने लगती है। अतः भिन्न-भिन्न विषयों को सोचने, समझने और सीखने का समय-समय पर बालकों को अवसर मिलते रहना चाहिये। कल्पना के संसार में बच्चे स्नेह और बड़ों की स्वीकृति को स्थान देते हैं। इन सबका सदुपयोग करने के लिए बालकों को कहानी, निबन्ध लिखने और कविता रचने और चित्र बनाने के कार्यों में लगाना चाहिए।

किशोर में आत्म प्रकाशन की प्रवृत्ति बहुत प्रबल रहती है, दूसरे वह बिल्कुल स्वतंत्र रहना चाहता है अतः माता-पिता तथा शिक्षक को चाहिए कि वे उचित स्वतंत्रता प्रदान करें। किशोरों में भिन्न-भिन्न रुचियां होती हैं इसलिए उनकी विभिन्न रुचियों की संतुष्टि के लिए साहित्य के विभिन्न अंगों तथा ललित कलाओं की सामग्री प्रस्तुत करना चाहिए और उनके रुचि के खेलों, मनोरंजन और व्यवसायों की व्यवस्था करना चाहिए। इस अवस्था में किशोर तार्किक स्मृति से काम लेते

हैं। भाषा का अच्छा विकास हो जाता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों को समझने की उनमें कुछ योग्यता आ जाती है। किशोर काफी तर्क-वितर्क करता है। वाद-विवाद और परि-प्रश्न में प्रोत्साहन देकर किशोरों की तर्कना और विवेचना-शक्ति का विस्तार करना चाहिये। इस अवस्था में किशोर की मानसिक स्थिति अस्थिर और डाँवाडोल रहती है। उसका बौद्धिक स्तर ऊंचा उठ जाने पर वह बच्चों और प्रौढ़ों के बीच समायोजन नहीं कर पाता। इसके लिए उसके साथ सहानुभूति और आदर का व्यवहार करना चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. बुद्धि किसे कहते हैं ?

२. बुद्धि सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए और कारण सहित स्पष्ट कीजिए कि आप उनमें से किन सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं।

३. बौद्धिक विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों का निरूपण कीजिए।

४. शैशवावस्था से लेकर किशोरावस्था तक व्यक्ति का मानसिक विकास किस रूप में होता है ? सविस्तार स्पष्ट कीजिए।

५. बालक के मानसिक विकास के अंतर्गत विभिन्न अवस्थाओं में संवेदन, प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रत्यय, अवधान, स्मृति, कल्पना, चिन्तना और तर्कना शक्ति के विकास का वर्णन कीजिए।

६. विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रुचियों के विकास की सविस्तार विवेचना कीजिए।

७. विभिन्न अवस्थाओं में खेलों के विकास पर प्रकाश डालिए।

८. बाल्यावस्था अथवा पूर्व किशोरावस्था की मानसिक विशेषताओं का उल्लेख करते हुये शिक्षक का इनके प्रति उत्तरदायित्व निर्धारित कीजिए।

९. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये :—

बुद्धिलब्धि, मानसिक आयु, बुद्धि मापन।

अध्याय ८

संवेगात्मक विकास

संवेग क्या है ?

प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु या स्थिति के सम्बन्ध में हमारे मन में किसी न किसी प्रकार का भाव हुआ करता है। जैसे किसी व्यक्ति, वस्तु या स्थिति को देख कर हम सुखी, दुःखी या उदासीन हो सकते हैं। ऐसा देखा गया है कि मानसिक व्यापार तीन रूपों में दिखाई देता है। जैसे ज्ञानात्मक, भावात्मक इच्छात्मक व क्रियात्मक।

उदाहरणार्थ—हमें बहुत दिनों के बाद हमारे मित्र का तार मिलता है जिसमें उसके पास होने का उल्लेख रहता है। मित्र के तार मिलने तथा उसमें लिखी बात समझने के पहलू को हम ज्ञान कहते हैं। पास होने का समाचार पढ़कर हमारे मन में खुशी का भाव उत्पन्न होता है। इस पहलू को हम संवेदन (संवेग) कहते हैं। तार पाकर हमारे मन में यह इच्छा उत्पन्न होती है कि हम अपने मित्र को बधाई दें। इसके लिए हमें इच्छा के साथ कुछ क्रिया करनी पड़ती है। हम डाकखाने जाकर वहाँ से पत्र या तार लाकर अपने मित्र को बधाई का पत्र या तार भेजते हैं। इस पहलू को हम वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार मानसिक व्यापार के तीन रूप ज्ञान, संवेदना और कृति होते हैं। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि विशेष परिस्थितियों में विशेष व्यक्तियों या वस्तुओं के प्रति हमारे भाव प्रबल रूप धारण कर लेते हैं। यही उद्वेलित या उत्तेजित भाव संवेग का रूप ले लेता है। इसलिए वुडवर्थ के कथनानुसार संवेग व्यक्ति की उत्तेजित अवस्था को कहा जाता है। परन्तु सभी संवेगों में भाव उत्तेजित नहीं होते। जैसे चांदनी रात में चन्द्रमा की शोभा देखकर हमारे मन में शान्ति व सन्तोषादि के भाव जागरित होते हैं। इसलिये संवेग को उत्तेजित मनोदशा कहना सर्वथा ठीक नहीं है। इसी कारण से हरलाक ने संवेग को इन शब्दों में चित्रित किया है।

उनका कथन है कि संवेग एक व्यापक शब्द है जिसमें उत्तेजित मनोदशाएँ एवं शान्तिमय मन-बहलाव या सन्तुष्टि दोनों सम्मिलित हैं।

संवेगों की विशेषताएँ

(१) संवेगों के साथ शारीरिक परिवर्तन होते हैं। जैसे क्रोध का संवेग आने पर व्यक्ति का चेहरा तमतमा जाता है, आंखें लाल हो जाती हैं और ओंठ व नथुने फड़कने लगते हैं।

(१) इनमें व्यापकता रहती है। ये प्राणिमात्र में पाये जाते हैं। ये मानसिक जीवन के सभी स्तरों में पाये जाते हैं। बालक, अस्थिर मन वाले तथा अशिक्षित व्यक्तियों में ये प्रबल एवं तीव्र रूप में प्रगट होते हैं, और चिन्तनशील व्यक्तियों में ये कुछ नियन्त्रित रूप में रहते हैं। शिशु बिल्ली से, बिल्ली कुत्ते से और सन्त ईश्वर से डरते हैं, पर डरते सब हैं।

(३) संवेगों का मूल प्रवृत्तियों से घना सम्बन्ध रहता है। जैसे जंगल में शेर को देखकर भय का संवेग उत्पन्न होता है और उसी के साथ-साथ भागने की प्रवृत्ति जागृत होती है। बालक का कान गरमाने से उसके आत्म-गौरव प्रवृत्ति को ठेस पहुँचती है और उसे क्रोध आ जाता है।

(४) ये वैयक्तिक हुआ करते हैं। ये सदैव व्यक्ति के मनोभावों तथा संवेदनात्मक स्थिति पर निर्भर रहते हैं।

(५) संवेगों का शीघ्र स्थानान्तरण भी हो जाता है। जैसे खिसियाई बिल्ली खम्भा नोंचने लगती है। पति-पत्नी के झगड़े में पत्नी अपना गुस्सा बर्तनों पर उतारती है।

(६) ये बार-बार प्रकट होते हैं। इनमें तीव्रता के क्रम का अभाव पाया जाता है। दूसरे, ये भिन्न-भिन्न स्थितियों में प्रकट होते हैं। हस्तक्षेप अथवा रुकावट से क्रोध उत्पन्न होता है और अचानक घटना से डर पैदा होता है।

(७) संवेग के वश होकर प्राणी ऐसी बात कह और काम कर डालता है कि बाद में उसे पछताना पड़ता है।

(८) ये समाप्त होकर भी मन में एक भाव-वृत्ति छोड़ जाते हैं अर्थात् उनका कुछ न कुछ प्रभाव रहता ही है। जैसे भय के मिट जाने पर भी दिल धड़का करता है।

(९) संवेगों के सामने चिन्तन, विचार, ज्ञान और तर्क पानी भरते हैं। कभी-कभी वे विवेक, बुद्धि और तर्क को भी पछाड़ देते हैं। जैसे क्रोध के

आवेश में प्राणी की मानसिक, शारीरिक तथा सोचने की शक्ति शिथिल पड़ जाती हैं। वे मानव जीवन में त्याग, तपस्या, और बलिदान की भव्य भावनाओं के भरने को भी क्षमता रखते हैं।

(१०) ये सभी दशा और अवस्था में प्रकट होते हैं। ये जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं। इनमें चिपकाऊपन रहता है।

(११) उद्वेलित तथा समाप्त होने पर भी वे व्यक्ति के मन में जोंक की तरह चिपके रहते हैं। बाद में भले ही वे पीछा छोड़ दें।

(१२) उनमें झक्कीपन भी रहता है। अर्थात् उनमें उभयवादिता रहती है। बालक एक मिनिट में हर्ष से फूला नहीं समाता और दूसरे मिनिट में सारे दुःख के सुकुड़-दुम हो जाता है। इसी प्रकार सुख दुःख में और दुखः सुख में बदल जाया करता है। इस प्रकार वे गिरगिट की तरह रंग बदला करते हैं।

(१३) संवेगों के अधिक बढ़ जाने से प्रवृत्तियों का दमन हो जाता है।

जेम्स-लैङ्ग का संवेग का सिद्धान्त

अमेरिका के विलियम जेम्स और डेन्मार्क के कार्ल लैङ्ग ने संवेगों के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो कि जेम्स-लैङ्ग सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक संवेगों की उत्पत्ति शारीरिक क्रियाओं से मानते हैं।

उनका कथन है कि शेर को देखकर हमारा शरीर कांपने लगता है जिससे भय की उत्पत्ति होती है। आगे चलकर उनका कहना है कि यदि शेर को देखकर शारीरिक परिवर्तन न हो तो भय पैदा न होगा। परन्तु इस सिद्धान्त के आलोचकों का कथन है कि शारीरिक कारणों से संवेगों की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि शारीरिक परिवर्तन और भाव सम्बन्धी परिवर्तन दोनों से संवेग की उत्पत्ति होती है। नाटक के पात्र अपनी वाहरी चेष्टाओं द्वारा दर्शकों के मन में संवेग उत्पन्न कर देते हैं, पर स्वयं उनसे प्रभावित नहीं होते।

गैसेल का सिद्धान्त

गैसेल के अनुसार संवेगात्मक विकास परिपक्वीकरण और सीखने की प्रक्रिया पर आधारित रहता है। उसका मत है कि संवेगों को परिपक्वीकरण सम्बन्धी प्रभाव के कारण पूर्ण रूप से जाना जा सकता है। चूंकि परिपक्वीकरण बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास को जानने के लिये आवश्यक तत्व समझा जाता है इसलिये वह संवेगात्मक विकास को जानने के लिए प्रमुख

कुंजी का काम करता है। वह वालक की ऊँचाई, वजन, वल और गामक संयोजन को भी प्रभावित करता है जैसे-जैसे वालक की आयु वढ़ती है वैसे-वैसे एक ढंग का संवेगात्मक विकास होता है।

संवेगों का वर्गीकरण

मैकडूगल के कथनानुसार मूल प्रवृत्तियों के प्रेरक के रूप में १४ मुख्य उद्वेग माने गये हैं। साधारण दृष्टि से संवेग तीन प्रकार के माने जाते हैं—मृदु व मन्द, तीव्र व उग्र और विदारी। मात्रा के अनुसार इन संवेगों की उत्पत्ति होती रहती है। स्वाभाविक विकास की दृष्टि से वे पांच प्रकार के माने जाते हैं।

(१) **वैयक्तिक संवेग**. ये व्यक्ति के आस-पास अभिकेन्द्रित होते हैं, जैसे—भय, क्रोध, लज्जा इत्यादि।

(२) **सामाजिक संवेग**. चूंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिये उसमें सामाजिक संवेगों का उद्रेक होता है जिनमें समाज कल्याण की भावना प्रधान रहती है, जैसे—मित्रता, सहानुभूति, कुटुम्ब, प्रेम इत्यादि।

(३) **ज्ञानात्मक संवेग**. इनका मुख्य आधार सत्य की खोज रहता है, जैसे—विद्यानुराग, आश्चर्य, ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा, इत्यादि।

(४) **सौन्दर्यात्मक संवेग**. इनमें सत्यं शिवं सुन्दरम् की प्रधानता रहती है, जैसे—सौन्दर्यानुराग, कला या संगीत-प्रेम, प्रशंसा, रसानुभूति इत्यादि।

(५) **नैतिक संवेग**: ये सवेग नैतिकता से उद्वेलित होते हैं, जैसे—कर्त्तव्य परायणता, करुणा, दया-प्रेम इत्यादि।

डा० भगवान दास ने मुख्य दो संवेग माने हैं—एक राग और दूसरा द्वेप।

अवांछनीय संवेगों के निराकरण करने के उपाय एवं विधियां

वैसे तो हितकर संवेगों के निराकरण करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, परन्तु अवांछनीय संवेगों का निराकरण करना माता-पिता, अभिभावक तथा शिक्षक के लिए परम आवश्यक है। ऐसा करने से वालकों के सुन्दर व्यक्तित्व का विकास होता है और वे आगे चलकर अपना, समाज तथा देश का कल्याण कर सकते हैं। निम्नलिखित तरीकों व विधियों से अवांछनीय संवेगों का निराकरण किया जा सकता है :—

(१) **विरोध**: यह दो प्रकार से सम्भव है। एक विरोध द्वारा और दूसरे निरोध द्वारा। अवांछनीय संवेगों को उत्तेजित होने का अवसर न देना ही विरोध कहलाता है। विरोध में यदि एक अवांछनीय संवेग काम कर रहा हो तो उसी समय उसके प्रतिफल हितकर संवेग को उभाड़कर काम किया जा सकता

है। यदि बालक के मन में द्वेष उद्वेलित हो रहा है तो उसके स्थान पर प्रतियोगिता की भावना भर देने से बुरा संवेग खतम हो सकता है।

(२) **अवदमन.** किसी भी अवांछनीय वेग को पुरस्कार द्वारा सबल और दण्ड द्वारा निर्बल बनाया जा सकता है। यदि कोई बालक अकारण भय खाता है तो उसके भय को दूर करने के लिए सबके सामने उसे लज्जित करना और हंसी उड़ाने से कभी-कभी वह अकारण डरना छोड़ देता है। परन्तु यह उपाय सर्वदा कारगर नहीं होता। बल्कि ऐसा करने से वह और जोरों से डरने लगता है और उसमें हीनता के भाव आने की सम्भावना हो जाती है।

(३) **मार्गान्तीकरण.** इस विधि में संवेगों के प्रवाह की दिशा बदल दी जाती है। अनुचित संवेगों को उचित मार्गों की ओर मोड़ दिया जाता है ताकि भावना ग्रन्थियां बनकर मानसिक विकास को अवरुद्ध न कर सकें। जैसे अपने भाई-बन्दों के प्रति उत्पन्न होने वाले क्रोध को अन्यायियों के प्रति प्रवाहित किया जाता और जा सकता है।

(४) **शोधन.** शोधन से संवेगों पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। कामुकता के संवेग को ईश्वर प्रेम में परिवर्तित किया जा सकता है। जैसे तुलसी दास की कामुकता ईश्वर प्रेम में परिणत हो गई।

(५) **अध्यवसाय.** अवांछनीय संवेगों को काबू में रखने का एक अच्छा उपाय अध्यवसाय का है। सदा बौद्धिक कार्यों में लगे रहना तथा अवांछनीय संवेगों को उत्पन्न होने का समय ही न देने से बुरे संवेगों की प्रबलता कम हो जाती है। स्वामी दयानन्द के कथनानुसार कामुकता को वश में करने का एक उत्तम उपाय बौद्धिक कार्यों में सदा लगे रहना है।

(६) **रेचन.** कभी-कभी यह देखा जाता है कि कभी-कभी दबे या दबाये हुए संवेग अवसर पाकर अगाड़ी-पिछाड़ी छुड़ाकर उमड़ पड़ते हैं। इसलिए उनको सर्वथा निर्मूल करना असम्भव बात हो जाती है। अतः उनकी भड़ास निकालने का समय-समय पर अवसर देना ही रेचन कहलाता है। ऐसा न करने से अनुचित संवेगों का ज्वार-भाटा आकर व्यक्तित्व को बिगाड़ बैठता है। इसलिये होली के त्यौहार में इन अनुचित संवेगों की भड़ास निकालने का अवसर दिया जाता है। हास-परिहास को पूरा अवसर मिलना उचित है। इसी कारण संसार के प्रायः सभी देशों में मूर्ख दिवस मनाने की प्रथा पाई जाती है।

(७) **सामाजिक उत्तेजना विधि.** प्रत्यक्ष उदाहरण विधि—जैसे कोई बालक अंधेरे कमरे में जाने से डरता है। यदि उसकी आयु के बच्चे तथा प्रौढ़ लोग

उसके साथ कमरे में उपस्थित रहें तो इस सामाजिक उत्तेजना से डर छूटने की सम्भावना रहती है।

(८) **प्रत्यक्ष सम्बन्ध विधि.** इस विधि में हानिकर संवेगों का सम्वन्ध-साहचर्य किसी ऐसी वस्तु से कर दिया जाता है जो उसे बहुत प्रिय होती है। मान लीजिये कोई अंधेरी कोठरी में जाने से भय खाता है तो उसका भय दूर करने का एक सरल उपाय यह हो सकता है कि उस कमरे में उसकी प्रिय वस्तु लड्डुओं से भरी थाली रख दी जाय और उसे अकेले उन लड्डुओं को लाने के लिए कहा जाय। यदि यह बात बार-बार दुहराई गई तो उसके डर दूर होने की सम्भावना हो सकती है। कारण कि उसका ध्यान लड्डू में लगा रहेगा और वह कल्पित भूत की बात भूल जावेगा।

(९) **निषेधात्मक अभियोजन विधि.** यह विधि दो तरीकों से काम में लाई जाती है। पहले तरीके में अंधेरे से डरने वाले बालक को अकेले छोड़ दिया जाय और वहां उसका कोई सहायक न रखा जाय, तो कुछ दिनों में उसकी स्वयं हिम्मत बंध जावेगी और उसका भय समाप्त हो जावेगा। इसका उल्टा परिणाम भी हो सकता है। कारण कि बालक कभी-कभी उस समय तक डरते हैं जब तक वे समझते हैं कि उनका कोई सहायक है। इसलिये डर छुड़ाने का सुन्दर तरीका उसका सहारा हटा देना है। दूसरी विधि में बालक जिस प्राणी या वस्तु से डरता है उसे बार-बार उसके सामने लाया जाय। ऐसा करने से वह उस प्राणी या वस्तु से बहुत परिचित हो जाता है और उसका भय चला जाता है।

(१०) **मौखिक अपील विधि :** कभी-कभी मौखिक अपील करने से अनुचि संवेग भय दूर हो जाता है। बालक जिस वस्तु से डरता है, उसके सम्बन्ध की कहा-नियां सुनाकर उसके डर को खतम किया जा सकता है।

(११) **अनाभ्यास निराकरण विधि.** बालक जिस वस्तु से डरता है, उसे कई दिनों के लिए उसके सामने से हटा दिया जाता है या अलग कर दी जाती है तो इससे डर दूर हो जाता है। इस विधि में अनाभ्यास के साथ परिस्थिति में परि-वर्तन करने से भी भय को वश में किया जा सकता है।

(१२) **ध्यान-भंग विधि.** इस विधि में बालक जिस वस्तु से डरता है उस वस्तु के समक्ष कई उत्तेजनाएँ उपस्थित करने से उसका ध्यान बंट जावेगा और इस प्रकार यह बात दुहराने से डर छूटने की अधिक सम्भावना हो जावेगी।

संवेगों को नियन्त्रण करने तथा संवेगात्मक सन्तुलन और स्थिरता लाने के उपाय

संवेगों के नियन्त्रण एवं संवेगात्मक स्थिरता लाने के लिए माता-पिता, अभि-

भावक और शिक्षक बहुत बड़ा योगदान दे सकते हैं। वैसे तो बालकों को संवेगों को वश में करने तथा संवेगात्मक स्थिरता लाने के लिए स्वयं प्रयास करना पड़ता है। अवांछनीय संवेगों के नियन्त्रण के अभाव में संवेगात्मक अस्थिरता देखने में आती है। व्यक्तित्व विकास का गला रुंध जाता है। बालकों के संवेगात्मक जीवन पर बुरा असर पड़ता है। इसके अतिरिक्त इसके अभाव से असामाजिक तत्व बढ़ जाने की आशंका हो जाती है जिससे सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। अतः संवेगात्मक स्थिरता और नियन्त्रण के लिए निम्नलिखित उपाय ध्यान देने योग्य हैं।

(१) **सुरक्षित गृह-जीवन.** ऐसा देखा गया है कि बच्चे प्यार और अपने महत्व के भूखे रहा करते हैं। यदि गृह-जीवन में इन दोनों की सन्तुष्टि और प्राप्ति न हुई तो उनमें कुव्यवस्था आ जाती है, वे मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं और आकुशलता, चिन्ता, हीनता, और निराशा के शिकार हो जाते हैं। इसलिये समुचित संवेगात्मक विकास के लिए सुरक्षित गृह जीवन की आवश्यकता है।

(२) **स्वप्रकाशन की सुविधाएँ.** जिन बालकों को अपने मित्र या साथी चुनने, कपड़ों, वेश-भूषा व खिलौनों को पसन्द करने तथा घर के कामों में हाथ बंटाने की काफी सुविधाएं रहती हैं, उनके कार्यों में नियन्त्रण की कड़ी लगाम नहीं लगाई जाती तो उनका संवेगात्मक विकास उचित रूप में होता है।

(३) **स्वास्थ्य.** संवेगात्मक नियन्त्रण तथा स्थिरता के लिए बालकों के स्वास्थ्य का अच्छा रहना जरूरी होता है, कारण कि शरीर के स्वस्थ रहने से मन भी स्वस्थ रहता है। अतः वे काम, क्रोध, भयादि अनुचित संवेगों के इतने जल्दी शिकार नहीं बनने पाते। इस प्रकार संवेगात्मक स्थिरता के लिए शारीरिक स्वास्थ्य का अच्छा रहना बहुत आवश्यक है।

(४) **सामाजिक सुविधाएं.** जब बालकों में सामाजिकता का उन्मेष होता है तो वे सामाजिक जीवन व्यतीत करना ज्यादा पसन्द करने लगते हैं। वे समाज की पसन्दगी के अनुसार संवेगों का प्रदर्शन एवं प्रकाशन करने लगते हैं। अतः सामाजिक खेल-कूदों, कार्यक्रमों और उत्सवादि में भाग लेने से बच्चों में संवेगात्मक सन्तुलन का उद्रेक हो सकता है।

(५) **उत्तेजक परिस्थितियों का ज्ञान.** यदि बालकों को, जिस परिस्थिति अथवा उत्तेजना से काम, क्रोध, भय, लज्जा, दुःखादि भाव उत्पन्न होते हैं, उसका वास्तविक रूप से ज्ञान करा दिया जाता है तो वे अहितकर संवेगों के शिकार नहीं बनने पाते। इसके फलस्वरूप उनमें संवेगात्मक संतुलन की भावना आ जाती है।

(६) **संवेगात्मक परिस्थितियों का नियन्त्रण.** यह बात अक्सर देखी गई है

कि बच्चों के कोमल मन पर संवेगात्मक घटनाओं का प्रभाव अति शीघ्र और अधिक पड़ता है। माता-पिता की आपसी लड़ाई, कुटुम्ब की कलह, भाई-बहिनों का पारस्परिक संघर्ष उनको बहुत जल्दी और बुरी तरह बेचैन कर देता है। वे भी देखा-देखी भय, चिन्तादि, अवांछनीय संवेगों का प्रदर्शन करने लग जाते हैं। अतः उनके संवेगात्मक सन्तुलन एवं नियन्त्रण के लिए उत्तेजनापूर्ण संवेगात्मक परिस्थितियों अथवा घटनाओं से बचाना उन्हें जरूरी है ताकि उनमें क्रोध, भय, चिन्तादि के अंकुर न जमने पावें।

(७) **पर्याप्त उपयुक्त उपकरण.** जिन बच्चों को जीवन की सभी प्रकार की आवश्यक सामग्रियां सुलभ रहती हैं, उनमें अवांछनीय संवेगों से उमड़ने की नौबत नहीं आती। जिन बालकों को पेट भर भोजन, आवश्यक कपड़े-लत्ते, पर्याप्त जेब खर्च, खेल-कूद के साधन, पर्याप्त आराम और आर्थिक सुविधाएँ रहती हैं, उनमें संवेगात्मक असन्तुलन नहीं आने पाता और उनके संवेगों का प्रस्फुटन और प्रकाशन भी समुचित रूप से होता है।

संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले तत्व

(१) **शारीरिक.** केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के कतिपय केन्द्र संवेगात्मक व्यवहार को प्रभावित करते हैं, जैसे अधश्चेतन और प्रमस्तिकीय प्रान्तसथा, संवेगात्मक के समाकलन का कार्य करती है।

(२) **परिपक्वन.** जन्म ही से सभी संवेगों का उदय नहीं होता। शारीरिक क्षमताओं के परिपक्वन होने से संवेगों का उदय सम्भव होता है।

(३) **प्रशिक्षण.** प्रशिक्षण का संवेगात्मक विकास में प्रमुख हाथ रहता है। निश्चित परिपक्वन के पश्चात् ही बालक में सीखने की योग्यता आती है। वाटसन और मार्गन का कथन है सभी संवेगों का प्रशिक्षण सम्बद्धता के आधार पर सम्भव होता है।

(४) **अनुभूति.** अनुभव के आधार पर व्यक्ति अपनी प्रतिक्रियायें प्रकट करता है। जैसे शुरू-शुरू में सांप को देखकर बच्चे के मन में भय का भाव नहीं उत्पन्न होता परन्तु वयस्कों द्वारा सांप की भयंकरता को जानते हुये या वयस्कों को सांप देखकर भागते हुये बच्चा भी उससे भय खाने लगता है।

(५) **अवस्था.** जन्म के समय नवजात शिशुओं में संवेगों का प्रस्फुटन नहीं देखा जाता। परन्तु ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है त्यों-त्यों अनेक संवेगों का व्यक्तिकरण होता है।

(६) **साहचर्य.** वातावरण के साथ सम्पर्क स्थापित करने पर अनेक

अनुक्रियायें सुखद और दुखद दोनों होती हैं। जीवन के अन्य पहलुओं तथा घटनाओं से संवेगों का ताना वाना बुना रहता है। अतः संवेग से युक्त एक घटना दूसरे संवेग से युक्त घटना का स्मरण करता है।

(७) **स्मृति.** स्मृति का भी संवेगों के विकास में योगदान रहता है। जब व्यक्ति को पुरानी घटना याद आ जाती है तो उससे जुड़े हुये संवेग भी उभर आते हैं।

(८) **मूल प्रवृत्ति.** मूल प्रवृत्ति का सम्बन्ध किसी न किसी संवेग से जुड़ा रहता है। जैसे शेर को देखकर भागना यह मूल प्रवृत्ति है और इस भागने के साथ भय का संवेग जुड़ा रहता है।

(९) **माता-पिता की अनभिज्ञता.** माता-पिता की अनभिज्ञता, डांट-फटकार और दण्ड आदि के कारण बालकों में अवांछिक संवगों का विकास होता है।

(१०) **भाषा विकास.** जब तक बालक की भाषा का क्रमिक विकास नहीं होता तब तक उसकी संवगात्मक प्रतिक्रियाओं का विकास भी नहीं होने पाता। बालक विकसित भाषा के माध्यम से ही विभिन्न प्रकार के विकसित हाव-भाव तथा संवेगों को व्यक्त कर सकता है।

विभिन्न आवश्यकताओं में संवेगात्मक विकास

शैशवावस्था. कुछ मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि संवेगों का विकास शिशु के जन्म ही से प्रारम्भ हो जाता है। फ्रायड का कथन है कि गर्भस्थ शिशु भी सुख-दुःख का अनुभव करता है। ओटो रेंक का विचार है कि जन्म के समय शिशु चिन्ता और घबराहट का तीव्र अनुभव करता है और यह अनुभव आगे आने वाले जीवन में चिन्ता का आधार बन जाता है। सुसेन आइजेक (१९३६) का कहना है कि प्रारम्भ ही से नवजात शिशु में भय, क्रोध, स्नेह और ईर्ष्या-द्वेष के संवेग पाये जाते हैं। वाटसन की धारणा है कि नवजात शिशु भय-क्रोध और स्नेह इन तीन संवेगों का शुरू से अनुभव करता है। इन मनोवैज्ञानिकों के कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये कुछ मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षण और प्रयोग किये। शर्मन का अपने परीक्षण के आधार पर यह कथन है कि नवजात शिशु सामान्य प्रकार के केवल २ संवेगों सुख और दुख का अनुभव करता है। ब्रिजेज का मत है कि नवजात शिशु के संवेग सामान्य उत्तेजना के रूप में रहते हैं। ६ महीने की अवस्था में ही संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को पहिचाना जा सकता है। उस समय शिशु दो संवेग सुख और दुःख का अनुभव करता है, मुस्कुराहट और कूजना हर्ष के चिन्ह हैं और रोना माँस-पेशी, तनाव व दुख के

लक्षण हैं। प्रट का स्पष्ट मत है कि क्रोध, भय और स्नेह नवजात शिशु में नहीं पाये जाते। शिशु में संवेगात्मक उत्तेजना मात्र रहती है जो कि आगे चलकर आयु की वृद्धि पर स्पष्ट संवेगों का रूप धारण कर लेती है। हरलाक का भी इस मत की पुष्टि में यह कथन है कि नवजात शिशु की क्रियाओं में समन्वय का अभाव पाया जाता है। इसलिए जन्म के समय उसकी संवेगात्मक अवस्थाएं इतनी स्पष्ट नहीं होतीं कि उन्हें विशिष्ट संवेगों के रूप में तुरन्त पहिचाना जा सके। हां नवजात शिशु के संवेगात्मक विकास में इतना जरूर कहा जा सकता है कि उसमें प्रिय और अप्रिय दो प्रकार की अनुक्रियायें होती हैं।

जन्म के समय संवेग पूरी तरह अविकसित या अविविक्त रूपों में दिखाई पड़ते हैं, परन्तु परिपक्वन तथा सीखने की प्रक्रिया द्वारा आयु वृद्धि के साथ-साथ वे स्पष्ट, विविक्त और विकसित होते जाते हैं। वत्सावस्था में संवेगात्मक उत्तेजनायें धीरे-धीरे क्रोध, भय, घृणा, जिज्ञासा, हर्ष और स्नेह आदि संवेगों में विकसित होने लगती हैं। वत्सावस्था में प्रकट संवेगों की व्यवहार अनुक्रियायें उनके उद्दीपनों से अधिक होती हैं। यद्यपि वे क्षणिक होती हैं पर उनमें तीव्रता अधिक होती है और साथ ही साथ वे बार-बार प्रकट होती हैं।

क्रोध. बाल्यावस्था में क्रोध एक सामान्य संवेग माना जाता है। वत्स को यह बात बहुत जल्दी ज्ञात हो जाती है कि किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने तथा अपनी इच्छाओं को पूरी करने के लिए क्रोध जताना सबसे सरल तरीका है। मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में बाधा पड़ने से तथा उन पर विजय प्राप्त करने के लिये भी यह संवेग जाग जाता है। जैसे कोई बालक खेलना चाहता है और उसमें किसी प्रकार की रुकावट की जाती है तो वह झुंझला पड़ता है। कभी-कभी वह दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये तथा अपने को प्रकाश में लाने के लिये क्रोध का भाव प्रकट करता है। उसके अधिकारों पर किसी प्रकार का आक्षेप आने पर यह संवेग भड़क उठता है। कभी-कभी वह अपनी शक्ति का दूसरों के सामने प्रदर्शन करना और अपना हाथ दिखाना चाहता है। इसलिए वह दूसरों से भिड़कर अपना क्रोध व्यक्त करता है। उसकी इच्छाओं की पूर्ति न होने पर वह अपना मुंह फुलाने लगता है। शारीरिक क्षणिता, कष्ट, अस्वस्थता, अनिद्रा, पाचन क्रियाओं में खराबी, थकावट, घबराहट, चिन्ता और भूख से भी शिशु चिड़चिड़ाने लगता है। बड़ों के द्वारा यह करो या न करो का प्रतिबन्ध लगाने से क्रोध का संवेग उमड़ पड़ता है। डब्लू० आर० बेलर के अनुसार अधिक लाड़-प्यार से भी इसका जन्म होता है और चिढ़ाने से भी। पिकूनस (१९६९) के अनुसार ९ महीने की अवस्था में शिशु में उस दशा में क्रोध उत्पन्न होता है जबकि उसकी इच्छानुसार कोई कार्य नहीं कर पाता। गुडएनफ (१९३१)

१ वर्ष की आयु के शिशुओं में कपड़े पहिनाने, नहलवाने तथा शारीरिक असुविधायें होने के कारण क्रोध जागृत होता है। जीनस के अनुसार १६ महीने से लेकर ३ वर्ष की आयु तक के शिशुओं में अनेक परिस्थितियों के कारण क्रोध उत्पन्न होता है। जैसे उसका मुंह साफ करने, उसका खिलौने या प्रिय वस्तु छिन जाने, कमरे में अकेले छोड़ जाने, भाषा का पूर्ण विकास न होने और अपनी बात दूसरों को न समझा पाने आदि से क्रोध के भाव उठते हैं। २ वर्ष की आयु में क्रोध शारीरिक आदतें डालने तथा बड़े-बूढ़ों के साथ संघर्ष होने, खेल-कूद के स्थानों का अभाव होने से उत्पन्न होता है। ३ और ४ वर्ष की आयु में क्रोध के कारण मित्र-मण्डली के विचारों का मेल न खाना, सत्ता से संघर्ष मोल लेना इत्यादि। हरलाक के अनुसार ३-४ वर्ष की अवस्था में शिशुओं का मचलना पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है और बात-बात में बालक रूठने लगता है और शरीर को चोट पहुंचाकर बदला लेने का अधिक प्रयत्न करता है। ब्रजेजे के अनुसार ३ वर्ष में क्रोध का स्वरूप भिन्न प्रकार से प्रकट होता है। इस समय शिशु एक दूसरे के बाल नोचकर, वस्त्र खींचकर, बकोटकर और दांत से काटकर अपना क्रोध का भाव प्रकट करता है। ४-५ वर्ष के बालक क्रोध के प्रकाशन में अपनी ताकत अजमाते या उपयोग करते हैं, खिलौना जोर से पकड़ते हैं और सीधा आक्रमण करते हैं।

वत्स की क्रोध संवेग की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में करते हैं। जैसे—गाली बकना, हाथ-पैर कड़ा करना, नथुने फुलाना, चेहरा तमतमा जाना, ओंठ फड़कना, सिर धुनना, हाथ-पैर का अकड़ाना, फर्श पर लुड़कना-पुड़कना, रूठना, बकोटना, खूब मचलना, वस्तुओं को तोड़फोड़ करना, सिर फोड़ देना, सांस रोककर टन्ना जाना, हृदय या नाड़ी की धड़कन बढ़ जाना, हाथ में ली हुई वस्तुओं को फेंकना, निर्जीव वस्तुओं को लतियाना, बड़ी जोर से रोना इत्यादि। इस संवेग के भयंकर प्रादुर्भाव से बच्चे अपनी विचार और निर्णय शक्ति खो बैठते हैं। इसके कारण तूफाने-बदतमीजी हो जाती है। साथ ही खूब मारा-पीटी, गुत्थम-गुत्थी, पटकम-पुट्टी, झटकम-झटकी, खींचा-खांची, नोचा-नाची, धक्कम-धुक्की, मुक्कम-मुक्की, मुंह फूला-फूली भी होती है और अंग-भंग होने की आशंका हो जाती है। क्रोध का भाव प्रतिहिंसाओं की भावनाओं को जन्म देता है। इस संवेग के अधिक बढ़ जाने पर बच्चे अपनी माता-पिता या अन्य लोगों की नाकों में दम कर देते हैं।

भय. पलायन की मूल प्रवृत्ति से भय का संवेग जुड़ा रहता है। इसका आविर्भाव आत्म रक्षा या खतरे से बचने के लिये होता है। वाटसन के अनुसार कुछ दिन या सप्ताह के बच्चे कोई भी अकस्मात् और जोरदार आवाज, घटना और सहारे के अभाव से डर जाते हैं। डियरबार्न, (१९१०), शिर्ले (१९३३), जर्सिल्ड

और होल्म्स्, जोन्स और जोन्स (१६२८), वेलिन्टाइन (१६३०) और बुहलर (१६३०) के अनुसार लगभग ५ महीने से लेकर १२ महीने की आयु में अधिकांश शिशु अपरिचित, नवीन और अजनबी व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति अपना भय प्रकट करते हैं। वाटसन (१६२४), फ्रायड (१६३६), जर्सिल्ड और होल्म्स् (१६३५) और स्टर्न (१६३०) के अनुसार शिशु १ वर्ष से लेकर ५ वर्ष की अवस्था के बीच एकाकीपन तथा अन्धेरे के कारण डरते हैं। हेगमेन (१६३२), जर्सिल्ड (१६३२), जोन्स और जोन्स (१६२८) और प्रट (१६४५) के अनुसार २-३ वर्ष के बच्चे जानवरों से भय खाने लगते हैं। जर्सिल्ड और होल्म्स् ने बच्चों पर कई प्रयोग करके यह बात सिद्ध की है कि बच्चे अक्सर कर्कश व जोरदार ध्वनि, कड़े शब्द, भयंकर और रोंयेदार जानवर, हौआ, भूत-प्रेत, डाक्टर, अंधेरा, निर्जन व एकांत स्थान, अपरिचित वस्तु या व्यक्ति, सांप-बिच्छु, गिरती हुई चीजें और आकस्मिक गतियों और घटनाओं आदि से भयभीत होते हैं।

शैशवावस्था में बच्चों की रूग्णता, काल्पनिक भयानक दृश्य, चित्र, किस्से-कहानियां, अन्धविश्वास, वहम और असुरक्षित भाव भय पैदा करते हैं। बच्चों में आर्वाजित भय तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं। अनुकरण से बच्चे भयभीत होना सीखते हैं। जब बच्चे माता-पिता तथा बड़े-सयानों को डरते हुये देखते हैं तो वे भी उनका अनुकरण करते हुये डरने लगते हैं। सम्बद्ध प्रत्यावर्तन से भी बच्चे डरते हैं। असुखद अनुभूति भय उत्पन्न करती है जैसे बच्चे डाक्टर की सुई से डरते हैं। क्षुधा, थकावट और सांवेगिक संक्षोभ भी भय के कारण होते हैं। कभी-कभी अकारण भय का भूत सर पर सवार होकर बच्चों को डराता है। जिन बच्चों को शुरू से आत्म-निर्भरता और आत्मविश्वास का पाठ नहीं पढ़ाया जाता तो वे बच्चे अक्सर कोई भी परिस्थिति से लोहा लेने में डरते हैं। मन्द बुद्धि के बालक प्रखर बुद्धि वाले बच्चों की अपेक्षा कम डरते हैं। बच्चियां बच्चों की अपेक्षा अधिक डरती हैं।

भय की अवस्था में छोटे बच्चे चीखने-चिल्लाने व रोने लगते हैं। उन्हें पसीना छूटने लगता है, टट्टी-पेशाब हो जाती है, ओंठ सूखने लगते हैं, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, दतौरी लग जाती है, थूक सरकने लगता है, अनेक चेष्टायें ठप्प पड़ जाती हैं, बेहोशी आ जाती है और कभी-कभी सांस भी रुक जाती है। साथ ही चेहरा फक्क और पीला पड़ जाता है। उन पर हवाईयां उड़ने लगती हैं, वे गिड़गिड़ाने और थरथर कांपने लगते हैं, जबान लड़खड़ाने लगती है, मुंह बा देते हैं, पीठ दिखाकर दूर भागने लगते हैं और अक्सर मां की गोद में मुंह छिपाने लगते हैं।

जिज्ञासा. किसी वस्तु के विषय में जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा या

१ वर्ष की आयु के शिशुओं में कपड़े पहिनाने, नहलवाने तथा शारीरिक असुविधायें होने के कारण क्रोध जागृत होता है। जीनस के अनुसार १६ महीने से लेकर ३ वर्ष की आयु तक के शिशुओं में अनेक परिस्थितियों के कारण क्रोध उत्पन्न होता है। जैसे उसका मुंह साफ करने, उसका खिलौने या प्रिय वस्तु छिन जाने, कमरे में अकेले छोड़ जाने, भाषा का पूर्ण विकास न होने और अपनी बात दूसरों को न समझा पाने आदि से क्रोध के भाव उठते हैं। २ वर्ष की आयु में क्रोध शारीरिक आदतें डालने तथा बड़े-बूढ़ों के साथ संघर्ष होने, खेल-कूद के स्थानों का अभाव होने से उत्पन्न होता है। ३ और ४ वर्ष की आयु में क्रोध के कारण मित्र-मण्डली के विचारों का मेल न खाना, सत्ता से संघर्ष मोल लेना इत्यादि। हरलाक के अनुसार ३-४ वर्ष की अवस्था में शिशुओं का मचलना पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है और बात-बात में बालक रूठने लगता है और शरीर को चोट पहुंचाकर बदला लेने का अधिक प्रयत्न करता है। ब्रजेजे के अनुसार ३ वर्ष में क्रोध का स्वरूप भिन्न प्रकार से प्रकट होता है। इस समय शिशु एक दूसरे के बाल नोचकर, वस्त्र खींचकर, बकोटकर और दांत से काटकर अपना क्रोध का भाव प्रकट करता है। ४-५ वर्ष के बालक क्रोध के प्रकाशन में अपनी ताकत अजमाते या उपयोग करते हैं, खिलौना जोर से पकड़ते हैं और सीधा आक्रमण करते हैं।

वत्स की क्रोध संवेग की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में करते हैं। जैसे——गाली बकना, हाथ-पैर कड़ा करना, नथुने फुलाना, चेहरा तमतमा जाना, ओंठ फड़कना, सिर धुनना, हाथ-पैर का अकड़ाना, फर्श पर लुड़कना-पुड़कना, रूठना, बकोटना, खूब मचलना, वस्तुओं को तोड़फोड़ करना, सिर फोड़ देना, सांस रोककर टन्ना जाना, हृदय या नाड़ी की धड़कन बढ़ जाना, हाथ में ली हुई वस्तुओं को फेंकना, निर्जीव वस्तुओं को लतियाना, बड़ी जोर से रोना इत्यादि। इस संवेग के भयंकर प्रादुर्भाव से बच्चे अपनी विचार और निर्णय शक्ति खो बैठते हैं। इसके कारण तूफाने-बदतमीजी हो जाती है। साथ ही खूब मारा-पीटी, गुथ्थम-गुत्थी, पटकम-पुट्टी, झटकम-झटकी, खींचा-खांची, नोचा-नाची, धक्कम-धुक्की, मुक्कम-मुक्की, मुंह फूला-फूली भी होती है और अंग-भंग होने की आशंका हो जाती है। क्रोध का भाव प्रतिहिंसाओं की भावनाओं को जन्म देता है। इस संवेग के अधिक बढ़ जाने पर बच्चे अपनी माता-पिता या अन्य लोगों की नाकों में दम कर देते हैं।

भय. पलायन की मूल प्रवृत्ति से भय का संवेग जुड़ा रहता है। इसका आविर्भाव आत्म रक्षा या खतरे से बचने के लिये होता है। वाटसन के अनुसार कुछ दिन या सप्ताह के बच्चे कोई भी अकस्मात् और जोरदार आवाज, घटना और सहारे के अभाव से डर जाते हैं। डियरबार्न, (१९१०), शिर्ले (१९३३), जर्सिल्ड

और होल्म्स्, जोन्स और जोन्स (१६२८), वेलिन्टाइन (१६३०) और बुहलर (१६३०) के अनुसार लगभग ५ महीने से लेकर १२ महीने की आयु में अधिकांश शिशु अपरिचित, नवीन और अजनबी व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति अपना भय प्रकट करते हैं। वाटसन (१६२४), फ्रायड (१६३६), जर्सिल्ड और होल्म्स् (१६३५) और स्टर्न (१६३०) के अनुसार शिशु १ वर्ष से लेकर ५ वर्ष की अवस्था के बीच एकाकीपन तथा अन्धेरे के कारण डरते हैं। हेगमेन(१६३२), जर्सिल्ड (१६३२), जोन्स और जोन्स (१६२८) और प्रट (१६४५) के अनुसार २-३ वर्ष के बच्चे जानवरों से भय खाने लगते हैं। जर्सिल्ड और होल्म्स् ने बच्चों पर कई प्रयोग करके यह बात सिद्ध की है कि बच्चे अक्सर कर्कश व जोरदार ध्वनि, कड़े शब्द, भयंकर और रोंयेदार जानवर, हौआ, भूत-प्रेत, डाक्टर, अंधेरा, निर्जन व एकांत स्थान, अपरिचित वस्तु या व्यक्ति, सांप-बिच्छु, गिरती हुई चीजें और आकस्मिक गतियों और घटनाओं आदि से भयभीत होते हैं।

शैशवावस्था में बच्चों की रूग्णता, काल्पनिक भयानक दृश्य, चित्र, किस्से-कहानियां, अन्धविश्वास, वहम और असुरक्षित भाव भय पैदा करते हैं। बच्चों में आर्वाजित भय तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं। अनुकरण से बच्चे भयभीत होना सीखते हैं। जब बच्चे माता-पिता तथा बड़े-सयानों को डरते हुये देखते हैं तो वे भी उनका अनुकरण करते हुये डरने लगते हैं। सम्बद्ध प्रत्यावर्तन से भी बच्चे डरते हैं। असुखद अनुभूति भय उत्पन्न करती है जैसे बच्चे डाक्टर की सुई से डरते हैं। क्षुधा, थकावट और सांवेगिक संक्षोभ भी भय के कारण होते हैं। कभी-कभी अकारण भय का भूत सर पर सवार होकर बच्चों को डराता है। जिन बच्चों को शुरू से आत्म-निर्भरता और आत्मविश्वास का पाठ नहीं पढ़ाया जाता तो वे बच्चे अक्सर कोई भी परिस्थिति से लोहा लेने में डरते हैं। मन्द बुद्धि के बालक प्रखर बुद्धि वाले बच्चों की अपेक्षा कम डरते हैं। बच्चियां बच्चों की अपेक्षा अधिक डरती हैं।

भय की अवस्था में छोटे बच्चे चीखने-चिल्लाने व रोने लगते हैं। उन्हें पसीना छूटने लगता है, टट्टी-पेशाब हो जाती है, ओंठ सूखने लगते हैं, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, दतौरी लग जाती है, थूक सरकने लगता है, अनेक चेष्टायें ठप्प पड़ जाती हैं, बेहोशी आ जाती है और कभी-कभी सांस भी रुक जाती है। साथ ही चेहरा फक्क और पीला पड़ जाता है। उन पर हवाईयां उड़ने लगती हैं, वे गिड़गिड़ाने और थरथर कांपने लगते हैं, जबान लड़खड़ाने लगती है, मुंह बा देते हैं, पीठ दिखाकर दूर भागने लगते हैं और अक्सर मां की गोद में मुंह छिपाने लगते हैं।

जिज्ञासा. किसी वस्तु के विषय में जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा या

प्रयत्न का नाम जिज्ञासा वृत्ति है। जब २-३ महीने के पश्चात वत्स में देखने की शक्ति का विकास होता है तब उसमें नई वस्तु को जानने की इच्छा पैदा होती है। भय की मात्रा कम होने पर उसमें जिज्ञासा शक्ति जागती है। प्रथम वर्ष में वत्स जिज्ञासा उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के प्रति मुड़ता है और उन्हें पकड़ने या प्राप्त करने का प्रयास करता है। जब उस वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तब वह उसे अपनी ओर खींचता, हिलाता, उलटाता-पलटाता है और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा नई वस्तुओं की छान-बीन करता है। सारा संसार शिशु के लिये कौतूहल से भरा अजायबघर रहता है। वह उसकी प्रत्येक वस्तु को बड़ी ललक-पुलक और उत्सुकता की दृष्टि से देखता है। वह वस्तुओं को छूकर, उठाकर उलटकर, पुलटकर, तोड़कर, फोड़कर, जोड़कर, मोड़कर, खींचकर तानकर और फेंककर उनकी जानकारी उत्सुकता के साथ प्राप्त करता है। प्रारम्भ में बालक की जिज्ञासा में चुनाव और विवेक की कमी रहती है इसलिए पहिले-पहल चमकीली चीजों, भड़कीले रंगों, विचित्र ध्वनियों और गतिशील वस्तुओं के प्रति उसका ध्यान शीघ्र आकर्षित होता है। यों तो बालक को जिज्ञासा वृत्ति दो वर्ष की अवस्था से जागृत होने लगती है, परन्तु ५ वर्ष की अवस्था के पश्चात् वह उत्तरोत्तर जोर पकड़ने लगती है। इसके फलस्वरूप वह क्या, किस प्रकार, कहाँ और क्यों प्रकार के प्रश्नों की झड़ी लगाकर अपने बड़े-बूढ़ों का सिर खाता है। इस संवेग की अभिव्यक्ति इस प्रकार होती है, मांस-पेशियों में तनाव आ जाता है, वत्स आश्चर्य भरी नई चीजें देखकर मुंह बा देता है या अपनी जीभ बाहर निकाल देता है और उसके माथे पर सिकन पड़ने लगती है।

हर्ष. वत्स में हर्ष संवेग की उत्पत्ति अच्छे स्वास्थ्य, पोषाहार और उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से होती है। बुहलर (१९३०) और ब्रिजेज (१९५२) के अनुसार ३-४ महीने की अवस्था से हर्ष का संवेग प्रगट होने लगता है। ५-६ महीने की अवस्था में वत्स गुदगुदाने से मुस्कुराने लगता है। १ वर्ष की आयु में हर्ष का संवेग उल्लास में बदल जाता है। १।।-२ वर्ष का शिशु माता-पिता के बाहर से आने पर अपना आनन्द, उल्लास तथा प्रसन्नता लिपटकर प्रकट करता है। इस आयु में वत्स अधिकतर अपनी चेष्टाओं और लीलाओं पर हंसता और हर्ष व्यक्त करता है। २ वर्ष की आयु में वह दूसरों को देखकर मुस्कुराता है। उसके साथ खेलने, उसके समान नकल उतारने, उनकी चेष्टाओं की नकल करने, चूमने, काटने तथा मीठी-मीठी ध्वनि उत्पन्न करने से वत्स के मन में हर्ष की ओर अधिक अभिवृद्धि हो जाती है। २-३ वर्ष का वत्स वस्तुओं को तोड़ने-फोड़ने, फेंकने-फाकने में आनन्द की अनुभूति करता है। इस समय खेल और खिलौने उसके लिये बड़ी आनन्द की

वस्तु हो जाते हैं। जब उसके हृदय में हर्ष की अति तीव्र हिलोरें उठती हैं तो वह मारे आनन्द के खिलखिला पड़ता है या किलकारी मारने लगता है और कभी जोर से चिल्ला पड़ता है और कभी खूब उछल-कूद लगाने लगता है, ताली और सीटी बजाने लगता है और प्रिय वस्तु से खूब लिपटने और चिपटने लगता है। यहाँ तक कि वह माता-पिता को मारने या टुनयाने लगता है। जब उसे किसी कार्य में थोड़ी भी सफलता मिलती है तो मारे खुशी के फूलकर गुप्पा हो जाता है।

स्नेह और कामवृत्ति. स्टार्ट के अनुसार स्नेह, अन्योन्य क्रियता की एक प्रक्रिया है अर्थात् वह एक संवेगात्मक प्रतिक्रिया है जो आनन्ददायक, सुखप्रदायक तथा सन्तोषप्रद व्यक्ति या वस्तु के प्रति निर्देशित होती है। स्नेह द्विपक्षीय होता है। वह व्यक्ति तथा वस्तुओं के साथ सुखद व आनन्दप्रद अनुभवों से निर्मित होता है। बच्चे अपने प्रारम्भिक जीवन में स्नेह के पात्रों के प्रति कुछ भेद-भाव प्रकट करते हैं। बच्चे में व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति प्रेमपूर्ण प्रतिक्रियायें क्रमिक रूप से विकसित होती हैं। ब्रजेज के अनुसार नवजात शिशु में स्नेह का संवेग नहीं रहता। उसमें केवल उत्तेजित अवस्था रहती है। सर्वप्रथम शिशु ५-६ महीने की अवस्था में परिवार के लोगों विशेषकर माता के प्रति अपने प्रेम का प्रकाशन अव्यक्त तथा अस्पष्ट रूप में मुस्कुरा कर या हाथ-पैर फैलाकर या अपना कुछ शरीर ऊपर उठाकर करता है। माता का स्तनपान करते समय स्तनों को सहलाकर या थपथपाकर या माता के सामने मुंह लाकर प्रेम प्रकट करता है परन्तु शिशु उन्हीं के प्रति स्नेह दर्शाता है जो कि उसके साथ प्रेम का व्यवहार करते हैं; उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, या उसका मनोरंजन करते हैं, या उसे सुख-सुविधा प्रदान करते हैं, या उसकी सेवा सुश्रुषा करते हैं। ८ माह की अवस्था में वह माता की गोद में जाने के लिये आतुरता बतलाकर गोद में चिपक कर स्तनपान करने के लिये कपड़े खींचकर या नाक में उँगली डालकर अपना स्नेह प्रदर्शित करता है। १० महीने की आयु के लगभग वह परिचित व्यक्ति के प्रति स्नेह का भाव दिखाता है। ज्यों-ज्यों उसका सामाजिक सम्बन्ध बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके स्नेह का दायरा भी बढ़ता जाता है। १२ महीने की आयु में शिशु की प्रेम प्रतिक्रिया व्यक्ति तथा वस्तुओं के प्रति अधिक स्पष्ट हो जाती है। वह प्रेम की अभिव्यक्ति इस प्रकार करता है कि वह माता या धाय के पीछे-पीछे दौड़ता है और यदि माता उसे छोड़कर चली जाती है तो वह उसके प्रति क्रोध जताता है।

१-२ वर्ष की आयु में वह परिचित व्यक्तियों के साथ-साथ अपरिचित

व्यक्तियों, जानवरों जैसे पालतू जानवरों, वस्तुओं, विशेषकर खिलौनों और कपड़ों के प्रति उन्हें चूम-चाटकर, थपथपाकर या सहलाकर अपना स्नेह उड़ेलने लगता है। फ्रायड आदि के अनुसार इस आयु में बच्चे अपने आप से प्रेम प्रदर्शित करते हैं, जैसे दर्पण में अपनी परछाई देखकर खुश होते हैं। तीसरे वर्ष में वह अन्य बच्चों के साथ स्नेह सम्बन्ध बढ़ा देता है। वह माता से प्रेम करने लगता है और अपने पिता को प्रेम में बाधक समझकर उससे द्वेष करने लगता है। इसी प्रकार बच्ची पिता से प्रेम करने लगती है और माता को उस प्रेम में बाधक समझकर उससे जलने लगती है। ५-६ वर्ष की अवस्था में स्वलिंगीय प्रेम का विकास होता है। बालक से बालक और बालिका से बालिका प्रेम करने लगती है साथ ही इस आयु में बच्चे का प्रेम खिलौनों, कुटुम्ब के व्यक्तियों तथा पशु-पक्षियों के प्रति केन्द्रित रहता है। बच्चे विभिन्न प्रकार से अपने स्नेह की अभिव्यक्ति करते हैं। वे अपने प्रेम-पात्र को चूमते-चाटते, चिपटाते, सहलाते और उन्हें प्यार से थपथपाते हैं। स्नेह की प्रतिक्रिया मुस्करा कर, गर्दन उठाकर, चुम्बन देकर और हाथ पैर फैलाकर प्रकट करते हैं। वयस्क के समान शिशु अपने प्यार में किसी प्रकार का विभाजन पसन्द नहीं करता। माता-पिता द्वारा प्रेम के विभाजन की आशंका से ईर्ष्या से भर उठता है।

काम वृत्ति. फ्रायड ने काम को जीवन का मूल तथा जन्मजात प्रवृत्ति माना है। उसका कथन है कि काम प्रवृत्ति शैशवावस्था से प्रकट होने लगती है। जैसे बच्चे का अंगूठे चूसने में आनन्द लेना, काम-प्रवृत्ति का ही प्रतिरूप है। डेविड राइट ने काम को अर्जित प्रवृत्ति माना है। स्वशरीर प्रेम की अवस्था जन्म से लेकर लगभग ६ महीने की आयु तक रहती है। इस अवस्था में बच्चे का मन केवल भोजन करने या मलमूत्र त्याग करने तक सीमित रहता है तथा उसकी केन्द्रीय वृत्ति स्वशरीर तक केन्द्रित रहती है। इसके फलस्वरूप वह कभी पैर का अंगूठा चूसने, कभी जननेन्द्रिय सहलाने, कभी पैर हिलाने, कभी मूत्र विसर्जन करने, और कभी आपस में जांघें रगड़ने आदि में कामानन्द की अनुभूति करता है। स्वशरीर रमण उसका प्रधान लक्ष्य रहता है। इसके अतिरिक्त इस आयु में काम-शक्ति शरीर के विभिन्न अवयवों व प्रारम्भिक संवेदनाओं तथा आवश्यकताओं से सम्बन्धित रहती है। उसके प्रेम का विषय उसकी माता या धाय या अन्य व्यक्ति जो उसकी सुख-सुविधा और सुरक्षा का ख्याल रखता है। आत्मरति की यह अवस्था लगभग २॥ वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में बच्चा स्व-आत्म में स्मरण करने लगता है और उसके प्रेम का विषय उसका अपना शरीर तथा अहम होता है। इसके परिणामस्वरूप बच्चा कभी नाचने लगता है, कभी एकान्त

में गाने लगता है, कभी अपने आप ही में रीझने लगता है और कभी हंसने लगता है। इस अवस्था में उसके लिये वाह्य वस्तुओं में रस नहीं रहता। वाद में वाह्य वस्तुओं में रुचि लेने लगता है।

वाल्यावस्था

क्रोध. पूर्व-वाल्यावस्था में वालक में क्रोध उत्पन्न होने की अनेक परिस्थितियां होती हैं। इच्छाओं की पूर्ति होने में वाधा उपस्थित होने, मन लगे हुये काम में वाधा पहुंचने, प्रिय वस्तु दूसरों के द्वारा छिन जाने, दूसरे वालकों द्वारा आक्रमण करने या गाली-गलौच करने से बालकों में क्रोध उमड़ पड़ता है। कपड़े और खेल की वस्तुओं पर अक्सर लड़ाई-झगड़े हुआ करते हैं और वालक अपना क्रोध व्यक्त करते हैं। घर का सामाजिक वातावरण भी वालकों के लिए क्रोध का कारण वनता है। जिस घर में अधिक वालक होते हैं और जहाँ कड़ा अनुशासन रहता है, वहाँ वालकों के क्रोध की प्रतिक्रियायें अधिक देखी जाती हैं। इस समय मचलने की प्रतिक्रियाओं में कमी हो जाती है। ६-७ वर्ष तक वह समझ कर हाथ चलाता है, अकेले में कमजोर को खूब दवोचता है और गाली बकता है, कसर निकालने व बदला लेने की धमकी देता है तथा ताल ठोक कर कुस्ती लड़ने को भी तैयार हो जाता है।

भौतिक वस्तुओं के कब्जे के सम्वन्ध में वालक की साथियों से खटक जाती है। उसका क्रोध उसकी आत्म प्रतिष्ठा लगने और रुचियों तथा स्वतन्त्रता पर वाधा पहुंचने पर उत्पन्न होता है। इस अवस्था में वालक अपनी खोज, झुंझलाहट, आकुलता और कुण्ठा रूठकर या उदासीन होकर प्रकट करते हैं और वालिकाएँ इन्हें रो-धोकर व्यक्त करती हैं। जो वालक तेज या मन्द होने के कारण अपने आपको समायोजित नहीं कर पाते, जिन पर अधिक रोक-थाम रहती है और जिनके माता-पिता उनकी शक्ति और क्षमता के वाहर उनसे आशा रखते हैं, वे क्रोध की अनुक्रियायें अधिक अनुभव करते हैं। १०-१२ वर्ष में वालक दूसरों की टीका-टिप्पणी करके, हंसी उड़ाकर और व्यंग वाण छोड़कर अपना क्रोध व्यक्त करता है। १२ वर्ष तक उसे सामाजिकता, अनुशासन और उत्तरदायित्व की कुछ जानकारी हो जाती है। इसलिये वह दूसरों की नजरों में अच्छा वनकर रहना पसन्द करता है। वह खून के घूंट पीकर पारमार्जित ढंग से क्रोध की भावना को व्यक्त करन का प्रयत्न करता है। इस प्रकार सामाजिक दबाव से उसके क्रोध प्रकट करने का ढंग वदल जाता है।

कभी-कभी माता-पिता, अन्य टोली के लोग तथा शिक्षक उसे उसकी इच्छानुसार नहीं चलने देते उसके मार्ग में अनेक रोड़े अटकाते हैं। अतः ऐसी दशा में उसका झुंझलाना स्वाभाविक होता है। स्वतन्त्रता से पहिनने-ओढ़ने, घूमने-फिरने

और खाने-खेलने पर मातापिता द्वारा अंकुश लगाने पर; उसका क्रोध उमड़ पड़ता है। हरलॉक के अनुसार उत्तर-बाल्यावस्था बालक में स्वतन्त्रता की तीव्र इच्छा रहता है। यदि उसमें किसी प्रकार की बाधा पहुंचती है तो वह क्रुद्ध हो जाता है। उसकी लगातार आलोचना करने, उसके अनेक दोष या त्रुटियाँ निकालने, बड़ी आयु के बालकों की तुलना में उसे नीचा ठहराने और झूठा आरोप लगाने से और लम्बा-चौड़ा उपदेश देने से भी वह क्रोधित हो जाता है। अपनी सामर्थ्य से अधिक महत्वाकांक्षी रहने के कारण जब वह अपनी उपलब्धियों के लक्ष्य से नीचे अपने आपको देखता है तो क्रुद्ध हो जाता है। वह बात-बात में उलझने लगता है। १०-१२ वर्ष की आयु के बीच उसके झगड़ने की वृत्ति पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है।

भय. पूर्व बाल्यावस्था में बालक के बौद्धिक विकास होने के कारण भय से उत्पन्न खतरे को इतना खतरनाक नहीं समझते जैसा कि पहिले समझा करते थे। इस अवस्था में भय की प्रतिक्रियायें विशिष्ट हो जाती हैं। बालक उपहास से बचने के लिये भय छिपाने की कलाबाजी सीख जाता है। यह सब वह सामाजिक दबाव के कारण करता है। अपरिचित व्यक्तियों तथा वस्तुओं से अधिक परिचय हो जाने से बालक का भय छूटने लगता है। वह उस व्यक्ति या वस्तु से डरने लगता है जिससे उसकी सुरक्षा पर आंच आने लगती है। वह अपराध और दुख के आधार पर डरने लगता है। परीक्षा में असफलता, शाला में पिछड़ापन, माता-पिता की मृत्यु, मित्रों में आत्म-प्रतिष्ठा खोने और हंसी उड़ने की चिन्ता उसे बहुत सताती है। उसके अनेक भय अतर्कपूर्ण तथा कल्पनापूर्ण रहते हैं। उसके मन में चिन्ता का भी पुट रहता है। उसके डर अधिकतर भ्रान्ति के रूप में रहते हैं। उत्तर-बाल्यावस्था में बालक को उसके स्वास्थ्य, सामाजिक टीका टिप्पणी तथा परिवार और शाला से सम्बन्धित समस्याओं से अधिक भय लगता है।

चिन्ता तथा आकुलता. चिन्ता का भाव एक प्रकार का काल्पनिक भय माना जाता है। और आकुलता वह मानसिक स्थिति है जिसमें बालक भावी किन्तु काल्पनिक विपत्तियों की आशंका से बेचैन और परेशान रहता है। इस भाव का अनुभव करने के लिये कुछ मानसिक प्रौढ़ता की जरूरत पड़ती है। अतः छोटे बालकों को उसका भान नहीं होता। जब बालकों का बौद्धिक विकास हो जाता है और उन्हें परिस्थिति समझने की कुछ अक्ल आ जाती है तो उन्हें इस संवेग की अनुभूति होती है। माउरर के अनुसार बाल्यावस्था में बालकों की चिन्तायें अधिकतर काल्पनिक होती हैं। पिन्टनर और लेवी (१९४०) के अनुसार बाल्यावस्था में पारिवारिक मामलों, बीमारी, स्वास्थ्य, माता-पिता की

अधिक कार्य व्यस्तता, शालीय मामले, परीक्षाओं में असफलता, प्रगति-पत्र का खराब प्रतिवेदन, माता-पिता की डांट-फटकार और अर्थ सम्बन्धी समस्यायें अधिक चिन्तायें उत्पन्न करती हैं। जर्सिल्ड (१९४१) के अनुसार बाल्यावस्था में बालकों को लड़के चुराने वालों, भूत-प्रेत, मृत्यु, अपरिचित व्यक्ति, घर और शाला सम्बन्धी समस्याओं से अधिक भय लगता है। इस प्रकार बालकों की बहुत सी चिन्तायें निरर्थक होती हैं। वे छोटी-मोटी बातों को बड़ा रूप देकर जबर्दस्ती उनसे चिन्तित होते रहते हैं।

ईर्ष्या-द्वेष. ईर्ष्या-द्वेष को क्रोध का दूसरा रूप कहा जाता है। ईर्ष्या व्यक्तियों के प्रति और द्वेष दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति या चीजों के प्रति व्यक्त की जाती है। पूर्व-बाल्यावस्था में बालकों में ईर्ष्या का भाव तब होता है जब माता-पिता या अभिभावक प्रत्यक्ष रूप से दूसरों या नये शिशुओं के प्रति अधिक प्यार और रुचि दर्शाते हैं। इस संवेग का आरम्भ २ वर्ष की आयु से लेकर ५ वर्ष की आयु में छोटे बालक का जन्म होने पर होता है। सहोदर होने पर भी बालक अधिक प्यार, सुख और सुविधा पाने वाले बालक के प्रति ईर्ष्यालु हो जाता है। ईर्ष्या २ और ३ वर्ष की आयु के बीच पराकाष्ठा को पहुंच जाती है। छोटे बालक पिता को मां के प्यार का बाधक समझकर उससे ईर्ष्या करने लगते हैं और बालिकायें माता को प्रेम में बाधक समझकर उससे ईर्ष्या करने लगती हैं।

ईर्ष्या-द्वेष. बालकों में ५-६ वर्ष की अवस्था के पश्चात् तीव्र रूप से प्रकट होने लगता है। बालक दूसरे बालकों की अधिक अच्छी शारीरिक बनावट, अधिक शक्ति व योग्यता, वेष-भूषा, अच्छी आर्थिक स्थिति, पक्षपात, असमान व्यवहार, अधिक बुद्धि व यशमान, बढ़ती, ऐश्वर्य और परीक्षा में अधिक अंकों की प्राप्ति आदि से एक दूसरे से जलने लगते हैं। कोल के अनुसार प्रेम या प्रतिष्ठा की क्षति से ईर्ष्या का संवेग पैदा होता है। जर्सिल्ड और कारमाईकेल के अनुसार उत्तर बाल्यावस्था में जब बालक घर से बाहर जाता है तो यह समझता है कि माता का सारा प्यार उसके छोटे भाई को मिलता है इसलिये उसे जलन छूटती है। इसी प्रकार जब वह शाला जाता है तो वह उन लड़कों से जलने लगता है जो उससे पढ़ाई-लिखाई, खेल-कूद, लोकप्रियता और बौद्धिकता में उससे आगे रहते हैं। जुवेक के अनुसार प्रारम्भिक बाल्यावस्था में ईर्ष्या दो प्रकार से व्यक्त होती है—एक उस व्यक्ति से जलन होती है जिस पर शारीरिक आक्रमण होता है। बालक जिस व्यक्ति को माता-पिता के प्रेम से वंचित करने वाला मानता है उस पर ईर्ष्या प्रकट करता है। व्यवहारों के ढंगों का

प्रतिगमन जो कि ध्यान आकर्षित करने में सफल होता है, ईर्ष्या का कारण बनता है।

बालकों में द्वेष की अभिव्यक्ति प्रकट रूप में होती है। यदि कोई बालक दूसरे का खिलौना हथियाना चाहता है तो वह मारे द्वेष और क्रोध के दांत और घूसा बताता है। शालीय जीवन में बालकों में द्वेष कम पाया जाता है। ज्यों-ज्यों बालक की आयु बढ़ती है त्यों-त्यों भौतिक वस्तुओं के प्रति उसका लालच बढ़ता जाता है और साथ ही उसमें द्वेष की भावना भी बढ़ती जाती है। लोकप्रिय बालक पर शारीरिक आक्रमण करने की बजाय बालक अपनी ईर्ष्या के भाव दूसरों के बने बनाये खेल बिगाड़कर, कापियाँ-पुस्तकें छिपाकर या चुराकर, चलते-चलते टंगड़ी अड़ाकर, कापियों पर स्याही बिखेरकर, चोट पहुंचाकर, नीचा दिखाकर, खिल्ली उड़ाकर, चुगली का आश्रय लेकर, अनेक प्रकार से सताकर, जली-कटी सुनाकर, रगड़े-झगड़े पैदा करवाकर और अपमानजनक व्यंगपूर्ण टीका-टिप्पणी करके प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रकट करता है। अधिक जलन बढ़ जाने पर वे ईर्षित बालकों को नोचने खींचने, मारने-पीटने और गाली-गलोज करने लगते हैं। रात को रोना-चिल्लाना, बिस्तरे गीले करना, और भूख प्यास का न लगना इस विकृति के स्वरूप माने जाते हैं। इससे बुद्धि, क्षमता और रुचि के कुंठित होने की सम्भावना रहती है। ईर्ष्या बालक को चोरी करने को प्रेरित करती है।

जो बच्चे माता-पिता व शिक्षक द्वारा उपेक्षित, तिरस्कृत और भेद-भाव की दृष्टि से देखे जाते हैं वे उनके प्रति कटु हो जाते हैं और दूसरे बालकों से ईर्ष्या करने लगते हैं। बच्चे अपने से अधिक योग्य, बुद्धिमान, सुन्दर तथा सम्पन्न बच्चे को देखकर उससे ईर्ष्या-द्वेष करने लगते हैं। आत्म प्रदर्शन और आत्म गौरव की अतृप्ति से भी ईर्ष्या-द्वेष उमड़ पड़ता है। माता-पिता तथा शिक्षक के पक्षपातपूर्ण व्यवहार से भी ईर्ष्या-द्वेष की भावना उत्पन्न होती है। आत्मविश्वास की कमी और स्नेह तथा सम्मान का अभाव ईर्ष्या-द्वेष का मुख्य कारण माना जाता है। जो क्रियायें बालकों की क्षमता और रुचि के अनुकूल नहीं रहतीं वे ईर्ष्या-द्वेष की भावना उत्पन्न करती हैं। माता-पिता या शिक्षक द्वारा बालक के बड़प्पन की अवहेलना बालक के ईर्ष्या-द्वेष का कारण बनती है साथ ही लड़के-लड़कियों की सह-शिक्षा की कटुता भी ईर्ष्या का कारण बनती है। पहिले पैदा होने वाला बच्चा बाद में पैदा होने वाले बच्चे से अधिक ईर्ष्या करता है। भाई-बहिन में भी ईर्ष्या रहती है। अधिक बच्चे वाले परिवार में भी बच्चों में ईर्ष्या अधिक पाई जाती है।

जिज्ञासा. शैशवावस्था से लेकर पूर्व बाल्यावस्था में बालक दैनिक जीवन की

सामान्य वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करने की इच्छा रखता है। वाल्यावस्था में जिज्ञासा क्रियाबोधक भी हो जाती है। क्रियाबोधक जिज्ञासा में उसकी कल्पना को पनपने का अच्छा मौका मिलता है। इसके अनन्तर वस्तुओं की विशेपता जानने के प्रति उसकी उत्सुकता जागृत होती है जिसके फलस्वरूप वह क्यों, कहाँ और कैसे से प्रारम्भ होने वाले प्रश्न पूछने लगता है। इस प्रकार सरल से कठिन प्रश्नों की ओर वढ़ता जाता है। फिर वह वस्तुओं के नाम-रूप के साथ-साथ उनके गुणों तथा एक-दूसरे पदार्थों के सम्वन्ध जानने की उत्सुकता प्रदर्शित करता है। उत्तर वाल्यावस्था में अव वालक अपने आस-पास के वातावरण की उन वस्तुओं की छान-वीन करने का उपक्रम करता है जिन्हें छान-वीन करने या जानने का उसे पहिले अवसर नहीं दिया गया था। अब वह समस्यात्मक चीजों की भी छान-वीन करता है। वह अपने ज्ञान, जानकारी, और अनुभव की वृद्धि करने के लिए माता-पिता, सगे-सम्वन्धियों, मित्रों, वयस्कों, शिक्षकों और बड़े-बूढ़ों से असंख्यों प्रश्न पूछता है। इस प्रकार उसकी उत्सुकता प्रवल जिज्ञासा का रूप धारण कर लेती है।

हर्ष. पूर्व वाल्यावस्था में वालक के प्रसन्नता के क्षेत्र में विस्तार होने लगता है। अव नई शोधों से उसके मन में प्रसन्नता होती है। स्ट्राइकर (१६४८) के अनुसार वालक को सफलताओं, तोफों की प्राप्ति, भ्रमण, यात्राओं, पार्टियों, खेल-कूदों, नई चीजों और स्थानों के अनुभवों से हर्ष प्राप्त होता है। उत्सव, त्योहार और जन्म-दिवस में शामिल होने में उसे खूब मजा आता है। मित्र-मण्डली से मिलने-जुलने, उसके साथ जल विहार और वन-विहार करने से उसमें आनन्द की आंधी आती है और प्रसन्नता का पुल टूट पड़ता है। फ्लूगल (१६२५), जर्सिल्ट (१६२१) और जानसन (१६३२) के अनुसार अधिकतर वालक की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से उसे सुख मिलता है। वढ़िया जलपान और सुगन्धित वस्तुएँ उसे आनन्द देती हैं। इसके अतिरिक्त निम्न कोटि के मजाक और हास-प्रसंग उसे आनन्दित करते हैं। दूसरों को चिढ़ाने, बड़ों से छेड़-छाड़ करने, जान-वरों को तंगाने, और अन्य वालकों को परेशानी में डालने में उसे प्रसन्नता का अनुभव होता है।

टी० डी० जोन्स (१६३६) के अनुसार—उत्तर वाल्यावस्था में वालक को नई परिस्थितियों, संकटों तथा खतरों में अपने आपको डालने तथा उनसे लोहा लेने में आनन्द की अनुभूति होती है। भाषा का विकास होने और शब्दों के विभिन्न अर्थों को समझने की योग्यता बढ़ने के कारण वह श्लेषात्मक कथनों और हल्के-फुलके हंसी-मजाकों में रस लेने लगता है। उसके हर्ष की अभिव्यक्ति में सम्पन्नता आ जाती है। अव किसी हंसी-मजाक की वात में वह वेहूदा हंसी नहीं

हंसता। अब नये-नये स्थानों नई-नई चीजों और नये अनुभवों में वह आनन्द लेने लगता है।

स्नेह और काम वृत्ति. पूर्व बाल्यावस्था में बालक व्यक्ति, निर्जीव वस्तु, खिलौनों तथा जानवरों के प्रति प्रेम प्रकट करता है। वह अपने प्रेम का प्रकाशन संकेतों, शारीरिक गतिविधियों तथा वाणी द्वारा करता है परन्तु अधिक अभिव्यक्ति वाणी द्वारा ही करता है। यदि वह परिवार या परिवार के बाहर के व्यक्तियों से प्यार नही पाता तो उसमें आत्मकेन्द्रियता की भावना का उद्रेक होने की सम्भावना रहती है। इस अवस्था में भी स्नेह व्यक्त करने का ढंग भौडा, असंयत तथा अमर्यादित हुआ करता है। वह प्रिय व्यक्ति या वस्तु के प्रति चूम-चाटकर, चिपटकर और सहलाकर अपना स्नेह व्यक्त करता है और अपने व्यक्ति, वस्तु, जानवर, खिलौने को सदा अपने साथ रखना चाहता है और यहाँ तक कि किसी भी समय में उनका साथ छोड़ना नही चाहता। उनके वियोग में रोने और सिसकने लगता है। अपने प्रेम-पात्र के कार्यो की नकल करने में अपनी शान समझता है। बालको की अपेक्षा बालिकाएँ अधिक स्नेहशील होती हैं।

उत्तर बाल्यावस्था में बालक दूसरों के सामने प्रेम का प्रदर्शन करने में झिझकते हैं। व्यक्ति की अपेक्षा जानवरों से स्नेह करना वे अधिक अच्छा समझते हैं। वे मित्रों के प्रति अधिक स्नेह जताते हैं और उनके साथ सदा बने रहना चाहते हैं। वे अपने प्रिय व्यक्ति को हर सम्भव सहायता पहुँचाना अधिक पसन्द करते हैं। लड़कियां प्रेम प्रदर्शन के मामले में बड़ी संकोचशील रहती हैं। इस प्रकार बाल्यावस्था में बच्चे का प्रेम सम्बन्ध अपने समवय, समरुचि और समशील वाले संगी-साथियों के साथ स्थापित हो जाता है।

काम वृत्ति. बाह्य प्रेम अवस्था ६ वर्ष की अवधि तक रहती है। इस अवस्था मे बालक की अन्तर्वृत्ति बहिर्मुखी हो जाती है। अतः वह अपना सम्बन्ध बाह्य जगत से स्थापित करता है। उसे उसके प्रति विशेष आकर्षण होने लगता है। पुत्र का आकर्षण अधिकतर माता और पुत्री का अधिकतर आकर्षण पिता के प्रति होता है। तथा कुटुम्ब के अन्य व्यक्तियों के प्रति भी इस अवस्था में प्रेम जागृत होता है। शुद्ध प्रेम की अवस्था लगभग १० और ११ वर्ष आयु तक रहती है। इस अवस्था में बालक के हृदय में प्रेम अथवा काम वृत्ति के बीज अंकुरित होने लगते हैं, परन्तु वे अचेतन मन में सुप्तावस्था में रहते हैं। इस अवस्था में बालक-बालिकायें सहज भाव से साथ-साथ खेलतीं, लिखती-पढ़तीं और छीना-झपटी आदि करती हैं। इस अवस्था में बालक और बालिका के बीच में प्रासंगिक रोमांस रहता है जिसमें बालक के मन में बालिका के लिए स्नेह तथा आदर का भाव रहता है, पर कामुकता का

भाव नहीं रहता। इस भावना के अन्तर्गत बालक बालिका की वस्तुओं को ले जाता है और यदि कोई बालक उसे छेड़ता है तो वह उसकी रक्षा के लिए तत्पर हो जाता है। बालिका के मन में बालक के प्रति विशुद्ध स्नेह का भाव रहता है।

किशोरावस्था

किशोरावस्था की अवधि १२-१३ वर्ष से लेकर १८-१९ वर्ष तक मानी जाती है। इस अवस्था में शरीर तथा मन में विद्युत्गति से तीव्र परिवर्तन होते हैं। इस अवस्था में तूफान-ए-वदतमीजी वहुत होती है। यह तूफान और कठिनाइयों की अवस्था कहलाती है। इस अवस्था में मन भटकने तथा मचलने, चित्त चहकने, बुद्धि वमकने, दिल दमकने, कल्पनाएँ किलकने, इच्छाएँ उछलने, विचार वहने और भावनाएँ भभकने लगती हैं। हसरतों के गुंचे चटकने लगते हैं। विचारों की तरंगे और भावों का तूफान उठ खड़ा होता है। जोशेजुनू का ज्वालामुखी फूट पड़ता है। और दिल की कली खुलकर खिल जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि—

"नई जवानी कौन न भावे, सीक डोले हंसी आवे।"

इस अवस्था में किशोर के शरीर और मस्तिष्क में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं जिन्हें देखकर स्वतः को आश्चर्य में पड़ जाना पड़ता है।

क्रोध. पूर्व किशोरावस्था में बालकों तथा नवकिशोरों के क्रोध का स्वरूप भिन्न होता है, साथ ही, उसको उत्पन्न करने वाले उद्दीपन, उनकी अवधि, उनकी प्रतिक्रियाएँ और उनकी अभिव्यक्तियों के ढंग भी भिन्न होते हैं। बालकों में क्रोध को उभाड़ने वाली परिस्थितियां प्रायः शारीरिक और भौतिक हुआ करती हैं। परन्तु नवकिशोर में क्रोध उत्पन्न करने वाली परिस्थितियां प्रायः सामाजिक होती हैं। हिक्स और हेयस के अनुसार नवकिशोरों के क्रोध का संवेग वड़े-बूढ़ों द्वारा प्रतिवन्ध लगाने, अपमानजनक व्यवहार करने, व्यंग्यपूर्ण वाक्य बोलने, अधिकार जताने, चिढ़ाने, उपहास करने, उसकी प्रतिष्ठा पर आंच लाने, आलोचना करने, जवर्दस्ती अनचाहा लम्बा-चौड़ा उपदेश तथा परामर्श देने, माता-पिता, शिक्षक तथा मित्रों द्वारा पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने तथा उनके कार्यों में अनेक रुकावट डालने और अनुचित दण्ड से उत्पन्न होता है। उनकी सुख-सुविधाएँ छिन जाने, उनका काम पूरा न होने और इच्छानुसार काम न कर देने से भी वे क्रुद्ध हो जाते हैं। नवकिशोरों की अपेक्षा नवकिशोरियां जल्दी उवल पड़ती हैं। बालकों की अपेक्षा नवकिशोरों का गुस्सा ज्यादा देर तक टिकने वाला होता है, यहाँ तक कि कभी-कभी ४८ घंटे तक चढ़ा रहता है।

नवकिशोर की क्रोध की अनुक्रियाएँ और अभिव्यक्तियाँ भी भिन्नता लिए हुए रहती हैं। किसी से गुस्सा हो जाने पर वह बालकों के समान अपना क्रोध भौतिक तरीके से मार-पीटकर या चिल्लाकर या लात-घूसे जमाकर नहीं व्यक्त करता, बल्कि किसी से क्रुद्ध हो जाने पर वह या तो अनबोला हो जाता है या उससे खिचा-खिचा सा रहने लगता है या गाली सुनाने लगता है या उसकी निन्दा करने या हंसी उड़ाने लगता है या मौखिक या शाब्दिक लड़ाई लड़ने लगता है। कभी-कभी क्रोध का संवेग ज्यादा बढ़ जाने पर उसे शान्त करने के लिये वह बालकों के समान वस्तुओं को पटकने, ठुकराने और लतियाने लगता है। कभी वह जोर से दरवाजा बन्द करके अन्दर कमरे में अकेला बैठ जाता है और कभी घर से बाहर चला जाता है और कभी बांहें चढ़ाने लगता है। किशोरियां क्रोधित हो जाने पर या तो बर्तनों और चीजों को पटककर या रो-धोकर अपना गुस्सा उतारती हैं। निम्न वर्ग के नवकिशोरों की क्रोध की अनुक्रियाएँ प्रायः भौंडी या असंयत होती हैं। वे अक्सर मार-पीट या गाली-गलौच करके अपना क्रोध शान्त करते हैं।

उत्तर किशोर अवस्था में क्रोध पूर्व किशोरावस्था की अपेक्षा अधिक देर तक रहता है। इस अवस्था में क्रोध के प्रायः दो कारण होते हैं—जैसे कोई काम करने की इच्छा में रोड़ा अटकाने से किशोर क्रुद्ध हो जाता है या अनचाही सलाह देने या उस पर अनुचित दबाव डालने से वह क्रोधित हो पड़ता है। दूसरे अभ्यासित क्रियाओं—जैसे किसी विशेष समय में सोने या पढ़ने में बाधा पहुँचाने पर भी वह क्रोधित होता है। किशोरों की क्रोध की अभिव्यक्ति तथा अनुक्रियाओं में कुछ संयतता रहती है। क्रोध के आवेश में वह मार-पीट या गाली-गलौज करने की अपेक्षा जबानी कोड़े लगाना, जबान की कतरनी चलाना, टीका-टिप्पणी करना, खिल्ली उड़ाना और बोलना बन्द करना ज्यादा पसन्द करता है। कभी-कभी वह बालक तथा नवकिशोरों के क्रोध की अनुक्रियाओं की नकल करता है।

भय, आकुलता व चिन्ता. लड़कों को बाल्यावस्था में जो भय सताते थे अब पूर्व किशोरावस्था में वे उतना नहीं सताते। अब नवकिशोर के भय सामाजिक क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं। १२ से १६ वर्ष के बीच में भयों की संख्या बहुत अधिक रहती है। जैसे बेश (१९५०) के अनुसार सर्प या भयंकर जन्तुओं या जानवरों का भय, कोई भी घटना में टकराने का भय, मृत्यु का भय, गर्मी, सुजाक आदि रोग होने का भय, सत्ता का भय, माता-पिता की टीका-टिप्पणी का भय, शाला की असफलता का भय, धन-जन की हानि का भय, भूत-प्रेत आदि का भय इत्यादि। इस अवस्था में उसे समाज का भय बहुत सताता है क्योंकि उसको डर रहता है कि समाज उसकी क्रिया व व्यवहारों की

आलोचना न कर बैठे। वह अपरिचित और प्रौढ़ लोगों पर अपनी छाप छोड़ना चाहता है पर उसे अपने सामर्थ्य पर विश्वास नहीं होता। इस अवस्था में नव-किशोर अपने भय की अनुक्रियाओं की अभिव्यक्ति बाल्यावस्था के सदृश्य भोंडे तरीके से नहीं करता, वल्कि भय पैदा होने पर वह पलायनवादी पद्धति अपनाता है और परिस्थिति से सीधी टक्कर लेने या सामना करने में हिचकिचाता और जी चुराता है। जुवेक के अनुसार इस अवस्था में अपर्याप्तता का भय बहुत सताता है। नवकिशोर की आकुलतायें सामाजिक परिस्थिति और शालीय कार्यों से अधिकतर सम्बन्धित होती हैं। उसे इस बात की आकुलता रहती है कि वह पढ़ाई-लिखाई या खेल-कूद सम्बन्धी प्रतियोगिता मे बाजी मार सकेगा या नहीं या शालीय परीक्षाओं में अच्छे नम्बरों से पास होगा या नहीं। दूसरे, उसे मनचाही संस्था या कालेज में प्रवेश मिलेगा या नहीं। हरलाक के अनुसार नवकिशोरियों को अपनी मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा और लोकप्रियता की आकुलता रहती है। निम्न वर्ग की किशोरियों को अपनी वेश-भूषा तथा आकृति सम्बन्धी आकुलता या चिन्ता अधिक रहती है।

उत्तर किशोरावस्था में भय की संख्या कम रहती है। किशोरों में शाला के कार्यों में असफलता, रोग, मोटर आदि से टक्कर, पैसे की कमी, पाप-कर्म, अयोग्यता और माता-पिता की नापसन्दगी आदि के भय किशोरों में पाये जाते हैं। पूर्व किशोरावस्था के बहुत से भय इस अवस्था में भी वर्तमान रहते हैं। किशोर भय के भाव को छिपाने के लिये बहानेबाजी से काम लेता है और कभी उसका यौक्तीकरण करता है। किशोर-किशोरियों को ये आकुलताएँ या चिन्तायें रहती हैं कि उनकी शक्ल-सूरत और विवाह का प्रस्ताव पसन्द किया जायेगा या नहीं। प्रणय युद्ध में वे विजयी होंगी या नहीं, साथ ही साथ परिवार की सामाजिक तथा आर्थिक दशा की भी चिन्ता उन्हें सताती रहती है। यह बात भारतीय समाज के किशोर-किशोरियों पर लागू नही होती।

ईर्ष्या द्वेष. पूर्व किशोरावस्था में नवकिशोर प्रेम से वंचित करने वाले पर शारीरिक आक्रमण करने के स्थान पर शाब्दिक आक्रमण अधिक करते हैं। शाब्दिक आक्रमण में वे या तो खिल्ली उड़ाते हैं या उपहास करते हैं या टीका-टिप्पणी या पीठ पीछे बुराई करते हैं। जब विषम लिंगीय अवज्ञा या उपेक्षा करते हैं तब उनमें ईर्ष्या का भाव जागृत हो जाता है। उनसे अधिक लोकप्रिय व्यक्तियों से भी वे ईर्ष्या करने लगते हैं। अपने से अधिक शालीय कार्य में सफलता, स्वतन्त्रता, सुख-सुविधा प्राप्त करने वाले मित्रों से भी वे डाह रखने लगते हैं। जब नवकिशोर का कोई प्रेम-पात्र दूसरे से प्रेम करने लगता है तो

उसे उससे ईर्ष्या हो जाती है। परिवार में एक बच्चे के बाद दूसरे बच्चे का जन्म ईर्ष्या का कारण बनता है। उत्तर किशोरावस्था में किशोर और किशोरियों में विषम-लिंगीय प्रेम सम्बन्धों के विषय में ईर्ष्या हुआ करती है। प्रेमी या प्रेमिका के प्रेम या रुचि में कमी आने पर या सन्देह या शक हो जाने से ईर्ष्या का भाव जग जाता है। ईर्ष्या के पात्र के प्रति किशोर चारित्रिक लांछन लगाता है या अन्य प्रकार की टीका-टिप्पणी करता है। भौतिक वस्तुओं में अधिक प्रेम करने से द्वेष का भाव जागृत होता है।

स्पर्धा. ईर्ष्या के सदृश्य स्पर्धा भी किसी व्यक्ति के प्रति होती है। वह लालच या लोभ का एक रूप मानी जाती है। जब नवकिशोर के मित्रों में धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, सुख-सुविधा और बुद्धि या अन्य योग्यताओं की अधिकता रहती है तो उसमें स्पर्धा उद्दीप्त हो जाती है और अपने मित्रों से इन बातों में आगे रहने या बढ़ने की भावना उसमें जागृत हो जाती है। ईर्ष्या की भांति इसकी प्रतिक्रिया शाब्दिक हुआ करती है। वह अपने मित्र की अच्छी वस्तुओं का मजाक उड़ा सकता है या अंगूर खट्टे हैं की नीति अपना सकता है। उत्तर किशोरावस्था में किशोर उससे अच्छी सामाजिक-आर्थिक स्थिति वाले मित्र से स्पर्धा करने लगता है। यदि उसे अपने मित्र के समान अच्छी वस्तुएं या सुख-सुविधाएँ नहीं प्राप्त होती तो वह अपने-आप को बड़ा दुर्भाग्यशाली और मित्र को बड़ा सौभाग्यशाली मानता है और इसकी यत्र-तत्र चर्चा भी करता फिरता है। मित्र के समान वस्तुओं की प्राप्ति के लिये वह चोरी या नौकरी करने लगता है या अन्य ओछे तरीके अपनाने लगता है।

जिज्ञासा. किशोरावस्था में जिज्ञासा के क्षेत्र बदल जाते हैं। इस अवस्था में समाज के अनेक व्यक्तियों से नये सम्बन्ध जुड़ते हैं और शालाओं में अध्ययन से ज्ञान के नये-नये क्षेत्र खुलते हैं। किशोर-किशोरियों के बीच पुरुष-स्त्री सम्बन्धों की नींव पड़ती है। एक दूसरे के सम्पर्क में आने पर उनमें नये अनुभव होते हैं। काम सम्बन्धी बातों का बोलबाला रहता है। इस सब के बारे में किशोर-किशोरियों में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। किशोरावस्था के प्रादुर्भाव से किशोर-किशोरियों में अनेक शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं और ये परिवर्तन उनमें जिज्ञासा का भाव जागृत करते हैं। जननेन्द्रियों के परिपक्व होने से अनेक शारीरिक प्रतिक्रियाएँ, संवेदनाएँ और अनुक्रियाएँ प्रकट होती हैं अतः किशोर-किशोरियों में इनके विषय में जानने की तीव्र इच्छा जागृत होती है। वे अपनी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए या नई बातें जानने के लिए अनेक प्रकार के प्रश्न करते हैं, छानबीन करते हैं, टीका-टिप्पणी करते हैं, अध्ययन और अनुशीलन करते हैं।

हर्ष. जुवेक के अनुसार नवकिशोर अक्सर सामाजिक कार्यों जैसे नाच-गाने, सामूहिक खेल-कूद, साहित्य और अन्य ललित कलाओं से आनन्द और हर्ष की प्राप्ति करते हैं। वे खेल-कूदों, सामाजिक कार्यों में प्रतिष्ठा प्राप्त करके प्रसन्नता का अनुभव करते हैं साथ ही साथ प्रेम के कार्यों में भी। किसी सामाजिक परिस्थिति से समायोजन हो जाने पर नवकिशोर को सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है और उससे समायोजन न होने से दुख का अनुभव होता है। किसी कार्य में सफलता मिलने पर वह हर्ष का अनुभव करता है। मुस्कुराहट या हंसकर या अट्टहास करके वह अपने हर्ष व प्रसन्नता को प्रकट करता है। हरलाक के अनुसार उत्तर किशोरावस्था में किसी भी परिस्थिति के हास्यप्रद पहलू देखने से किशोर को प्रसन्नता होती है। दूसरों की हंसी उड़ाने में उसे आनन्द आता है परन्तु स्वयं मजाक का शिकार बनने से वह दुख का अनुभव करता है। जब जिन संवेगों जैसे ईर्ष्या, भय आदि से उन्मुक्त होने का अवसर मिलता है और जिसमें अपनी चेष्टा का अनुभव करता है तब से हर्ष का अनुभव होता है।

स्नेह और कामवृत्ति. पूर्व किशोरावस्था में प्रेम या स्नेह परिवार के लोगों से हटकर परिवार के बाहर के लोगों या मित्र-मण्डली या विषम लिंगीय व्यक्तियों से हो जाता है। नवकिशोर का प्यार उस व्यक्ति के प्रति होता है जिससे उसे प्यार, सुख-सम्बन्ध और सुरक्षा की अनुभूति होती है। इस अवस्था में उसे प्रेम की कहानी और प्रेम-चर्चा अधिक अच्छी लगती है। किशोरावस्था में किशोरों में अपनी-अपनी रुचियों के अनुसार स्नेह के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। कुछ किशोर माता-पिता से अधिक स्नेह का भाव दर्शाते हैं और कुछ अपने संगी-साथियों और कोई विषम-लिंगीय व्यक्तियों से। परन्तु इस अवस्था में किशोर विषम-लिंगीय प्रेम के पचड़े में अधिक पड़ता है। एल० पी० थोर्पे के अनुसार किशोरावस्था में यौन आकर्षण अधिक बढ़ जाने से परवर्ग के व्यक्तियों के साथ अर्थात् किशोर किशोरी के प्रति अथवा किशोरी किशोर के प्रति अपने प्रेम-भाव प्रदर्शित करने लगती है। इनका आपस में बहुत अधिक मिलन-जुलन होने लगता है। इन दोनों में प्रेम की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में होती है जैसे—किशोर अपनी किशोरी मित्र के प्रति उसका प्रिय नाम पुकारकर या उसके साथ अधिक समय बिताकर या उस पर दृष्टि गढ़ाकर या उसका अधिक समय तक दर्शन कर या उसके साथ प्रेम भरी बातें कर या उसकी बातें ध्यान से सुनकर या उसे उपहार स्वरूप रुमाल और पुष्प आदि देकर अपने प्रेम या स्नेह की अभिव्यक्ति करता है।

काम वृत्ति. मित्र प्रेम या सहवर्गी प्रेम की अवस्था लगभग १२ वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में बालक माता-पिता के प्रेम को भूलकर मित्र प्रेम में इतना तल्लीन हो जाता है कि वह उसके पीछे खाना-पीना, सोना तक भूल जाता

है। दिन-रात मित्र मण्डली के साथ खाने-खेलने, कूदने-फांदने और घूमने-फिरने में उसे बहुत मजा आने लगता है। वह सामूहिक खेल अधिक पसन्द करने लगता है। वह इस अवस्था में अपने समवय, समशील और समरुचि वाले वालकों को अपना मित्र वनाता है और उनके प्रति विशेष प्रेम का भाव प्रकट करने लगता है। इसी समय विषम-लिंगीय या परवर्गीयप्रेम की अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। यह अवस्था लगभग १८ वर्ष की आयु तक रहती है। इस अवस्था में किशोर किशोरियों के बीच विषम-लिंगीयप्रेम सहज रूप से जागृत हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप उनमें एक-दूसरे के प्रति आकर्षण तथा प्रणय-व्यापार आरम्भ हो जाता है। इसमें किशोर को अधिकतर साथ रहने, घूमने-फिरने, किशोरी से बातचीत करने उसके लिये सब कुछ अर्पण करने और सदैव दर्शन करने में रस और आनन्द आने लगता है। इसी प्रकार किशोरी को भी किशोर के प्रति विशेष दिलचस्पी दिखाई पड़ती है।

इस अवस्था में किशोर-किशोरी दिवा-स्वप्न के शिकार रहते हैं और एक दूसरे के विषय में जानने की बहुत उत्सुकता और लालसा रहती है। इस अवस्था में काम वृत्ति के वेगवती होने के कारण दोनों के व्यवहार, मुद्रा, हाव-भाव, भाव-भंगी और अभिनति में परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। लज्जा का भी उन्मेष हो जाता है। आत्म-चेतनता या आत्म प्रदर्शन भाव की प्रवलता के कारण किशोर अपने परवर्गीय व्यक्ति के प्रति अधिक संवेदनशील हो जाता है। शरीर की साज-सज्जा या शृंगार की भावना जागृत हो जाती है। इस अवस्था में जनन साधक आसक्ति की अवस्था भी पाई जाती है। यह अवस्था यौवन काल में रहती है। इस अवस्था में युवक-युवती के प्रणय की चरम परिणति सन्तानोत्पत्ति तथा उसके प्रति प्रगाढ़ प्रेम में परिलक्षित होती है। इस अवस्था में प्रजनन की वृत्ति, दाम्पत्य प्रेम, सन्तानेच्छा और सामाजिक प्रेम जागृत होता है। आपसी प्रणय की परिणति अपत्य स्नेह में होती है साथ ही साथ इस अवस्था में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना जागती है।

संवेगात्मक विकास और शिक्षा व्यवस्था

आज संवेगात्मक संतुलन, सुव्यवस्था एवं नियन्त्रण के अभाव में मानव हृदय-सरोवर सूखकर रह गया है और इसके परिणामस्वरूप मानव दानव बन बैठा है। उसमें मानसिक अस्वस्थता, मानसिक संघर्ष, तनाव और कुव्यवस्था पाई जाती है। वैसे तो संवेगों का मानव जीवन में अच्छा स्थान है परन्तु विद्यार्थी-जीवन में उनका विशेष महत्व है। शुरू-शुरू में बालकों के संवेग बड़े ही तीव्र भद्दे, भौंडे, बेढंगे, कच्चे, अधम और संकुचित रहते हैं। अतः वे उत्तम

शिक्षा-व्यवस्था एवं शिक्षक द्वारा अधिक मृदुल, निर्मल, शुद्ध और परिष्कृत बनाये जा सकते हैं। ऐसा देखा गया है कि संवेगों से व्यक्ति व बालक महान् से महान् और अद्‌भुत से अद्‌भुत काम कर सकते हैं और उनकी कार्यक्षमता बहुत अधिक बढ़ जाती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन समय में जो हमारे वीरों ने अपूर्व वीरता और साहस के कार्य किये हैं, उनकी तह में संवेगों का ही हाथ रहा है।

संवेगों के सुधार, नियन्त्रण और परिष्कार के बिना धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं ललित कलाओं का रसास्वादन नहीं किया जा सकता। शिक्षक के लिए संवेग तो बहुत बड़े अस्त्रों का काम करते हैं। वे उनके सदुपयोग तथा प्रयोग द्वारा अपने अध्यापन को सफल, सजीव, तरल, रोचक, आकर्षक और प्रभावशाली बना सकते हैं। आज जो शिक्षा अथवा जीवन के क्षेत्र में असफलता के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं, उसका मुख्य कारण विद्यार्थियों अथवा व्यक्तियों की उद्वेग-शीलता की अवहेलना है। सफल शिक्षक बालकों के उचित एवं वांछनीय संवेगों को जगा, उभाड़ और उकसाकर अपने शिक्षण में चार चांद लगा सकता है। पर्सीनन के कथनानुसार संवेग मानव शक्ति के तात्कालिक प्रेरणा स्त्रोत हैं। अतः मानवीय व्यवहारों तथा शिक्षा के क्षेत्र में जितनी ही प्रगति, उन्नति और सुधार होते हैं, वे केवल संवेगों के सन्तुलन के बल-बूते पर होते हैं।

संवेगों के अपील के बिना पाठ अरोचक और अप्रभावशाली रहते हैं। उक्त अपील के द्वारा पाठों में रोचकता और प्रभावोत्पादकता का सन्निवेश किया जा सकता है। इस प्रकार संवेग शाला-कार्यों में अधिक रुचि उत्पन्न करने के अच्छे साधन माने जाते हैं। वे बालकों के चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व के विकास में महान् योगदान देते हैं। विद्यार्थियों के स्वभाव तथा मनोदशाएँ अधिकतर उद्वेग-शीलता से अभिनियन्त्रित होती है। इसलिये शिक्षक को अपने शिक्षण और व्यवहारों को उनके अनुरूप समायोजित करना चाहिये।

बालकों के स्वाभाविक तथा वांछनीय संवेगों का अवदमन नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से बालकों के व्यक्तित्व में अव्यवस्थापन एवं विद्रोही भाव-नाओं का उद्रेक हो जाता है। ऐसा देखा गया है कि चिड़चिड़े और प्रेम विहीन बालकों को कोई पसन्द नहीं करता। आनन्द और स्नेह से सने बालकों के प्रति सभी लोग आकर्षित होते हैं। व्यक्तियों, वस्तुओं, वांछनीय मूल्यों, गुण-धर्मों तथा प्रशिक्षण के विषयों के प्रति अभिरुचि संवेगों के द्वारा जागृत की जा सकती है। शिक्षा का एक उत्तम उद्देश्य चरित्र-गठन केवल मात्र वांछनीय संवेगों पर आधारित रहता है। अतः शिक्षक को चाहिये कि वे इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए वांछनीय संवेगों का सदुपयोग करें। इनके उचित नियन्त्रण

और संगठन से वालकों को मानसिक संघर्ष, तनाव, भग्नाशाओं और अन्तर्द्वन्द्वों से वचाया जा सकता है और उनमें सुख, शांति और आनन्द का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है।

यदि शिक्षक संवेगों के उचित प्रयोग से शिक्षार्थियों की सहानुभूति और सद्भावना प्राप्त कर लेता है तो वे विना किसी भय, संकोच और हिचक के, शिक्षक के सामने अपने हृदय खोलकर रख देते हैं। ऐसा करने से शिक्षक शिक्षार्थियों द्वारा आदर और सम्मान पाते हैं और शिक्षार्थियों में विनीतता के भावों की जागृति होती है। इस प्रकार संवेग शिक्षा के क्षेत्र में महान् कार्य करते हैं।

शैशवावस्था में शिशुओं की इच्छाओं और भावनाओं का आदर करना चाहिए और स्वीकृति देना चाहिए। अनुचित मांगों पर रोक लगाना चाहिए, इससे वे हठी, दुराग्रही और अस्वस्थ नहीं होने पाते। माता-पिता और शिक्षक के व्यवहार में सहानुभूति के साथ दृढ़ता भी होनी चाहिए। उनकी उपेक्षा और अपमान नहीं करना चाहिए, कारण कि ईर्ष्या-द्वेष का मुख्य कारण स्नेह तथा सम्मान का अभाव है। इसलिए इस भावना को दूर करने के लिए बच्चों का ध्यान उनकी क्षमता तथा रुचि के अनुकुल क्रियाओं की ओर आकर्षित करना चाहिए। साथ ही उनमें आत्मगौरव और आत्मविश्वास का भाव जाग्रत करना चाहिए। उनमें सच्ची स्पर्धा की भावना भरना चाहिए, ताकि उनमें जलन, डाह और ईर्ष्या-द्वेष की वृत्ति का प्रवेश न हो सके।

वाल्यावस्था में जिज्ञासा प्रवृत्ति की तृप्ति के लिए वालक के प्रश्नों के सही उत्तर देकर उसकी समस्याओं को हल करना चाहिए।

संचय-प्रवृत्ति का सदुपयोग अच्छी वस्तुओं के संग्रह से करना चाहिए। वालक को छोटा-मोटा संग्रहालय वनाने का प्रोत्साहन देना चाहिए। वालक को शोध तथा घुमक्कड़ी प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए, वालचर संस्था में भाग लेने के लिए विशेष वल देना चाहिए। साथ ही अच्छी इमारतों तथा ऐतिहासिक स्थानों का भ्रमण करना चाहिए। वालक की हठवादिता और दुराग्रह को दूर करने के लिए उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

आत्म-प्रदर्शन की पुष्टि तथा सन्तुष्टि के लिए वालक को नाटक, वाद-विवाद और अन्य उत्सवों में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। नैतिक विकास के लिए अभिभावकों तथा शिक्षकों को उत्तम आचरण के प्रतीक बनना चाहिए। वालक के कोमल मस्तिष्क को संवेगात्मक धक्के नहीं लगाना चाहिए।

माता-पिता और शिक्षक को चाहिए कि वालकों की क्रियाओं में बाधा न देकर उनके क्रोध का भाव और भय उत्पन्न करने में सहायक परिस्थितियों से

उन्हें दूर रखकर भय-संवेग का नियन्त्रण करना चाहिए। सम और विषम यौन से मित्रता स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिये। वालकों में अवांछनीय संवेगों पर नियन्त्रण रखने के लिये प्रत्यक्ष सम्बद्ध सामाजिक उत्तेजना, निषेधात्मक अभियोजन, मौखिक अपील, अवदमन आदि विधियों को समय-समय पर काम में लाना चाहिए। पर्याप्त उपयुक्त उपकरण, सुरक्षित गृहजीवन, सामाजिक सुविधाएँ, उत्तेजक परिस्थितियों के ज्ञान और नियन्त्रण एवं स्वप्रकाशन की सुविधाओं के अभाव में मानसिक संघर्ष, तनाव और भावना-ग्रन्थियां उत्पन्न होती हैं, जिनसे वालक के व्यक्तित्व में अव्यवस्थापन आ जाता है।

प्लान्ट तथा सीरिल वर्ट के कथनानुसार इच्छा पूर्ति सुरक्षा, स्वतन्त्रता, बुद्धि, स्वीकृति और स्नेह के अभाव में किशोरावस्था में किशोरों में अपराव-प्रवृत्ति की ओर झुकाव होने लगता है। इसलिए वाल-अपराधी प्रवृत्ति को रोकने के लिए किशोरी की इच्छा पूर्ति करना, सुरक्षा का भाव लाना, स्वतन्त्रता प्रदान करना, स्वीकृति देना और स्नेह उड़ेलना चाहिए। इस समय किशोर संवेगों की दुनिया में रहने लगता है। जिसके कारण उसमें परस्पर विरोधी भावनाओं का प्रावल्य हो जाता है, यहां तक कि वह एक तरफ उच्च आकांक्षाओं से प्रेरित विचारों की ओर तथा दूसरी ओर चतुर चिन्ताओं से उद्भूत, गम्भीर ग्लानि की ओर ढुलकने लगता है। इतना ही नहीं, वरन् उसे अपने मुँह मियां मिट्ठू वनने, अपनी प्रशंसा के पुल वांधने और हवाई किले वनाने और मन-मोदक वांधने में मजा आने लगता है। वीर पूजा तथा स्वतन्त्रता की भावना उचित मार्गान्तीकरण करने के लिए वीरगीतों और उत्तम जीवनियों का अध्ययन, महापुरुषों के जीवनादर्शों का अनुकरण और अनुसरण करना चाहिए।

घुमक्कड़ी प्रवृत्ति भी इस समय प्रवल हो उठती है। इसका शोधन शैक्षणिक यात्राओं, ऐतिहासिक स्थानों के भ्रमण और वालचर-संस्थाओं में सक्रिय भाग लेने से होता है। इस अवस्था में धर्मभीरुता और कभी-कभी धर्म के प्रति विद्रोह की भावना भी जाग्रत होती है, अर्थात् पूरी ईश्वर भक्ति और पूरा नास्तिक के वीच की भी स्थिति होती है। किशोर इस समय या तो पूरा ईश्वर भक्त वन जाता है या सन्देह के हिंडोले में झूलकर पूरा नास्तिक वनकर धर्म और ईश्वर को ढकोसला समझने लगता है। अस्तु, शालाओं में उचित धार्मिक और नैतिक शिक्षा की व्यवस्था होना चाहिए। वह महत्वाकांक्षाओं का शिकार होने से आकाश के तारे तोड़ने के लिए तैयार हो जाता है। यशोलिप्सा इतनी प्रवल हो जाती है कि वह वात की वात और रात की रात में बड़े से वड़ा महात्मा, नेता, करोड़पति और तानाशाह वन वैठना चाहता है। इस प्रवृत्ति का उन्नयन उसकी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार मोड़ देने से हो सकता है। इस समय स्वार्थ-भावना की जगह

परमार्थ-भावना प्रबल हो जाती है। किशोर को त्याग, तपस्या और बलिदान का जीवन ज्यादा आकर्षित करने लगता है और वह सब कुछ न्यौछावर करने के लिए उतारु हो जाता है। अस्तु, इसके लिए सेवा तथा श्रमदान के कार्यों को अधिक अवसर प्रदान करना चाहिए।

इस अवस्था में किशोर के चारित्रिक व्यवहार विशेषता लिए हुए होता है, क्योंकि वह संवेगों से शासित होता है जिससे उसमें अहंभाव उभरने लगता है। इसके लिए पालक और शिक्षक का सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार होना चाहिए।

इस अवस्था में स्वतन्त्रता तथा संघर्ष की भावना प्रबल होने के कारण उसे बड़ों की अवज्ञा करने और उनमें संघर्ष मोल लेने में मजा आने लगता है। बड़ों की लगाम तथा नकाब फेंकने के लिए वह बड़ा बेताब हो जाता है। किसी का नियन्त्रण एवं रोबदाब उसे फूटी आँखों नहीं सुहाता। वह सामाजिक मर्यादाओं की अगाड़ी-पिछाड़ी तोड़कर भागना चाहता है। गृह और शाला के नियन्त्रण की कड़ी उसके गले में गड़ी और अड़ी सी मालुम पड़ती है। नेतागीरी की बीमारी भी उसे लग जाती है। ऐसी दशा में उसे जिम्मेदारी के काम सौंपने, मर्यादित स्वतन्त्रता प्रदान करने तथा अपने पैरों पर खड़े होने की सुविधा देने से इन दोषों का निराकरण हो सकता है।

किशोरावस्था में किशोरों की चिन्ताएँ अधिकतर सामाजिक, आर्थिक ढंग की होती हैं। उसे परीक्षा, जुर्माना, वेश-भूषा, नैतिकता, धन, योग्यता और स्कूल के काम आदि की चिन्ताएँ सताती हैं। हिक्स और हंस के कथनानुसार किशोरावस्था में किशोरों में क्रोध का संवेग, बड़े-बूढ़ों द्वारा प्रतिबन्ध, अपमान-जनक व्यवहार, व्यंग्यपूर्ण वाक्य, अधिकार जताने आदि की भावनाओं से उत्पन्न होता है। किशोरावस्था के प्रारम्भ में बाल्यावस्था के भय की भावनाएँ ही विद्यमान रहती हैं। बाद में शाला में असफलता, रोग, मोटरादि से टक्कर, पैसे की कमी, पाप कर्म, अयोग्यता और माता-पिता की नापसन्दगी आदि सम्बन्धी भय किशोरों में पाए जाते हैं। किशोर किशोरावस्था में सामाजिक क्रियाओं, जैसे नृत्य, संगीत, सामूहिक खेल-कूद, साहित्य और ग्रन्थ, ललित कलाओं से सुख और आनन्द की प्राप्ति करते हैं। किशोर अपने संगी-साथियों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हैं। फिर वे विषम लिंगी-प्रेम अभिव्यक्त करते हैं। इस अवस्था में काम प्रवृत्ति का ज्वार भाटा उठने लगता है। तबियत की रंगीनियाँ ताकने और झाँकने लगती है। उनका शोध संगीत तथा अन्य ललित कलाओं में रुचि लेने, पवित्र पुस्तकों तथा पुरुषों से सम्पर्क स्थापित करने और खेल-कूदों तथा सांस्कृतिक व साहित्यिक कार्य-क्रमों में सक्रिय भाग लेने से हो सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. संवेग से आप क्या समझते हैं ? इसका स्वरूप तथा विशेषताएँ क्या हैं ? स्पष्ट कीजिए।

२. शिक्षक किन विधियों से अवांछनीय संवेगों पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकता है ?

३. संवेगों के सुधार करने के लिए आप किन-किन उपायों का अवलम्बन करेंगे ?

४. विविध अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के संवेगों के विकास की व्याख्या कीजिए तथा शिक्षक का इनके प्रति उत्तरदायित्व निर्धारित कीजिए ।

५. भय-ईर्ष्या संवेग की उत्पत्ति क्यों और कैसे होती है ? बच्चों को निर्भय अथवा ईर्ष्याविहीन कैसे बनाया जा सकता है ?

६. बच्चे क्रोध क्यों करते हैं ? क्रोध के संवेग पर किस प्रकार नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है ?

७. संवेग–संवेग विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों का निरूपण कीजिए ।

८. ६ और ११ वर्ष के बीच बालक की संवेगात्मक विशेषताओं का उल्लेख कीजिए और इस काल में शिक्षा का स्थान और शिक्षक के कर्त्तव्य क्या होने चाहिए, इनकी समीक्षा कीजिए ?

९. संवेगों की दृष्टि से किशोरावस्था तूफान और संकट की अवस्था क्यों मानी जाती है ।

१०. पूर्व-किशोरावस्था तथा उत्तर-किशोरावस्था के प्रमुख संवेगों पर अपने विचार प्रगट कीजिए ।

११. बालक के संवेगात्मक विकास में परिपक्वता का स्थान निर्धारित कीजिए ?

१२. काम प्रवृत्ति की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख कीजिए ।

१३. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—

(१) जेम्स-लैंग का सिद्धान्त ।

(२) स्नेह और काम का विकास ।

(३) यौन-प्रवृत्ति पर नियन्त्रण पाने के विभिन्न शैक्षणिक उपाय ।

अध्याय ९

सामाजिक विकास

सामाजिक विकास का अर्थ

सोरेन्सन के अनुसार सामाजिक विकास के अन्तर्गत अपनी तथा दूसरों के साथ भली प्रकार चलने की बढ़ती हुई योग्यता, दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करने तथा अपने पैरों पर खड़ा होने की योग्यता को सामाजिक विकास कहा जा सकता है अथवा अपनी अभिवृत्तियों, आदतों और आचार व्यवहार में प्रौढ़ता प्राप्त करना भी सामाजिक विकास के अन्तर्गत माना जाता है। सामाजिक विकास का अर्थ बालक की उस परिपक्व अभियोजनशीलता की प्राप्ति है जिसके द्वारा वह अपने समाज में रह कर सुव्यवस्थित जीवन यापन करने में समर्थ होता है। बालक में सामाजिक विकास की नींव घर ही में पड़ती है। फिर बालक समाज के अन्य सदस्यों, समूहों और मित्रों आदि के सम्पर्क में आता है। इस प्रकार इनके सम्पर्क से उसके सामाजिक सम्बन्ध दृढ़ होते जाते हैं और सामाजिक विकास का क्रम चलने लगता है। ऐसे अनेक तत्व हैं जो कि बालक के सामाजिक विकास को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले तत्व

(१) **शारीरिक बनावट.** जिस बालक का शरीर सुपुष्ट, सुन्दर और सुडौल रहता है उसका समाज में अच्छा सम्मान होता है और जिस बालक की शारीरिक बनावट में दोष पाये जाते हैं उसके सामाजिक विकास में बाधा पहुंचती है। शारीरिक दोष के कारण चिड़ाये जाने या तंगाये जाने से उसमें हीनता ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं जिसके कारण उसका सामाजिक विकास कुण्ठित हो जाता है।

(२) **आयु और बुद्धि.** आयु वृद्धि के साथ-साथ बालक की सामाजिक प्रतिक्रियायें बढ़ती जाती हैं और उसके शील गुणों में परिवर्तन हो जाता है। सामाजिक अभियोजन करने में मन्द बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा प्रखर बुद्धि वाले बालक अधिक सफल होते हैं। उनके नेतृत्व के गुणशील विकसित होते हैं। अतः उनका सामाजिक विकास अच्छा होता है।

(३) **परिवार का वातावरण.** परिवार के वातावरण में ही बच्चों का सामाजिक विकास आरम्भ होता है। जो परिवार, सुखी, सम्पन्न, संगठित, सन्तुलित और प्रगतिशील रहते हैं, उनमें रहने वाले बच्चों का सामाजिक विकास ठीक ढंग से हो पाता है। जिन बच्चों को ये सुविधायें नहीं प्राप्त होतो वे बच्चे प्रायः असामाजिक निकलते हैं। अत्यधिक लाड़-प्यार भी बच्चों को बिगाड़ देता है। सामाजिक आर्थिक स्थिति भी सामाजिक विकास में योगदान देती है। कलह प्रिय परिवार या दुष्चरित्र परिवार के बच्चे असमायोजित निकलते हैं।

(४) **पाठशाला का वातावरण.** पाठशाला में किसी न किसी प्रकार नियन्त्रण रहता है। अत: घरों पर बालक अपने व्यवहार को सामाजिक आचरण के अनुकूल डालने का प्रयास करता है और उसमें नेतृत्व गुणों का विकास होता है। शाला में जिन बालकों का शिक्षकों के साथ अच्छा सामाजिक सम्बन्ध रहता है और शिक्षक उनके साथ प्रेम, सहानुभूति का व्यवहार करते हैं तो बालक में सामाजिक गुण, जैसे प्रेम, सहयोग, मित्रता और सहानुभूति आदि गुणों का विकास होता है जिससे उनका सामाजिक विकास ठीक ढंग से हो जाता है। जिन शालाओं में खेल-कूद, अनेक साहित्यिक कार्यक्रम, मनोरंजक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन होता है वहां पर बच्चों का अच्छा सामाजिक विकास होता है और वे सामाजिक कार्यों में दिलचस्पी लेना सीख लेते हैं।

(५) **पड़ोस.** पड़ोस में वयस्कों के सम्पर्क में रहने का अधिक मौका मिलता है। इनके अनुकरण से सामाजिक अभिवृत्तियों का अच्छा विकास होता है।

(६) **क्लब, कैम्प और दल.** जो बालक किसी क्लब का सदस्य होता है उसमें सामाजिक गुण अधिक पाये जाते हैं और उसमें सहयोग और सहकारिता की सामाजिक भावना अधिक रहती है। कैम्प के वातावरण में बालक में स्वतन्त्रता, आत्मविश्वास, सहयोग, प्रेम और विनीतता की भावना पाई जाती है जो कि आगे चलकर उसमें सामाजिक गुणों का पूर्ण विकास करता है। दल के अनुशासन में रहकर बालक अनुशासन का पाठ सीखता है।

(७) **सामाजिक नियम और संयम.** समाज में प्रचलित नियमों, विश्वासों और रीति-रिवाजों आदि से बालक के सामाजिक विकास पर प्रभाव पड़ता है, कारण कि बालक की सामाजिक मनोवृत्ति, सामाजिक मान्यता तथा नियमों से अनुकूल होने के कारण विकसित होती है।

(८) **धर्म.** धर्म तथा धार्मिक कृत्यों का बालक के जीवन पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इसी से बालक का सामाजिक जीवन भी प्रभावित होता है।

(६) **संस्कृति.** सांस्कृतिक परम्परायें तथा गाथायें आदि बालक के समाजीकरण में महान् योगदान देती हैं।

विभिन्न अवस्थाओं में सामाजिक विकास

शैशवावस्था

ब्रेकनरिज और स्मिथ के अनुसार जन्म के समय नवजात शिशु समाज-प्रिय नहीं होता है। प्रारम्भ में उसकी लोगों के प्रति कोई रुचि नहीं रहती। जब तक उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है तब तक वह इस बात की परवाह नहीं करता कि उसकी शारीरिक पूर्ति किसके द्वारा होती है। उस समय वह जड़ और चेतन का अन्तर भी नहीं समझ पाता। तीव्र उद्दीपकों के प्रति ही वह अपनी कुछ प्रतिक्रियायें प्रकट करता है। जब वह सजीव और निर्जीव वस्तुओं का अन्तर समझने लगता है, तब से उसके सामाजिक व्यवहार का आरम्भ हो जाता है। बुहलर (१९५०) के अनुसार २ मास के बच्चे में सामाजिक प्रतिक्रियायें प्रकट होने लगती हैं। पहिले उसकी सामाजिक प्रतिक्रियायें वयस्कों के प्रति होती हैं। अन्य व्यक्ति के द्वारा गोद लिये जाने पर वह रोना बन्द करके चुप हो जाता है और किसी की आवाज सुनकर सिर घुमाने लगता है। वह दूसरों की मुख-मुद्राओं को ध्यान से देखता है। किसी के मुस्कराने पर स्वयं मुस्करा देता है। इस प्रकार वह अन्य लोगों के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करने लगता है। चार महीने में बच्चे में सामाजिकता के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। वयस्कों के पुचकारने तथा मुस्कराने पर वह किलकारी मारता है और मुस्कराता है। गैसेल के अनुसार परिचित और अपरिचित, क्रोध तथा प्रेम के शब्दों के भेदों को जानने लगता है और भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियायें प्रकट करने लगता है। छठवें माह में वह अपनी मां को पहिचानने लगता है और सातवें माह में अपने निकट सम्बन्धियों को परन्तु बाहरी लोगों से भय खाता है। आठ और नौ माह का बालक दूसरों की बोली, हाव-भाव तथा अन्य चेष्टाओं की नकल करने का प्रयास करता है। नवें और तेरहवें महीने के बीच शिशु की अन्य शिशुओं के प्रति रुचि बढ़ जाती है। वह उनके साथ खिलौना खेलकर तथा दूसरों के द्वारा खिलौना छीने जाने पर क्रोध का भाव प्रकट करता है।

एक वर्ष की आयु में वह दूसरे बच्चों के प्रति रुचि दिखाने लगता है। इस समय यदि निषेधात्मक निर्देश आदि दिये जाते हैं तो अपनी प्रतिक्रिया को रोक देता है। अठारहवें महीने के लगभग बच्चे निषेधात्मक प्रतिक्रियायें प्रकट करते हैं। ब्रजेज और गैरीसन के अनुसार २ वर्ष के शिशु दूसरे शिशुओं की ओर आकर्षित

होने लगते हैं और एक दूसरे से मिल-जुलकर खेलने की चेष्टा करते हैं और खेल की चीजों का प्रयोग करके उनके साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने का उपक्रम करने लगते हैं। इस प्रकार उनमें सहयोग की प्रतिक्रियायें देखी जाती हैं।

पूर्व बाल्यावस्था

पूर्व बाल्यावस्था के अन्तर्गत २ वर्ष से लेकर ६ वर्ष की आयु के बीच बालक अन्य व्यक्तियों तथा बालकों के साथ सामाजिक अभियोजन करना सीखता है। साथ ही अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक व्यवहारों का इस अवधि में विकास होता है। इस प्रकार उसका सामाजिक क्षेत्र व सीमायें बढ़ने लगती हैं और वह जीवन के सामाजिक मूल्यों के महत्व को कुछ-कुछ समझने लगता है। उसके सामाजिक व्यवहार के विकास इस प्रकार के होते हैं :

नकारात्मकता. वैसे तो बड़ों की आज्ञाओं और आदेशों का प्रतिरोध शैशवावस्था में ही शुरू हो जाता है। परन्तु इस प्रतिरोध की पराकाष्ठा ३-४ वर्ष की अवस्था में पहुंच जाती है। माता-पिता या वयस्कों के कठोर अनुशासन तथा क्रूरतापूर्ण व्यवहार से बालकों में नकारात्मकता की प्रवृति उत्पन्न होती है। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जहाँ कठोर अनुशासन नहीं होता वहाँ यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। कठोर अनुशासन में इसके दबने की सम्भावना रहती है। रस्क के अनुसार जब उसे विशेष समय में पढ़ने-लिखने के लिए विवश किया जाता है तो वह नकार देता है। बालक अपनी नकारात्मक वृत्ति शब्दों तथा गति सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं द्वारा प्रकट करता है। ४-६ वर्ष की आयु में उसका शारीरिक प्रतिरोध कुछ कम हो जाता है।

आक्रामकता. कुण्ठा, निराशापूर्ण परिस्थिति, खिन्नता आदि के कारण बालक में आक्रामकता का भाव जागृत होता है। कभी-कभी बालक बड़े-बूढ़ों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अथवा दूसरों पर अपना रोब जमाने के लिए अथवा आत्मरक्षा के कारण वह आक्रामक व्यवहार दिखाता है। खेल तथा अन्य कार्यों में हस्तक्षेप करने और उसकी खेलने की वस्तुयें छीनने से वह आक्रामक व्यवहार प्रदर्शित करता है। छोटी आयु में सीधा हमला करके आक्रामकता का भाव दर्शाता है, परन्तु बड़ा होने पर वह शाब्दिक आक्रमण गाली गलौज और दोषारोपण द्वारा व्यक्त करता है। कभी वह अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रति आक्रामकता का भाव प्रदर्शित करता है। वह जितना ही लोकप्रिय होता है उतना ही अधिक आक्रामक होता है।

प्रतिद्वन्द्वता या प्रतिस्पर्धा. प्रतिस्पर्धा एक मानसिक वृत्ति है जिसके कारण व्यक्ति दूसरों से अपने आपको आगे बढ़ाना चाहता है। अपनी चीजों की तारीफ

करना उसका एक रूप माना जाता है। ४ वर्ष की आयु में यह भावना परिलक्षित होती है। ६ वर्ष की आयु में इसका रूप बदल जाता है। जिन परिवारों में अधिक बालक-बालिकायें होती हैं, वहाँ पर प्रतिस्पर्धा की भावना अधिक रहती है। प्रतिद्वन्द्वता की भावना के अपरिवर्तित होने से वह ईर्ष्या और कलह के रूप में बदल जाती है। प्रौढ़ों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए बालक इसका प्रदर्शन करता है। यह भावना निम्न परिवारों के बच्चों में अधिक पाई जाती है।

झगड़ना. ३ वर्ष के बच्चे में झगड़ने की प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है। खेल के खिलौने या खेल के सिलसिले में प्रायः बालकों में झगड़ा होता है। अनुभव की कमी के कारण भी झगड़ा शुरू होता है। अधिकतर बालकों के बीच झगड़ा तब होता है जब एक बालक दूसरे बालक के खेल के खिलौने छीन लेता है। झगड़ने की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है। जैसे—बालक रोकर, चीख-चिल्ला कर, दांत से काटकर, हाथ-पैर चलाकर, और उछल-कूद करके झगड़े की वृत्ति को व्यक्त करता है। बच्चे में झगड़ा अधिक देर तक नहीं टिकता। जल्दी आपस में दोस्ती हो जाती है। जरसिल्ड के अनुसार बालिकाओं की अपेक्षा बालक अधिक झगड़ालू होते हैं और वे झगड़े में शारीरिक शक्ति का अधिक प्रयोग करते हैं और बालिकायें तर्क शक्ति का। सामाजिक सम्पर्क जितना अधिक होता है उतनी ही अधिक झगड़े बढ़ने की सम्भावना रहती है। निम्न कोटि की सामाजिक आर्थिक स्थिति के बालक अधिक झगड़ा करने वाले होते हैं। धीरे-धीरे आयु वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक समायोजन में सुधार होने से झगड़े की प्रवृत्ति की तीव्रता कम होने लगती है।

अनुकरण. पहिले बालक के अनुकरण की केन्द्र-बिन्दु उसकी माता रहती है। वह उसकी बोली और अन्य व्यवहारों का खूब अनुकरण करता है और बाद में वह अन्य व्यक्तियों का अनुकरण करता है। फिर वह समूह के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

सहयोग. २-३ वर्ष बालक प्रायः आत्म-केन्द्रित तथा झगड़ालू हुआ करता है, इसलिये उसमें सहयोग की भावना कम रहती है। परन्तु चौथे वर्ष से उसमें मिल-जुलकर खेलने की प्रवृत्ति जागती है। अतः उसमें सहयोग की भावना उत्पन्न होती है और वह सहयोग करना सीख जाता है।

सहानुभूति. दूसरों के दुख में दुखी और सुख में सुखी होने के भाव को सहानुभूति कहा जाता है। मर्फी (१९३७) के अनुसार छोटे बच्चों में सहानुभूति की प्रतिक्रिया नहीं देखी जाती। उदाहरण के लिए वे दूसरों को घायल देखकर और कोई दुखपूर्ण कहानी या घटना सुनकर व देखकर नहीं पसीजते। ३-४ वर्ष से उनमें सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार प्रकट होने लगते हैं। अब वे किसी को साईकिल से

गिरते देखकर या शरीर में चोट लगती देखकर सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रियायें प्रकट करने लगते हैं। जब उनके हृदय में सहानुभूति का भाव जागृत होता है तो वे दूसरों के कष्टों को निवारण करने की तन, मन, धन से कोशिश करते हैं और दूसरों को सूचना देते हैं कि अमुक व्यक्ति विपत्ति में ग्रस्त है। कभी-कभी वे असहानुभूतिपूर्ण व्यवहार भी करते हैं। किसी को विपत्ति में पड़ा हुआ देखकर वे हंसते और खुश होते हैं। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक सहानुभूतिपूर्ण होती हैं।

प्रभुत्वपूर्ण व्यवहार. छोटे वच्चों में दूसरों पर रोब गांठने या अधिकार जमाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। ३॥ वर्ष के वालक की यही इच्छा रहती है कि वयस्क उसके प्रति पूर्णरूप से ध्यान दे। पाँचवें वर्ष में यह वृत्ति पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है। खेलते समय दूसरों की सहायता के लिए बुलाने या पुकारने में भी रोब गाँठने की प्रवृत्ति का स्वर रहता है। वच्चे रोव गांठने के लिये अक्सर प्रभुत्वपूर्ण व्यवहार करते हैं। आदेश देना, जवर्दस्ती खेल में दूसरों के खिलौने छीन लेना और अपनी वात अन्य वालकों से मनवाना आदि ऐसे संकेत हैं जिनसे प्रभुत्वपूर्ण व्यवहार का पता लगता है। वालकों के साथ खेलने वालिकायें भी प्रभुत्व की प्रवृत्ति का अधिक प्रदर्शन करती हैं।

स्वार्थपरता. वालक अपने प्रारम्भिक जीवन में आत्म-केन्द्रित हुआ करता है। चौथे और छठवें वर्ष के बीच स्वार्थपरता अपनी चरम सीमा में रहती है। धीरे-धीरे जव उसका सामाजिक सम्पर्क अधिक वढ़ता है तब अन्य लड़कों के साथ खेलते खेलते उसे इस वात का अनुभव होने लगता है कि स्वार्थपरता उसके मार्ग में एक भारी रोड़ा है। इसलिये वह स्वार्थपरता को धीरे-धीरे छोड़ने लगता है और उदारता को अपनाने लगता है।

मित्रता. परिवार या पास-पड़ोस के बच्चे भी छोटे वालक के साथी हुआ करते हैं। वच्चों में मित्रता स्थापित होने के अनेक कारण होते हैं। जैसे—समान आयु, समान रुचि, समान बुद्धि, समान गुण, समान शील, समान आवश्यकता इत्यादि। सीगो के अनुसार जो भी वालक आसानी से मिल जाता है उसे ही वह अपना मित्र वना लेता है। कभी-कभी कम आयु के वालक मित्र रूप में मिल जाते हैं वह उन पर रोव गांठने लगता है। समान आयु वाले वालकों की मित्रता अच्छी गठती है। ४ वर्ष की आयु में समलिंगी मित्रों का चुनाव वह अधिक पसन्द करता है। वड़े वालकों की अपेक्षा छोटे वालकों की मित्रता में स्थिरता कम होती है। आयु वृद्धि के साथ अपने साथियों के प्रति रुचियों में प्रगाढ़ता में परिवर्तन आ जाता है। इरोक्स के अनुसार असमान गुणों के कारण भी तथा बुरी आर्थिक

सामाजिक स्थिति होने पर भी मित्रता का विकास होता है। जैसे कृष्ण-सुदामा की मित्रता। यदि लड़के की लड़कियों से मित्रता रहने पर कोई टीका-टिप्पणी कर देता है तो लड़का लड़कियों की मित्रता छोड़कर समलिंगी मित्र बना लेता है उसी प्रकार लड़कियां भी। जब बालक को सच्चे साथी व मित्र नहीं मिलते या उसके माता-पिता के साथ अच्छे सम्बन्ध नहीं होते तो वह काल्पनिक साथी बना लेता है।

नेतृत्व. पूर्व बाल्यावस्था में नेता अपने समूह के अन्य सदस्यों से डील-डौल, आयु, प्रतिभा, बुद्धि और सामाजिकता आदि में बड़ा होता है जिसके फलस्वरूप वह अन्य बातों के विषय में जो सुझाव देता है तो समूह उसके सुझाव को मान लेता है। इस अवस्था में जो दूसरों की इच्छाओं का ध्यान रखते हैं वे तानाशाही वृत्ति अपनाकर दूसरों पर अपना रोब गालिब करते हैं। शारीरिक बल तथा भय-धमकियों द्वारा दूसरों के व्यवहारों को अपने नियन्त्रण में रखते हैं। कुछ व्यक्ति छल-कपट या कूट नीति के व्यवहार द्वारा नेतृत्व करते हैं। इस अवस्था में नेता के शारीरिक बल, प्रतिभा और अच्छी सामाजिक-आर्थिक स्थिति आदि का ख्याल नहीं रखा जाता।

सामाजिक अनुमोदन तथा मान्यता. बालक अपने कार्य-कलापों के विषय में दूसरों का अनुमोदन चाहता है। प्रारम्भ में वह बालकों की अपेक्षा वयस्कों का अनुमोदन अधिक पसन्द करता है परन्तु जब वह समाज या समूह में घुल-मिल जाता है और उसमें समूह में रहने की रुचि की वृद्धि हो जाती है तो वह वयस्कों की अपेक्षा बालकों के अनुमोदन को अधिक महत्व देने लगता है। छोटे बालकों की सदा यह इच्छा रहती है कि लोग उसके कार्यों की प्रशंसा करें और उसकी ओर ध्यान दें। वयस्कों की छोटी-मोटी आलोचना से वह तिलमिला उठता है। चौथे या पांचवें महीने में बालक की आत्मचेतना के प्रकाशन की आवश्यकता होती है। अतः जब दूसरे लोग उसकी गतिविधियों पर ध्यान देते हैं तो वह प्रसन्न होता है। प्रारम्भ में वह वयस्कों द्वारा प्रशंसा चाहता है, परन्तु बाद में अपनी आयु के बच्चों से प्रशंसा पाने की इच्छा रखता है। पर ज्यों-ज्यों वह आयु में बढ़ता है त्यों-त्यों उसकी यह इच्छा बढ़ती जाती है कि प्रौढ़ तथा अन्य सदस्य उसके कार्यों तथा क्रियाओं को मान्यता दें। फिर वह टोली के सम्पर्क में आता है और अपने आचार-विचार टोली की मान्यता के अनुसार ढालने का प्रयत्न करता है। टोली नायक की स्वीकृति को अधिक महत्वपूर्ण समझता है।

जब बालक अन्य बालकों के साथ खेलता है तो उसे इस बात का पता चलता है कि वह उनके द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत किया गया है या नहीं। कुछ बालकों

को नेतागिरी की बीमारी होती है। वे तानाशाही प्रवृत्ति अपनाकर जबर्दस्ती प्रत्येक कार्य व बात में टांग अड़ाया करते हैं। ऐसे बालक अक्सर दूसरे बालकों द्वारा नहीं स्वीकृत किये जाते। वे ही बालक स्वीकृत किये जाते हैं या लोकप्रिय होते हैं जो दूसरों की बातों को बिना ननुनच के स्वीकार कर लेते हैं, किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं करते, दूसरे के कार्य में सहायता पहुंचाते हैं और प्रत्येक परिस्थिति को स्वीकार कर लेते हैं। जो बालक वयस्कों पर अधिक निर्भर नहीं रहते, सामाजिक कार्यों में अधिक सक्रिय भाग लेते हैं और जो प्रखर बुद्धि वाले होते हैं तथा शारीरिक तथा मानसिक बल में बढ़े-चढ़े होते हैं वे अधिक लोकप्रिय होते हैं। बालकों की अपेक्षा बालिकायें अधिक लोकप्रिय होती हैं।

इसके विपरीत वे बालक अलोकप्रिय होते हैं जो जरा सी बात में मार-पीट करते या आक्रमण करते हैं, दूसरों का अपमान करते हैं, जिम्मेदारी से मुँह छिपाते हैं, समय व्यर्थ बरबाद करते हैं, दूसरों का कहना नही मानते हैं और नित्य-नैमित्तक कार्यो को नियमपूर्वक नहीं करते हैं। जो बालक दूसरों के द्वारा अस्वीकृत कर दिये जाते हैं वे जबर्दस्ती समूह में घुसने की कोशिश करते हैं और मान न मान तेरा मेहमान की कहावत चरितार्थ करते हैं।

उत्तर बाल्यावस्था

उत्तर बाल्यावस्था में अनेक प्रकार के सामाजिक व्यवहार विकसित होते हैं। इनमें से कुछ व्यवहार सामाजिक अनुकूलन में सहायक और कुछ बाधक सिद्ध होते हैं। इस अवस्था में बालक जो सामाजिक व्यवहार सीख लेते हैं वे सामाजिक व्यवहार उनके भावी जीवन में सहायक सिद्ध होते हैं। इस अवस्था में निम्न प्रकार के सामाजिक व्यवहार देखे जाते हैं।

टोली का प्रभाव. उत्तर बाल्यावस्था को टोली की आवश्यकता कहा जाता है। इस अवस्था में वह अकेले या परिवार के अन्य सदस्यों अथवा दो-तीन मित्रों के साथ खेलना नहीं पसन्द करता परन्तु टोली में रहना अधिक पसन्द करता है। शुरू-शुरू में उसे इस बात का डर रहता है कि यदि वह टोली के मानकों के अनुसार कार्य न करेगा तो वह टोली द्वारा निकाल दिया जावेगा। अतः वह टोली की वेश-भूषा और आचार-व्यवहार के अनुसार अपने को ढालने की कोशिश करता है। जब कभी माता-पिता और टोली के मानकों के बीच विरोध की दशा उत्पन्न होती है तो वह टोली के मानकों को अधिक मान्यता देता है। टोली के सम्पर्क में आने पर उसमें जिम्मेदारी सम्हालने, दूसरों से होड़ बदने, पीड़ितों की सहायता करने और सहयोग और सहानुभूतिपूर्वक काम लेने की योग्यता आ जाती है। वह टोली के प्रभाव के कारण सम्पत्ति-विपत्ति में सम-व्यवहार करना

और अपनी टोली के उचित व अनुचित व्यवहार का पक्ष लेना सीख जाता है। टोली का एक निश्चित स्थान होता है जहाँ टोली के सदस्य मिलते हैं। वह स्थान गली-कूचों अथवा किसी व्यक्ति के घर में होता है। टोली के कार्य-कलापों जैसे नृत्य, संगीत, वनभोज, सहभोज, उछल-कूद, भ्रमण और वन-विहार में वह सक्रिय भाग लेने लगता है। कभी-कभी टोली की खातिर वह अनैतिक व्यवहार भी कर बैठता है। जैसे---दूसरों के फल-फूल चुराना, दूसरों को तंग करना, तोड़-फोड़ की कार्यवाही करना, बीड़ी या सिगरेट पीना और मार-पीट आदि करना, गपशप करना, ताश खेलना, घूमना-फिरना और हल्ला मचाना इत्यादि।

निर्देशात्मकता. इस अवस्था में बालक संकेतों से सबसे अधिक निर्देशित होता है। वह दल या टोली की सदस्यता के लिये बड़ा आतुर रहता है और टोली के नायक के प्रत्येक आदेश-निर्देश को मानने की भरसक चेष्टा करता है। ७ या ८ वर्ष की आयु में निर्देशात्मकता पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है। साथ ही वह एकाकी जीवन का परित्याग करके सामूहिक जीवन में प्रवेश करता है। एक ओर तो वह टोली के आदेशों व निर्देशों का पूरी तरह परिपालन करता है और दूसरी ओर वह वयस्कों की बातों का तिरस्कार भी करता है। यदि माता-पिता या वयस्क उसे कोई कार्य करने को कहते हैं तो वह उसके विरुद्ध ही आचरण करता है।

प्रतिद्वन्दिता तथा प्रतिस्पर्धा. इस अवस्था में बालकों में प्रतिद्वन्दिता तथा प्रतिस्पर्धा की भावना अत्यन्त उग्र रूप में प्रस्फुटित होती है। बालकों की तीव्र प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति के कारण कभी-कभी मार-पीट या हाथापाई की नौबत आ जाती है। कभी अनायास लड़ाई-झगड़ा और जबरदस्ती की बहसबाजी हो जाती है। गिरोह बनाकर घिराव करने की भी प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर कभी-कभी लड़के एक दूसरे को चिढ़ाते हैं। गैरीसन के अनुसार अधिकांश बालक इस अवस्था में एक दूसरे को पछाड़ने या नीचा दिखाने की चेष्टा इसलिये करते हैं कि उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हो जावे और समाज में उनका आदर-सम्मान बढ़ जावे परन्तु अत्यधिक तथा अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा तथा प्रतिद्वन्दिता से बालक को सामाजिक सफलता मिलने की कम सम्भावना रहती है। प्रतिस्पर्धा की भावना संस्कृति से प्राप्त होती है। कुछ आदिवासी जातियों में यह नाममात्र को दिखाई देती है।

खिलाड़ीपन की उत्कृष्ट भावना. इस अवस्था में बालकों में खिलाड़ीपन की उत्कृष्ट भावना के दर्शन होते हैं। यहाँ तक कि बालक अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अपने दल में विलयन कर देते हैं। इस अवस्था में वे दल के नियमों तथा

संयम का कड़ाई से परिपालन करने के लिए उतारू रहते हैं। इस सब सामूहिक कार्य-प्रणाली से सहयोग और सहकारिता की भावना को बल मिलता है।

सहानुभूति. इस अवस्था में बालक मित्रों की अपेक्षा अपरिचितों के साथ अधिक सहानुभूति दर्शाते हैं। सहानुभूति के द्वारा वे दुःख और विपत्ति में हर प्रकार की सम्भव सहायता पहुँचाने का उपक्रम करते हैं।

मित्रता. इस अवस्था में बालक समलिंगी व्यक्तियों से मित्रता ज्यादा पसन्द करते हैं। इस समय विषम-लिंगी व्यक्तियों के प्रति द्वेष की भावना रहती है। वे इस समय समवय, समस्वभाव, समरुचि, समहृदय, समशील, सम-आर्थिक-सामाजिक स्थिति के बालकों को मित्र बनाते हैं। साथ ही वे हंस-मुख, उदार और अच्छे खिलाड़ियों को भी मित्र बनाना चाहते हैं। मित्र का स्वयं चुनाव करना पसन्द करते हैं और इस चुनाव में किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहते। इस अवस्था में बालक अपनी टोली के सदस्यों को ही मित्र बनाना चाहते हैं। टोली की गोपनीयता भंग होने के डर से वे टोली के बाहर मित्र नही बनाना चाहते। जिन्हें वे अपना मित्र नहीं समझते उनके साथ निर्दयता का व्यवहार करते हैं। टोली में स्वीकृति पाने के लिए नवागन्तुक को स्वयं पहल करना पड़ती है। दोस्त बनाने के पहले उसकी उपेक्षा की जाती है। जब वह अपने कार्य-कलापों से टोली के सदस्यों से विश्वास सम्पादित कर लेता है तब वह टोली में स्थान पाता है। अक्सर टोली के दोस्तों के बीच आपसी झगड़े हो जाया करते हैं जिसके फलस्वरूप वे एक-दूसरे से बोलना बन्द कर देते हैं। फिर शीघ्र ही दोस्ती कायम हो जाती है। पर बालक जरा सी बात पर अच्छे मित्र को छोड़कर दुश्मन दल में मिल जाता है। दोस्ती बिगड़ने के अनेक कारण होते हैं जैसे जबर्दस्ती रोब जमाना, घमंड करना, छल-कपटपूर्ण व्यवहार करना और भेद-भाव की नीति बरतना इत्यादि। बड़े होने पर बालक दोस्त के चुनाव में अधिक सामाजिक सूझ-बूझ से काम लेते हैं, इसलिए मित्र कम बदलने वाले होते हैं। यह भी बात देखी गई है कि अलोकप्रिय बालक की अपेक्षा लोकप्रिय बालक के मित्र अधिक बदलते हैं।

वर्गभेद जन्य गर्वीलापन. वर्गभेद जन्य गर्वीलापन का असामाजिक भावना से उदय होता है। इसमें बालक अपने वर्ग, जाति तथा परिवारादि की प्रतिष्ठा के कारण अपने को दूसरे बालकों से ऊँचा और उत्कृष्ट समझने लगते हैं। इस भावना से पारस्परिक द्वेष और भाई-भतीजावाद की भावना को बल मिलता है। परन्तु यह भावना प्रारम्भ ही से बालक में चिपक जाती है।

लैंगिक पार्थक्य. ७ या ८ वर्ष के बालक और बालिकायें एक साथ खेलते-

और अपनी टोली के उचित व अनुचित व्यवहार का पक्ष लेना सीख जाता है। टोली का एक निश्चित स्थान होता है जहाँ टोली के सदस्य मिलते हैं। वह स्थान गली-कूचों अथवा किसी व्यक्ति के घर में होता है। टोली के कार्य-कलापों जैसे नृत्य, संगीत, वनभोज, सहभोज, उछल-कूद, भ्रमण और वन-विहार में वह सक्रिय भाग लेने लगता है। कभी-कभी टोली की खातिर वह अनैतिक व्यवहार भी कर बैठता है। जैसे——दूसरों के फल-फूल चुराना, दूसरों को तंग करना, तोड़-फोड़ की कार्यवाही करना, बीड़ी या सिगरेट पीना और मार-पीट आदि करना, गपशप करना, ताश खेलना, घूमना-फिरना और हल्ला मचाना इत्यादि।

निर्देशात्मकता. इस अवस्था में बालक संकेतों से सबसे अधिक निर्देशित होता है। वह दल या टोली की सदस्यता के लिये बड़ा आतुर रहता है और टोली के नायक के प्रत्येक आदेश-निर्देश को मानने की भरसक चेष्टा करता है। ७ या ८ वर्ष की आयु में निर्देशात्मकता पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है। साथ ही वह एकाकी जीवन का परित्याग करके सामूहिक जीवन में प्रवेश करता है। एक ओर तो वह टोली के आदेशों व निर्देशों का पूरी तरह परिपालन करता है और दूसरी ओर वह वयस्कों की बातों का तिरस्कार भी करता है। यदि माता-पिता या वयस्क उसे कोई कार्य करने को कहते हैं तो वह उसके विरुद्ध ही आचरण करता है।

प्रतिद्वन्दिता तथा प्रतिस्पर्धा. इस अवस्था में बालकों में प्रतिद्वन्दिता तथा प्रतिस्पर्धा की भावना अत्यन्त उग्र रूप में प्रस्फुटित होती है। बालकों की तीव्र प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति के कारण कभी-कभी मार-पीट या हाथापाई की नौबत आ जाती है। कभी अनायास लड़ाई-झगड़ा और जबरदस्ती की बहसबाजी हो जाती है। गिरोह बनाकर घिराव करने की भी प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर कभी-कभी लड़के एक दूसरे को चिढ़ाते हैं। गैरीसन के अनुसार अधिकांश बालक इस अवस्था में एक दूसरे को पछाड़ने या नीचा दिखाने की चेष्टा इसलिये करते हैं कि उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हो जावे और समाज में उनका आदर-सम्मान बढ़ जावे परन्तु अत्यधिक तथा अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा तथा प्रतिद्वन्दिता से बालक को सामाजिक सफलता मिलने की कम सम्भावना रहती है। प्रतिस्पर्धा की भावना संस्कृति से प्राप्त होती है। कुछ आदिवासी जातियों में यह नाममात्र को दिखाई देती है।

खिलाड़ीपन की उत्कृष्ट भावना. इस अवस्था में बालकों में खिलाड़ीपन की उत्कृष्ट भावना के दर्शन होते हैं। यहाँ तक कि बालक अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अपने दल में विलयन कर देते हैं। इस अवस्था में वे दल के नियमों तथा

संयम का कड़ाई से परिपालन करने के लिए उतारू रहते हैं। इस सब सामूहिक कार्य-प्रणाली से सहयोग और सहकारिता की भावना को बल मिलता है।

सहानुभूति. इस अवस्था में बालक मित्रों की अपेक्षा अपरिचितों के साथ अधिक सहानुभूति दर्शाते हैं। सहानुभूति के द्वारा वे दुःख और विपत्ति में हर प्रकार की सम्भव सहायता पहुँचाने का उपक्रम करते हैं।

मित्रता. इस अवस्था में बालक समलिंगी व्यक्तियों से मित्रता ज्यादा पसन्द करते हैं। इस समय विषम-लिंगी व्यक्तियों के प्रति द्वेष की भावना रहती है। वे इस समय समवय, समस्वभाव, समरुचि, समहृदय, समशील, सम-आर्थिक-सामाजिक स्थिति के बालकों को मित्र बनाते हैं। साथ ही वे हंस-मुख, उदार और अच्छे खिलाड़ियों को भी मित्र बनाना चाहते हैं। मित्र का स्वयं चुनाव करना पसन्द करते हैं और इस चुनाव में किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहते। इस अवस्था में बालक अपनी टोली के सदस्यों को ही मित्र बनाना चाहते हैं। टोली की गोपनीयता भंग होने के डर से वे टोली के बाहर मित्र नही बनाना चाहते। जिन्हें वे अपना मित्र नहीं समझते उनके साथ निर्दयता का व्यवहार करते हैं। टोली में स्वीकृति पाने के लिए नवागन्तुक को स्वयं पहल करना पड़ती है। दोस्त बनाने के पहले उसकी उपेक्षा की जाती है। जब वह अपने कार्य-कलापों से टोली के सदस्यों से विश्वास सम्पादित कर लेता है तब वह टोली में स्थान पाता है। अक्सर टोली के दोस्तों के बीच आपसी झगड़े हो जाया करते हैं जिसके फलस्वरूप वे एक-दूसरे से बोलना बन्द कर देते हैं। फिर शीघ्र ही दोस्ती कायम हो जाती है। पर बालक जरा सी बात पर अच्छे मित्र को छोड़कर दुश्मन दल में मिल जाता है। दोस्ती बिगड़ने के अनेक कारण होते हैं जैसे जबर्दस्ती रोब जमाना, घमंड करना, छल-कपटपूर्ण व्यवहार करना और भेद-भाव की नीति बरतना इत्यादि। बड़े होने पर बालक दोस्त के चुनाव में अधिक सामाजिक सूझ-बूझ से काम लेते हैं, इसलिए मित्र कम बदलने वाले होते हैं। यह भी बात देखी गई है कि अलोकप्रिय बालक की अपेक्षा लोकप्रिय बालक के मित्र अधिक बदलते हैं।

वर्गभेद जन्य गर्वीलापन. वर्गभेद जन्य गर्वीलापन का असामाजिक भावना से उदय होता है। इसमें बालक अपने वर्ग, जाति तथा परिवारादि की प्रतिष्ठा के कारण अपने को दूसरे बालकों से ऊँचा और उत्कृष्ट समझने लगते हैं। इस भावना से पारस्परिक द्वेष और भाई-भतीजावाद की भावना को बल मिलता है। परन्तु यह भावना प्रारम्भ ही से बालक में चिपक जाती है।

लैंगिक पार्थक्य. ७ या ८ वर्ष के बालक और बालिकायें एक साथ खेलते-

कूदते हैं परन्तु आठवें वर्ष के बाद समलिंगियों के साथ खेलना पसन्द करने लगते हैं। इस प्रकार लैंगिक पार्थक्य की भावना परिवर्तित रुचियों, खेल प्रणालियों तथा कार्यों के कारण उत्पन्न होती हैं। इस कारण वे सामाजिक कार्यों में अलग-अलग रहते हैं।

नेतृत्व. टोली का नेता टोली के आदर्शों का प्रतिरूप होता है। बालक उसी बालक को नेता मानकर पूजा करते हैं जिसमें नेता के सभी गुण वर्तमान रहते हैं अर्थात् जिसकी बुद्धि, प्रतिभा, शारीरिक गठन, शक्ल-सूरत, शारीरिक व मानसिक सौन्दर्य, विश्वसनीयता, संवेगों की स्थिरता, धैर्य कूटनीति, व्यवहारिकता और सामाजिकता में दृढ़ इच्छा शक्ति वहिर्मुखी भावना से हृदय की विशालता तथा विचारों की उदारता में आत्मविश्वास, खेल-कूद सम्बन्धी योग्यता में समूह मन के ज्ञाता के रूप में श्रेष्ठता होती है। उसकी इन सब बातों में श्रेष्ठता, उसके आचार व्यवहार में प्रतिबिम्बित होना चाहिये। अन्तर्मुखी वृत्ति वाला व्यक्ति नेता के योग्य नहीं माना जाता।

सामाजिक मान्यता अथवा स्वीकार्यता. उत्तर बाल्यावस्था में बालक को इस बात का पता रहता है कि टोली या अन्य बालकों द्वारा वह पसन्द किया गया है अथवा नहीं। यदि वह लोकप्रिय होता है तो उसे टोली में स्थान मिल जाता है अन्यथा नहीं। समवयस्यक जो अस्वीकृत होते हैं वे प्रायः मितभाषी, एकान्तप्रिय, अन्तर्मुखी, आक्रामक और दुष्ट स्वभाव के होते हैं। अधिक आयु वाले बालक खेल और कक्षा में सदा उपेक्षित रहते हैं। परन्तु सद्बुद्धि और बुद्धि वाले बालक के आचार अन्य बालकों या समाज द्वारा अधिक पसन्द किये जाते हैं।

पूर्व किशोरावस्था

समूह का प्रभाव. इस अवस्था में नवकिशोर विभिन्न रुचियों तथा दृष्टिकोण वाले अनेक समूहों से सम्बन्ध रखने लगता है। अब यह टोली में सीमित नहीं रहता। विशाल पैमाने पर सामाजिक सम्पर्क साधने से उसे इस बात का पता चल जाता है और वह यह बात सीख लेता है कि नेता को किस प्रकार चुनना है, क्रियाओं की व्यवस्था किस प्रकार करनी है और वयस्कों के प्रति कैसा व्यवहार करना है इत्यादि। वह वयस्कों से वार्तालाप करना, और समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार सीख जाता है। सामाजिक समायोजन की सफलता विभिन्न समूहों के विभिन्न सदस्यों के स्वीकरण पर निर्भर रहती है। इस अवस्था में नवकिशोर के सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन हो जाते हैं।

इस अवस्था में नवकिशोर की सामाजिक अभिवृत्तियों में यह परिवर्तन होता है कि वह अब दुर्बलों के प्रति सहानुभूति तथा दूसरों को सुधारने की इच्छा रखने

लगता है। १२ और १४ वर्ष की आयु के बीच उसकी सामाजिक रुचियों और क्रिया-कलापों में परिवर्तन होते हैं। जैसे रुचियों का गहरा होना और व्यवहारों में संयतता का होना इत्यादि। इस अवस्था में सामाजिक क्रियाकलाप विषमलिंगी व्यक्तियों के साथ अधिक पसन्द किया जाता है। इस अवस्था में मित्रों में घनिष्ठता अधिक बढ़ जाती है। सखा या मित्रों की संख्या पहिले की अपेक्षा कम हो जाती है परन्तु जो कोई भी उसके मित्र रहते हैं उनमें मित्रता का बन्धन पक्का हो जाता है। समान रुचियों और समान योग्यताओं के आधार पर टिकाऊ मित्र मंडलियां भी बन जाती हैं। साथ ही समलिंगीय तथा विषम-लिंगीय व्यक्तियों से सम्मानित भीड़ से भी मैत्री जुड़ जाती है।

मित्रता. इस अवस्था में अपने पसन्द के व्यक्तित्व लक्षणों से युक्त व्यक्ति ही मित्र के रूप में अपनाये जाते हैं। बाल्यावस्था के मित्र इस अवस्था में बने रहना आवश्यक नहीं है। इस अवस्था में वह अनुकूल स्वभाव वाले मित्रों का स्वयं चुनाव करता है। कभी-कभी अनुभवहीनता के कारण मित्र चुनाव में गलती हो जाती है और उनसे तारतम्य नहीं बैठता और यहाँ तक कि आपस में ठन जाती है तथा मनमुटाव हो जाता है। वह अपना मित्र अपने आदर्श के अनुसार चाहता है और इस समय मित्रता में स्थिरता रहती है।

नेता. यह बात जरूरी नहीं है कि जो लोकप्रिय हो वही नेता बने, बल्कि इस अवस्था में वही अच्छा नेता माना जाता है जो कि समूह के आदर्शों तथा रुचियों के अनुरूप होता है और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला होता है। जैसे—खेल-कूद के नेता बनने के लिये उसमें उत्तम खेल कौशल का होना आवश्यक है इसी प्रकार अभिनेता बनने के लिए अभिनय की श्रेष्ठ योग्यता का होना जरूरी है। इस अवस्था में नेता में उत्तम गुणशीलों का समावेश होना आवश्यक है। जैसे—विश्वसनीयता, बहिर्मुखता, बुद्धि की प्रखरता, कार्यकुशलता, उदारता, धैर्य, चतुरता, सामाजिक सूझ, कूटनीतिज्ञता और सामाजिकता इत्यादि।

सामाजिक स्वीकरण. इस अवस्था में लोकप्रियता की मात्रा के अनुरूप सामाजिक स्वीकरण मिलता है। ऊँची प्रतिष्ठा वाले अधिक मात्रा में और कम मात्रा में प्रतिष्ठा वाले को सामाजिक स्वीकरण कम मात्रा में मिलता है। नवकिशोर को इस अवस्था में इस बात का पता चलता है कि वह टोली, मंडली या भीड़ इनमें से किनके द्वारा अपनाया गया है। अपनाये न जाने पर कई किशोर निराश हो जाते हैं। समाज द्वारा वे ही किशोर अपनाये जाते हैं जो सामाजिक व्यवहार में कुशल, सामाजिक कार्यों में अधिक रुचि लेने वाले और बहिर्मुखी होते हैं। साथियों में वही किशोर अपनाया जाता है जिसमें

स्नेह और मैत्री की भावना रहती है। शाला-समाज में शालीय सफलता, शालीय योग्यता में बढ़ी-चढ़ी किशोर-किशोरियां लोकप्रिय मानी जाती हैं। लोकप्रिय किशोर में सुरक्षा और प्रसन्नता का भाव पाया जाता है। वही नवकिशोर समाज, समूह और टोली में अलोकप्रिय होते हैं जो जबर्दस्ती की धौंस जमाते हैं, जो हुकुम चलाते हैं, जो दिखाऊ व्यवहार अपनाते हैं और जो जिद्दी और एकान्तप्रिय होते हैं। अलोकप्रिय किशोर में सुरक्षा तथा प्रसन्नता की अनुभूति नहीं होती। अतः सामाजिक समायोजन के लिये व्यक्तित्व के उत्तम लक्षणों का होना आवश्यक है और ऐसे ही किशोर समाज द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं।

उत्तर किशोरावस्था

सामाजिक समूह. इस अवस्था में मित्र-मण्डली छोटी और समूह बड़ा हो जाता है अर्थात् इस अवस्था में मित्र-मण्डली की अपेक्षा समूह के लोगों से अधिक सम्पर्क बढ़ जाता है। इस अवस्था में सामाजिक भेद-भाव चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं। अधिक उत्तरदायित्व या कार्यक्षेत्र अधिक बढ़ जाने से सामूहिक सम्पर्क इतने अधिक नहीं सधने पाते।

मित्रता. इस अवस्था में मित्रों की संख्या कम हो जाती है और परिचित समूह बड़ा हो जाता है। हरलाक के अनुसार नई प्रवृत्ति के फलस्वरूप समलिंगियों के बीच सामाजिक दूरी बढ़ती जाती है और विषम-लिंगियों के बीच की दूरी कम होती जाती है। विषमलिंगी व्यक्तियों से मित्रता बढ़ाने की प्रबल इच्छा हो जाती है। इस अवस्था में मित्रता के लिए जाति-पांति, धर्म, या सामाजिक आर्थिक स्थिति का कोई बन्धन नहीं रहता। इस अवस्था में किशोर-किशोरियां अपनी पसन्दगी नापसन्दगी के कुछ मानक बना लेती हैं और उन्हीं के अनुसार वे मित्रता कायय करती हैं।

नेता. उत्तर किशोरावस्था में भिन्न-भिन्न प्रकार के समूह होते हैं जैसे—सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक इत्यादि। इन समूहों के अलग-अलग नेता होते हैं और उनकी समूहों के अनुसार अलग-अलग योग्यता भी होती है। यह जरूरी नहीं है कि एक समूह का नेता दूसरे समूह का नेता होगा। पूर्व किशोरावस्था के सदृश्य उत्तर किशोरावस्था में भी नेता के वही गुण और लक्षण होने चाहिये। उसकी सूरत-शक्ल, शारीरिक गठन, स्वास्थ्य अनुकूलन, बौद्धिक योग्यता, सामाजिक सूझ-बूझ इत्यादि श्रेष्ठ होना चाहिये। नेता की आर्थिक-सामाजिक स्थिति अच्छी होने के कारण उसे सामाजिक कौशल प्रदर्शित करने का अधिक मौका मिलता है जिससे उसका आत्मविश्वास बढ़ जाता है।

सामाजिक स्वीकरण. किशोर समाज द्वारा स्वीकार किये जाने के विषय में अधिक उदार और यथार्थवादी दृष्टिकोण रखता है। वह तभी समायोजित होता है जब उसे सामाजिक स्वीकृति उपलब्ध होती है। पूर्व धारणा के अनुसार समाज उसे अपनाता है। उसके विषय में धारणा, उसकी चाल-ढाल, शक्ल-सूरत, आचार-व्यवहार, आर्थिक-सामाजिक स्थिति, वेश-भूषा, आदि के आधार पर बनती है। यदि धारणा अनुकूल होती है तो वह समाज द्वारा स्वीकृत किया जाता है अन्यथा नहीं। वैसे तो किशोरों में सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय लक्षण होते हैं परन्तु कुछ वांछनीय लक्षण उनकी क्षति-पूर्ति करते हैं। समाज द्वारा वही व्यक्ति स्वीकृत किये जाते हैं जिनके जीवन में सच्चाई, ईमानदारी, दूसरों की निःस्वार्थ सेवा की भावना, दूसरों का ध्यान रखने की आदत, सामाजिक कार्यों में रुचि, और आत्म-विश्वास की भावना पाई जाती है। इस अवस्था में किशोर अक्सर अभद्र रवैया अपनाते हैं। सामाजिक शिष्टाचार, रीति-रिवाज के विषय में उनका ज्ञान सीमित होता है। समाज में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये इसका अनुभव भी कम होता है।

सामाजिक विकास और शिक्षा व्यवस्था. शैशवावस्था में उनमें अनुकरण की पद्धति प्रबल रहती है। इसलिये बच्चों के सामने उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए। शुद्ध उच्चारण, अच्छी वेषभूषा, नियमितता, मधुर व्यवहार, सुन्दर लिखावट और उत्तम बोलचाल के उत्तम नमूने उनके समक्ष रखना चाहिए, ताकि उनमें बुरी आदतों की जड़ें न जम सकें। उनकी संचय-प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए उन्हें भिन्न-भिन्न वस्तुओं को देखने, सुनने, छूने और सूंघने आदि के अनेक अवसर प्रदान करना चाहिये। रचनात्मक प्रवृत्ति का सदुपयोग रचनात्मक कार्यों में बच्चों को लगाकर करना चाहिये।

उनकी इच्छाओं और भावनाओं का आदर करना चाहिये और स्वीकृति देना चाहिए। अनुचित-मांगों पर रोक लगाना चाहिए। इससे वे हठी, दुराग्रही और अस्वस्थ नहीं होने पाते। माता-पिता और शिक्षक के व्यवहार में सहानुभूति के साथ दृढ़ता भी होनी चाहिए। उनकी उपेक्षा और अपमान नहीं करना चाहिए, कारण कि ईर्ष्या-द्वेष का मुख्य कारण स्नेह तथा सम्मान का अभाव है। इसलिए इस भावना को दूर करने के लिए बच्चों का ध्यान उनकी क्षमता तथा रुचि के अनुकूल क्रियाओं की ओर आकर्षित करना चाहिए। साथ ही उनमें आत्मगौरव और आत्मविश्वास का भाव जाग्रत करना चाहिए। उनमें सच्ची स्पर्धा की भावना भरना चाहिए, ताकि उनमें जलन, डाह और ईर्ष्या-द्वेष की वृत्ति का प्रवेश न हो सके। उनमें सामाजिकता की भावना उत्पन्न करने के लिए उन्हें

सामूहिक खेल-कूदों और कार्यों में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये।

बालकों में अवांछनीय संवेगों पर नियन्त्रण रखने के लिए प्रत्यक्ष सम्बद्ध सामाजिक उत्तेजना, निषेधात्मक अभियोजन, मौखिक अपील, अवदमन आदि विधियों को समय-समय पर काम में लाना चाहिए। पर्याप्त उपयुक्त उपकरण, सुरक्षित गृहजीवन, सामाजिक सुविधाएँ, उत्तेजक परिस्थितियों के ज्ञान और नियन्त्रण एवं स्वप्रकाशन की सुविधाओं के अभाव में मानसिक संघर्ष, तनाव और भावना-ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे बालक के व्यक्तित्व में अव्यस्थापन आ जाता है।

सामाजिक विकास के लिए सामूहिक खेल-कूद या अन्य प्रकार के उत्सव-क्रियाओं और कार्यक्रमों का समय-समय पर आयोजन होना चाहिये। पारिवारिक तथा शालेय वातावरण को शुद्ध और क्रियाशील रखना चाहिये। बालचर, बालिका-निर्देशन आदि संस्थाओं से सामाजिक विकास में अधिक सहायता प्राप्त होती है। इसलिए बालक-बालिकाओं को उनमें भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये।

किशोरावस्था में सामाजिक भावना जोर पकड़ने लगती है और किशोर को माता-पिता की छत्र-छाया से विलग अपने कबीले या गुट में अधिक आनन्द और संरक्षण के भाव की अनुभूति होने लगती है। यहां तक कि वह अपने समुदाय के लिए सर्वस्व अर्पण करने के लिए तत्पर रहता है। दूसरे, वह माता-पिता के कड़े नियन्त्रण से भाग निकलने के लिए बड़ा बेचैन और बेताब हो जाता है। अपने मित्र स्वयं चयन करता है। इस अवस्था में नेतृत्व, विनीतता एवं नागरिकता की भावनाओं का भी जागरण होने लगता है। अस्तु, शालाओं को चाहिए कि वे किशोरों को जिम्मेदारी के काम सौंपें और उन्हें वाद-विवाद, जयन्ती, उत्सव और शाला के अन्य कार्यक्रमों में भाग लेने का मौका दें। इस समय सामाजिक उत्तर-दायित्व संभालने की वृत्ति भी जागती है। अतः सामाजिक कार्यों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहन देते रहना चाहिए।

वह समाज में अपना एक स्थान बनाना चाहता है और यह भी चाहता है कि लोग उसके महत्व को स्वीकार करें। वह जीवन का एक ऐसा दर्शन चाहता है जो उसे सुख-शान्ति और सफलता प्राप्त करने में सहायता प्रदान करें। इसलिए शिक्षक को चाहिए कि वह उसके समक्ष जीवन का एक अच्छा आदर्श उपस्थित करें। किशोर इस अवस्था में सामाजिक दबाव और सम्बन्धों से परिचय प्राप्त

करता है और वह ऐसा कार्य करके दिखलाना चाहता है कि समाज अंगुल नुमाई करने के बजाय उसकी पीठ ठोंके और उसकी प्रशंसा करे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. सामाजिक विकास का क्या अर्थ है ? बालक के प्रारम्भिक सामाजिक व्यवहार का वर्णन कीजिए।

२. सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले प्रमुख अंगों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

३. सामाजिक विकास की विभिन्न प्रमुख अवस्थाओं की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

४. बाल्यावस्था अथवा किशोरावस्था की सामाजिक विशेषताओं का उल्लेख करते हुये शिक्षक का उनके प्रति उत्तरदायित्व निर्धारित कीजिए।

५. समाजीकरण की प्रतिक्रिया के प्रमुख तत्व कौन-कौन से हैं ? इनका संक्षिप्त विवरण कीजिए।

६. नेतृत्व के क्रमिक विकास तथा उसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

७. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—

(अ) परिवार और समाजीकरण

(ब) विद्यालय और समाजीकरण

अध्याय १०

चारित्रिक अथवा नैतिक विकास

चरित्र का स्वरूप

मानव जीवन की प्रधान वस्तु चरित्र ही है। यह एक ऐसा अमूल्य रत्न है जो अपने प्रकाश से स्वयं प्रकाशित होता है। मानव के जीवन में सुख-दुख का होना बहुत कुछ चरित्र के ऊपर निर्भर करता है। किसी भी देश की संस्कृति और सभ्यता का विकास वहाँ के निवासियों के चरित्र पर आधारित रहता है। इसी के बल पर मानव धन, प्रतिष्ठा, यश और मान लाभ कर सकता है। इसीलिए शिक्षा का एक महान उद्देश्य चरित्र-निर्माण माना गया है। यद्यपि चरित्र व्यक्तिगत होता है, परन्तु उसका प्रभाव कुटुम्ब, जाति, समाज, संस्कृति और राष्ट्र पर भी पड़ता है। किसी ने ठीक ही कहा है कि यदि धन खो गया हो तो कुछ नहीं खो गया, यदि समय खो गया तो बहुत कुछ खो गया और यदि चरित्र खो गया तो सब कुछ खो गया। चरित्र आत्मसंयम पर निर्भर रहता है।

चरित्र के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में विभिन्न धारणायें पाई जाती हैं। सेमुअल इस्माइल 'चरित्र को अच्छी आदतों का समूह मानता हैं'। अर्थात् वही व्यक्ति चरित्रवान कहा जा सकता है जो अपने जीवन में अनेक अच्छी आदतों को डालता है। इसी लिए चरित्र अच्छी आदतों का समूह कहा गया है। मेक्डूगल के अनुसार 'प्रेरणात्मक प्रवृत्तियों का विकास और संगठन या स्थायी भावों का विकास ही चरित्र है'। अर्थात् व्यक्ति में स्वाभाविक प्रवृत्तियां होती हैं जो अनुभव और चिन्तन के आधार पर उसे प्रेरणायें प्रदान करती हैं। उत्तम प्रेरणायें मनुष्य का चरित्र निर्माण करने में सहायक होती हैं। साथ ही स्थायी भाव जैसे आत्म गौरव, देश प्रेम आदि मन के चारों ओर अपने को संगठित कर लेते हैं। इन्हीं उत्तम प्रेरणाओं का संगठन या विकास चरित्र कहलाता है। वाटसन् के मतानुसार 'चरित्र व्यवहारों-संस्कारों का समुच्चय है'। अर्थात् हम चरित्र के विकास का अनुमान बालकों के उन व्यवहारों और संस्कारों से लगा लेते हैं जिन्हें वे विभिन्न परिस्थितियों में अपने अच्छे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए काम

में लाया करते हैं। विलियम ब्राउन के कथनानुसार 'चरित्र मानव मन के इच्छात्मक और संवेगात्मक पहलुओं का संगठन है जो कि व्यक्ति को आदर्श की स्थिरता तथा संकल्प की दृढ़ता के विकास की ओर ले जाता है'। अर्थात मानव मन में अनेक इच्छायें और संवेग होते हैं। परन्तु जब यह इच्छायें और संवेग संगठित रूप में व्यक्ति के जीवन आदर्श में स्थिरता और दृढ़ता प्रदान करने में सहायक होते हैं तब वे चरित्र का एक अंग बन जाते हैं। मिल के मतानुसार 'दृढ़ इच्छाशक्ति के अभ्यास का दूसरा नाम ही चरित्र है'। अर्थात जिस व्यक्ति में जितनी ही उद्दात्त दृढ़ इच्छा-शक्ति होगी उतना ही उच्च उसका चरित्र होगा। दृढ़ इच्छा-शक्ति के लगातार संगठन से उत्तम चरित्र का निर्माण होता है क्योंकि वह चरित्र के विकास में सहायक होती है। रास के अनुसार 'चरित्र केवल संगठित आत्म है'। अर्थात जब आत्म गौरव आदि के स्थायी भाव आत्म के चारों ओर संगठित होते हैं तो वे उच्च चरित्र का निर्माण करते हैं। इसलिए चरित्र संगठित आत्म कहा गया है। विभिन्न परिभाषाओं को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वास्तव में चरित्र मानव की ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक वृत्तियों के गुणनफल का समूह ही है जिसमें मानव की जन्मजात प्रवृत्तियां सम्मिलित रहती हैं। रुचि, ज्ञान, अभ्यास, बुद्धि, इच्छा शक्ति, व्यवहार संस्कार, आदत और स्थायीभाव का खासा योग रहता है। अब हमें देखना है कि चरित्र का जन्मजात मूलप्रवृत्तियों, आदत, स्थायीभाव और इच्छा शक्ति में क्या सम्बन्ध है।

दृढ़ चरित्र की विशेषताएँ तथा गुण

(१) **विश्वसनीयता.** चरित्रवान् व्यक्ति सदैव किसी आदर्श और नियम के अनुसार कार्य और व्यवहार करता है। उसके जीवन में अपवाद नहीं होते इस लिए उसका चरित्र सदा विश्वसनीय होता है। चरित्रवान व्यक्ति के विषय में पूर्व दमन किया जा सकता है कि वह मर्यादा या, आदर्श और नैतिक नियम के विरुद्ध कार्य नहीं करेगा।

(२) **उद्यम एवं अध्ययनशीलता.** ऐसा देखा गया है कि चरित्रवान व्यक्ति सदैव उद्योगशील और अध्ययनशील रहता है। जो व्यक्ति सदा किसी कार्य में लगा रहता है अथवा पढ़ाई-लिखाई में संलग्न रहता है, उसके चरित्र के बिगड़ने की कम सम्भावना रहती है क्योंकि खाली मन शैतान का अड्डा रहता है।

(३) **कार्यों में दृढ़ता.** दृढ़ चरित्र वाला व्यक्ति किसी कार्य में उस समय

तक पड़ा रहता है जब तक उसे पूरा नहीं कर लेता है। वह अच्छे या बुरे कार्य की परवाह नहीं करता।

(४) **दृढ़ संकल्प शक्ति.** चरित्रवान् व्यक्ति की इच्छाशक्ति बड़ी सुदृढ़ रहती है। वह संसार के आकर्षणों से जरा भी हिलती-डुलती नहीं। संकल्प शक्ति से चरित्र में दृढ़ता आती है और वह व्यक्तित्व निर्माण में सहायक सिद्ध होता है।

(५) **आशावादिता, प्रसन्नता और साहसिकता.** दृढ़ चरित्र वाले व्यक्ति में सदा प्रसन्नता और आशावादिता का वातावरण रहता है। साथ ही साथ वह निर्भीक और निडर रहता है। पलायनवादिता उसे छू तक नहीं सकती। झेंप से वह कोसों दूर रहता है। चरित्रवान व्यक्ति आगे बढ़ने में प्रसन्नता का अनुभव करता है और वह बड़ी आशा, प्रसन्नता तथा साहस के साथ प्रगति करने का सतत प्रयास करता है।

नैतिक विकास के विभिन्न कारक

(१) **अवस्था का प्रभाव.** बालक की बुद्धि और अनुभव कम और कच्चा रहता है। ऐसी हालत में वह अपने चरित्रवान माता-पिता द्वारा चरित्र सम्बन्धी प्रेरणाएँ ग्रहण करता है।

(२) **वंशानुक्रम का प्रभाव.** टरमन ने १३२ से अधिक बुद्धि उपलब्धि वाले ४:२ बच्चों की नैतिकता की परीक्षा ली और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि असाधारण बुद्धि वाले बालक चरित्र की दृष्टि से मंद बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा ऊँचे रहते हैं।

(३) **घर और संगति का प्रभाव.** वास्तव में घर और संगति का भी असर चरित्र पर अधिक पड़ता है। फर्नाल्ड, हीली और ब्रानर आदि मनोवैज्ञानिकों की शोधों से पता चला है कि लगभग ८० प्रतिशत लड़के-लड़कियों के चरित्र बिगड़ने में घर के दूषित या भ्रष्ट वातावरण और बुरी संगति का अधिक हाथ रहता है।

(४) **संस्थाओं तथा देव स्थानों का प्रभाव.** अधिक शुद्ध पवित्र वातावरण से युक्त संस्थाओं का प्रभाव बालकों के चरित्र पर पड़ता है। साथ ही देव स्थानों का।

(५) **मनोरंजन सम्बन्धी कार्यक्रमों, उत्तम साहित्य तथा शिविरों व दलों का प्रभाव.** नैतिक विकास मे खेल-कूद सांस्कृतिक कार्यक्रम, उत्सव और महापुरुषों की जयन्तियों से बालक कई सद्गुण ग्रहण करते हैं और अपने चरित्र का निर्माण करते हैं।

(६) **बोलपटों का प्रभाव.** पश्चिमी देशों में बालकों के नैतिक विकास के लिए सुन्दर फिल्मों का निर्माण हुआ है।

(७) **माता-पिता का दृष्टिकोण.** बालक के चारित्रिक विकास पर माता-पिता के दृष्टिकोण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि वे बालक का तिरस्कार करते हैं अथवा उनके प्रति उदासीन रहते हैं तो इससे बालक का चरित्र प्रभावित होता है और यदि वे अपने बालकों की अच्छी देखभाल करते हैं और उनके साथ प्रेम-पूर्ण व्यवहार करते हैं तो उनमें चरित्र सम्बन्धी शेष गुणों के प्रादुर्भाव की सम्भावना रहती है।

(८) **परिवार के सदस्यों का स्वभाव.** यदि परिवार के सदस्यों में आपस में कटुता, ईर्ष्या-द्वेष और कलह आदि रहती है तो बालकों में अनैतिक गुणों का विकास हो जाता है और वे परिवार के सदस्यों की अनेक बुराइयां ग्रहण कर लेते हैं। इसके विपरीत यदि उनमें सहयोग और प्रेम की भावना रहती है तो बालकों में अच्छे गुणों का विकास रहता है।

(९) **परिवार के वातावरण का प्रभाव.** यदि परिवार के लोग रोग के शिकार रहते हैं और परिवार का वातावरण गन्दा और अस्वच्छ रहता है तो बालकों का चारित्रिक विकास भी विकृत हो जाता है।

(१०) **परिवार की आर्थिक स्थिति का प्रभाव.** परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी रहने के कारण बालकों को अनेक सुख-सुविधायें प्राप्त रहती हैं और उनकी अनेक इच्छाओं की सम्पूर्ति होती है। इसके कारण उनके चरित्र पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। ऐसी बात नहीं है कि धनी परिवार के सभी बालक सद्‌चरित्र और निर्धन परिवार के सभी बालक दुश्चरित्र हों।

(११) **विद्यालय का प्रभाव.** स्किनर और हेरीसन के कथनानुसार चारित्रिक विकास में सबसे महत्वपूर्ण संस्था विद्यालय है। यहाँ पर बालक अनेक प्रकार के बालकों के सम्पर्क में आते हैं। वे उनसे तथा विद्यालय के आदर्शों से प्रभावित होते हैं। इनमें मानवीय दृष्टिकोणों का निर्माण होता है। जिससे इनके चारित्रिक विकास में सहायता मिलती है।

(१२) **शिक्षक का प्रभाव.** बालक के नैतिक विकास में उचित दिशा प्रदान करने में शिक्षक का बहुत बड़ा योगदान रहता है। बालक अक्सर अपने शिक्षक के अच्छे आदर्शों को अवग्रहण करते हैं तथा अनुकरण करते हैं और उनके आदर्शों के अनुरूप अपने चरित्र को ढ़ालने का प्रयास करते हैं। बुरे आदर्श वाले शिक्षक से वे बुरे गुण ग्रहण करते हैं और अपने चरित्र को बिगाड़ देते हैं।

(१३) **साथी तथा समूह का प्रभाव.** जब बालक समाज के सम्पर्क में आते

हैं तब समूह, टोली तथा संगी-साथियों के चरित्र का उन पर प्रभाव पड़ता है। यदि यह चरित्रहीन होते हैं तो उनका चारित्रिक विकास अवांछनीय दिशा में मोड़ ले सकता है।

(१४) **धार्मिक शिक्षा.** क्रो और क्रो का कहना है कि धार्मिक विद्यालयों में पढ़ने वाले बालक उनमें न अध्ययन करने वाले बालक की अपेक्षा अच्छे गुण वाले होते हैं। धर्म चरित्र-निर्माण में बहुत बड़ा साधन माना जाता है। धर्म की आधार-शिला ईश्वर, जो सभी आदर्शों का आदर्श है, व्यक्ति के नैतिक विकास पर अपना प्रभाव डालता है।

चरित्र अथवा नैतिकता का विकास

जन्म से कोई बालक न सच्चरित्र होता है और न चरित्रहीन। वंशपरम्परा, वातावरण के संघर्ष, विवेक तथा ज्ञान वृद्धि से चरित्र का विकास होता है। चरित्र के विकास तथा सुसंगठन के लिये विविध गुणों की उपेक्षा रहती है। अस्तु, अब देखना है कि कौन से विशेष गुण, आधार और साधन हैं जिनके द्वारा नैतिक विकास में सहायता मिलती है।

(१) **आत्मशक्ति.** विघ्न बाधाओं को पार करते हुये आत्मशक्ति के साथ निर्दिष्ट मार्ग के पथ पर अग्रसर होते रहना ही अच्छे चरित्र का लक्षण है। राणा प्रताप और महात्मा गांधी के जीवन इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

(२) **मानसिक दृढ़ता.** नैतिक विकास में मानसिक दृढ़ता का बहुत बड़ा हाथ रहता है। जो व्यक्ति अनेक विघ्न बाधाओं के बावजूद भी अपने निर्दिष्ट मार्ग से विचलित नहीं होता वह वास्तव में सच्चा चरित्रवान् रहता है। हम गुरु गोविन्द सिंह और मैजिनी के जीवन में यह मानसिक दृढ़ता पाते हैं।

(३) **कर्त्तव्यपरायणता तथा धर्मपरायणता.** कर्त्तव्य को पहिचानते हुये उसके अनुकूल कार्य सम्पन्न करने से चरित्र का खासा विकास होता है। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को जितना अधिक पहिचानता है उसमें औरों की अपेक्षा अच्छा चरित्रबल रहता है। धर्म परायणता से भी अच्छे बुरे का ज्ञान होता है जिससे सदाचार में सहायता मिलती है।

(४) **ज्ञान वृद्धि और अभ्यास.** ऐसा देखा गया है कि सत्ज्ञान से चरित्र गठन में सहायता मिलती है। दूसरे चरित्र के विकास के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है।

(५) **नैतिक उपदेश.** जो व्यक्ति नैतिक उपदेशों को अपने जीवन में उतारते हैं उनके नैतिक उपदेशों का चेतन मन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। प्रत्यक्ष या

अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य, कहानी, महापुरुषों के जीवन-चरित्र और इतिहास के पठन-पाठन से बालकों में नैतिकता की नींव पड़ती है।

(६) **अनुकरण.** बालकों में अनुकरण की स्वभावतः अधिक प्रवृत्ति पाई जाती है। इसलिए बालक चरित्रवान् व्यक्तियों के चरित्र का अनुकरण करके अपने चरित्र को सुन्दर बना सकता है।

(७) **निर्देश.** निर्देश का प्रभाव अचेतन मन पर अधिक पड़ता है। अस्तु निर्देश द्वारा बालकों में अनेक नैतिक सद्गुणों का विकास किया जा सकता है।

(८) **दण्ड और पुरस्कार.** दण्ड ऐसा साधन है जिसके द्वारा अवांछनीय आचरण को रोका जा सकता है। इसी प्रकार पुरस्कार देने से बालकों के चरित्र की भावना सुदृढ़ होती है।

(९) **प्रशंसा और निन्दा.** अधिकांश व्यक्ति प्रशंसा करने पर कोई भी कार्य दुगने उत्साह और इच्छा से करते हैं। निन्दा करने से उनका मन खिन्न हो जाता है। कभी निन्दा का डर भी व्यक्ति को ठीक रास्ते पर लगा देता है। अतः बालक के अच्छे कार्यों की प्रशंसा और बुरे कार्यों की निन्दा से नैतिक विकास में अच्छी मदद मिलती है।

(१०) **आदर्श प्रोत्साहन और रुचियों का विकास.** आत्मसम्मान के स्थायी भाव की नींव पक्की पड़ जाने पर बालक आदर्शों की प्राप्ति की ओर उन्मुख होता है और अपने चरित्र को उत्तरोत्तर ऊँचा उठाता है। विभिन्न उत्तम रुचियों का विकास भी चरित्र को समुज्जवल बनाता है।

(११) **लाड़-प्यार.** बालक सदा सच्चे प्रेम का भूखा रहता है। इसी के द्वारा उसका आत्मविकास सम्भव है। उससे उसे जीवन में प्रोत्साहन और प्रेरणा मिलती है। अस्तु उचित प्रसंग और अवसर पर लाड़-प्यार का प्रदर्शन नैतिकता की नींव पक्की करता है।

नैतिक विकास के स्तर

जीन प्याजे के अनुसार नैतिक विकास के पांच स्तर माने गये हैं—जैसे स्वभाव स्तर, सम वयस्कों के पारस्परिक सामञ्जस्य का स्तर, आधारभूत प्रेरणाओं, प्रेरकों का परिबोधन तथा सराहना का स्तर और नियमों, सिद्धान्तों तथा विचारों की संहिताकरण का स्तर। पर मैक्डूगल ने नैतिक विकास की चार अवस्थायें या स्तर माने हैं जैसे—मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार का स्तर, पुरस्कार और दण्ड का स्तर, सामाजिक स्वीकृति का स्तर और परहित कामना तथा सामाजिक प्रेम का स्तर।

नैतिकता के विकास का संक्षिप्त इतिहास

नैतिकता का विकास विभिन्न कालों में विभिन्न अवस्थाओं में हुआ जिसका संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है :—

(१) **वर्जन अवस्था (टोटम स्टेज)**. इस अवस्था में सभी आदिम जाति के लोग इस बात में विश्वास करते थे कि उनके आचरण स्वेच्छ दण्ड नीति द्वारा प्रभावित होते थे, जिसकी कि उत्पत्ति अति प्राकृतिक संसार में हुई। इस अवस्था में मानवीय व्यवहार वर्जन से अनुशासित होते थे अर्थात् आदिम जाति के आचरण व व्यवहार निर्नैतिक विधि द्वारा नियन्त्रित होते थे। इस प्रकार वर्जन या निषेध ही नैतिकता का स्वरूप था।

(२) **वैध अवस्था (लीगल स्टेज)**. चूंकि वर्जन अवस्था में बहुत से वर्जित आचरण कार्यों के वर्जन के कारण घटित हो जाते थे तिस पर भी दण्ड से छुटकारा मिल जाता था। अतः इसी कमी को दूर करने के लिये वैध अवस्था का जन्म हुआ। हम्मूरबी, मोसेज और सोलन ने परम्पराओं तथा पुराने रीति-रिवाजों को नैतिक नियमों या कानून के बन्धन में बांधा। अतः इस अवस्था में नैतिकता नैतिक नियमों द्वारा आंकी जाने लगी। व्यक्ति नैतिक नियमावली या आचार संहिता के विरुद्ध जाता था। उसका व्यवहार अनैतिक समझा जाता था और जो उसके अनुरूप चलता था उसका व्यवहार नैतिक माना जाता था। इस प्रकार परिपक्व नैतिकता की सत्ता ही आधार शिला थी। सत्ता या समाज द्वारा बनाये हुये नैतिक नियम भंग नहीं किये जाते थे।

(३) **व्युत्क्रम अवस्था (रेसीप्रोकल स्टेज)**. द्वितीय अवस्था की एक कमी यह अनुभव की गई कि संसार के सभी मनुष्य एक समान नहीं हैं। एक मनुष्य के लिए वही वस्तु अमृत हो सकती है और दूसरे के लिए विष। इसलिये सभी मनुष्यों को एक से नैतिक नियमों की लकड़ी से नहीं हांका जा सकता। इस प्रकार की कार्यवाही एक प्रकार से मानव की जन्मसिद्ध स्वायत्तता को छीनने के सदृश्य है। इसलिये यह बात अनुभव की गई कि मनुष्यों को नैतिक नियमों का पालन करने की बजाय दूसरों की भावनाओं या भलाई का ख्याल करते हुये अपने आचरणों को नियन्त्रित करना आवश्यक है। इसीलिये प्याजे का कहना है कि व्युत्क्रम या पारस्परिकता स्वायत्तता का निर्धारक तत्व है।

(४) **सामाजिक अवस्था (सोसियल स्टेज)**. नैतिकता के विकास के इतिहास में चौथी अवस्था सामाजिक अवस्था है। यह बात निस्सन्देह कही जा सकती है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और वह मानवीय और व्यक्तित्व समाज को प्रतिबिम्बित करता है जिसमें कि व्यक्ति भी सन्निहित रहता है। राइसमेन का

कथन है कि मध्यकाल में मनुष्य परम्पराओं के नियन्त्रण में था और वह नियन्त्रण सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति द्वारा आरोपित था। इस प्रकार नैतिकता परम्पराओं के सामाजिक नियन्त्रणों से उद्भूत थी। अन्त में राइसमेन का कहना है कि वर्तमान मनुष्य की नैतिकता लोकमत द्वारा नियन्त्रित होती है। पेक और हेवीघर्स्ट का कथन है कि नैतिकता की दृष्टि से परिपक्व मनुष्य तर्कनापरक यथार्थवादी परार्थवादी होता है।

विभिन्न प्रमुख मनोवैज्ञानिकों द्वारा वर्णित विभिन्न अवस्थाओं में नैतिक विकास

शिशु न नैतिक होता है और न अनैतिक। उसके आचरण तथा व्यवहार स्वभाविक प्रवृत्तियों एवं संवेदनाओं से प्रभावित होते हैं। समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक और अनैतिक नियम उसके लिए कोई मायने नहो रखते। दण्ड पुरस्कार अथवा प्रशंसा-निन्दा और सुख-दुख के आधार पर किसी कार्य के औचित्य और अनौचित्य के बारे में निर्णय लेता है। उसे किसी कार्य से हानि या लाभ का महत्व नहीं रहता और न मतलब। नैतिकता के विकास के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—
बोरापस स्मिथ की पुस्तक 'ग्रोइंग माइन्ड्स' के अनुसार नैतिक विकास में सर्वप्रथम अवस्था विनयशीलता तथा आज्ञाकारिता की रखी है। अतः आज्ञाकारिता के आधार पर किसी कार्य को ठीक या गलत समझा जाता है। जिस कार्य करने के लिए आज्ञा दी जाती है और उसे वह करता है तो वह कार्य ठीक समझा जाता है और जिस कार्य करने के लिए वह अवज्ञा करता है तो वह कार्य गलत समझा जाता है। इस अवस्था के पश्चात दूसरी अवस्था में शिशु के मन में एक भावना काम करती है कि मानवीय आचरण को कुछ नियम नियन्त्रित करते हैं जिन्हें सभी को मानना पड़ता है। तब वह इस बात का अनुभव करता है कि नैतिकता नियमों के मानने में निहित है और वही कर्म या कार्य नैतिक या ठीक समझा जाता है जो समाज से स्वीकृत नियमों के अनुकल रहता है और जो समाज के नियमों के प्रतिकूल रहता है वह गलत समझा जाता है। नैतिक विकास की तीसरी अवस्था व्यक्तिगत समायोजन की है। जिसमें किशोर अच्छे या बुरे का समायोजन या असमायोजन के आधार पर निर्णय लेता है।

दूसरे मनोवैज्ञानिक बीट्रिस स्वैनसन के अनुसार नैतिक विकास की तीन अवस्थाओं जैसे--शैशवावस्था, बाल्यावस्था और किशोरावस्था में नैतिक विकास अपने तईं ईमानदार होने और दूसरों की नैतिकता के बीच रचनात्मक तनाव होने के कारण सम्भव होता है। जन्म से लेकर ५ वर्षों तक नैतिकता की भावना

व्यक्तिगत बालक की आवश्यकता रहती है जो कि उसके स्वभाव के अनुकूल रहती है और आवश्यकता जो दूसरों को स्वीकृत रहती है । इन दोनों के बीच तनाव से प्रभावी रहती है अर्थात् व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं के बीच तनाव से अधिमत्ता रहती है । उदाहरण के लिए बालक अपने खिलौने खेलना चाहता है, आराम-दायक कुर्सी पर बैठना चाहता है परन्तु यह बात उसके संगी-साथी, माता-पिता या शिक्षक द्वारा पसन्द नहीं की जाती । अतः तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । अतः नैतिकता की दिशा में पहिला कदम वह इस रूप में उठाता है कि वह अपनी कार्य पद्धति से सबको खुश रक्खे साथ ही वह अपना सब काम दूसरों के सहयोग से करता है । यद्यपि उसकी आन्तरिक प्रेरणा मूलरूप से आत्मकेन्द्रित होती है परन्तु उसके कर्म या कार्य दूसरों को खुश करने वाले होते हैं । आगे चलकर बालक को एक और बात का पता लगता है कि समाज में वह नैतिक अनुक्रम है जिसे वह समझते या मानते हैं । अतः तनाव दूर करने के लिए अधिकारी सत्ता का कहना मानना आवश्यक होता है । जीवन के प्रारम्भिक दिनों में नैतिकता की यह सत्ता माता-पिता के हाथों में रहती है, परन्तु ८वें वर्ष की अवस्था में यह सत्ता खिसक कर शिक्षकों के हाथ में चली जाती है । अतः इस अवस्था में शिशुओं को नैतिकता की प्रेरणा अधिकतर शिक्षकों द्वारा मिलती है ।

स्वेनसन के अनुसार दूसरी अवस्था बाल्यावस्था ८ वर्ष से १२ वर्ष के बीच की है । इस अवस्था में अनेक मित्रतायें स्थापित होती हैं, अनेक संगी-साथियों के बीच सम्बन्ध जुड़ते हैं और नवकिशोर की टोलियों का प्रभुत्व रहता है जिन्हें सभी को मानना पड़ता है । इस अवस्था में नैतिकता के निर्धारण में संगी-साथियों तथा इष्ट मित्रों की सत्ता प्रभावशाली कारक मानी जाती है । तीसरी अवस्था, किशोर अवस्था, १३ वर्ष से लेकर १९ वर्ष की रहती है । इस अवस्था में किशोर के मानस-सागर में संघर्ष और तनाव की उत्ताल तरंगें उठती हैं । समाज द्वारा निर्मित या स्वीकृत नैतिक नियमों की अवहेलना करने में उसे मजा आता है । अतः स्वेनसन के अनुसार उसकी आत्मा और समाज के बीच का नैतिक संघर्ष उसके अन्तर्दर्शन से ही दूर हो सकता है । आगे चलकर किशोरावस्था में नैतिक विकास में परहित कामना तथा सामाजिक प्रेम महत्वपूर्ण कार्य करते हैं ।

गैसेल ने नैतिक विकास में तीन अवस्थायें मानी हैं—पहिली जन्म से लेकर ५ वर्ष के बीच की अवस्था मुख्यतः आत्म केन्द्रित रहती है जैसे २ लड़कों द्वारा रंग का डब्बा दरी पर गिर जाने से आत्म-केन्द्रित भावना के कारण वे एक दूसरे को दोषी ठहराते हैं । इस अवस्था के अन्तिम चरण में नैतिकता बालकों द्वारा नियमों की मान्यता, उसकी स्वार्थपरता और परहित कामना के बीच तनाव होने

के कारण उद्‌भूत होती है। दूसरी अवस्था ६ से १० वर्ष की रहती है। इसमें नैतिक विकास वयस्कों पर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई पराश्रयता पर निर्भर रहता है। इस अवस्था में उस पर दवाव पड़ने के कारण अच्छे बुरे की भावना का निर्णय नहीं लिया जाता, बल्कि माता-पिता पर उनके प्रभाव को आधारभूत मानकर निर्णय लिया जाता है। कार्य या कर्म की अच्छाई या बुराई का वयस्क की स्वीकृति या अस्वीकृति के साथ समीकरण किया जाता है।

११ से १६ वर्ष के बीच की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था में किशोर स्वतन्त्र अभिकर्ता बन जाता है। इस अवस्था में वह कानून या नियम और माता-पिता की देखभाल की पराश्रयता को त्यागकर समाज में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर लेता है। इस अवस्था में उसका आन्तरिक वेग जागता है और उसी के आधार पर वह नैतिक निर्णय करता है। मित्रों और टोली की पूर्ण निष्ठा की वह ज्यादा कीमत करता है। तर्कना शक्ति तथा प्रेम के विकास के कारण उसमें मानसिक अराजकता नहीं आने पाती, बल्कि दूसरों की भलाई का ज्यादा ख्याल हो जाता है।

जीन प्याजे ने नैतिक विकास में चार अवस्थायें मानी हैं जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति को गुजरना पड़ता है। नैतिक विकास की प्रथम अवस्था में नैतिक निर्णय में अहम्-केन्द्रितता का समावेश रहता है। इसमें बालक अपने से बड़ों के प्रति प्रतिवाद नहीं करता। इस अवस्था में बालक की सहयोग करने की योग्यता विद्य-मान नहीं रहती। वह सत्ता की आवाज का विरोध करता है। इस प्रकार बालक की अहम् केन्द्रित क्रियाओं में संमविन्यास तथा असंमविन्यास दोनों तत्व रहते हैं। दूसरी अवस्था आपतत्ववादी रहती है। इस अवस्था में बालक की नैतिकता में सत्ता में सम्पूर्ण समर्पण की भावना रहती है। इसमें नैतिक निर्णय इस दृष्टि से लिया जाता है कि नैतिक नियम छोड़े नहीं जा सकते। इसमें बालक को बिना ननुनय किये बड़ों की आज्ञा माननी पड़ती है और उनके द्वारा बनाये हुये नैतिक नियमों को सही मानना पड़ता है।

तीसरी अवस्था परस्परता तथा व्युत्क्रम की अवस्था है। इस अवस्था में यह बात नहीं मानी जाती कि नैतिक नियम भंग नहीं किये जा सकते। इसमें नैतिक नियम समाज के सृजन माने जाते हैं जिनका सम्मान करना जरूरी होता है। अतः नैतिक नियम स्वीकार करने योग्य माने जाते हैं, कारण कि वे सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। नैतिक नियम अब इसलिये स्वीकृत किये जाते हैं कि वे सामाजिक बराबरी वालों के बीच अनुरूपता की अभिव्यक्ति के रूप में उद्‌गमित होते हैं। इसमें वही कार्य या कर्म अच्छा समझा जाता है जो सामाजिक दृष्टि से

न्यायपूर्ण या उचित रहता है और वही कार्य बुरा समझा जाता है जो सामाजिक दृष्टि से अनुचित माना जाता है।

चौथी अवस्था साम्य की अवस्था है। इसमें सत्ता को मानवीय सम्बन्धों की अनुरूपता के अनुसार समर्पित करना पड़ता है। इसमें परहित कामना और सामाजिक प्रेम का उद्‌गमन रहता है। इसमें बालक को बने हुये नैतिक नियमों का विचार नहीं करना पड़ता, बल्कि व्यक्ति की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना पड़ता है।

कोह्‌लबर्ग ने नैतिक विकास के अन्तर्गत नैतिक निर्णय ६ प्रकार के माने हैं-- जैसे दण्ड पुरस्कार और विनय पर आधारित, सुख-दुःख पर आधारित, दूसरों की स्वीकृति पर आधारित, आपतत्व या सत्ता पर आधारित, प्रजातान्त्रिक रूप में स्वीकृत नैतिक नियमों पर आधारित और अन्तर्विवेक पर आधारित।

डरखीम यह मानता है कि नैतिकता कोई मायने नहीं रखती यदि वह सामाजिक इकाई में सन्निहित नहीं है। प्रत्येक सामाजिक संरचना या पद्धति में उसके अनुरूप नैतिकता अवश्य रहती है अर्थात् वह सामाजिक संरचना से सहज रूप में सम्बन्धित रहती है। इस मत की पुष्टि में वह एक उदाहरण देता है कि फ्रांसीसी समाज में धर्म और राजनीति अलग-अलग है। अतः वहाँ के समाज की नैतिकता स्वाभावतः धर्मनिरपेक्ष होगी। नैतिकता ३ तत्वों को लेकर बनती है जैसे—अनुशासन, संयोजन और स्वायत्तता। डरखीम के अनुसार अनुशासन का अर्थ है समाज के प्रति नियमित अनुक्रिया और समाज की मांगों के प्रति सम्पूर्ण और संगत समर्पण। संयोजन का अर्थ है समाज वर्ग के साथ अपने आपका तादात्म्य होना। स्वायत्तता का अर्थ है कि व्यक्ति का स्वतन्त्र रूप से समाज का अनुशासन स्वीकार करना तथा इच्छापूर्वक समाज या वर्ग के साथ संयोजन करना।

हेवीघर्स्ट और बाटावा के अनुसार व्यक्तिगत और तर्क संगत नीति संहिता या नैतिकता का विकास व्यक्तिगत बनावट और समायोजक के प्रारूप के संयोगों से संभव होता है। आगे चलकर उनका कहना है कि चरित्र या नैतिकता की शिक्षा और उसका विकास दण्ड और पुरस्कार अन्ध अनुकरण और विमर्श तथा चिन्तन के द्वारा होता है। पैक और हैवीघर्स्ट ने अवस्थानुसार चार प्रकार के चरित्र माने हैं। जैसे शैशवावस्था में निर्नैतिक, पूर्व बाल्यावस्था में कार्यसाधक, उत्तर बाल्यावस्था में समविन्यासी, अविवेकी और अन्तर्भावनाशील और किशोरावस्था और प्रौढ़ावस्था में तर्कनापरक पदार्थवादी।

अवस्थागत नैतिक विकास

शैशवावस्था

बौद्धिक विकास ठीक तरह से न होने के कारण शिशु को अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं होता। इस समय शिशु न नैतिक होता है और न अनैतिक। बल्कि वह निर्नैतिक होता है। लगभग २॥ वर्ष की अवस्था में शिशु में कुछ अच्छे बुरे की भावना का विकास हो जाता है। वह खाने-पीने, पहिनने-ओढ़ने तथा अन्य नियमित क्रियाओं के तौर-तरीकों को देखकर अन्य किसी शिशु को अच्छा कहता है और किसी को बुरा। पैक और हेवीघर्स्ट के अनुसार उसके कोई नैतिक सिद्धान्त नहीं होते न उसमें अन्तर्विवेक या पराहम ही होता है। अधिकतर वह अपनी सम्वेदनाओं तथा स्वाभाविक प्रवृत्तियों से प्रमाणित होता है। वह कुछ क्रियाओं को अपनी इच्छानुसार करने और कुछ को न करने का अपना एक दृष्टिकोण बना लेता है। अर्थात वह मनमानी करता है किसी को प्रसन्न या दुखी बनाने की भावना से नहीं। बड़ों द्वारा कही हुई या बतलाई हुई कुछ बातों के प्रति वह अधिकतर नकारात्मक दृष्टिकोण बनाता है। कोई कार्य मना करने पर भी करता है। वह किसी कार्य व क्रिया की अच्छाई या बुराई का निर्णय सुख, सुविधा, स्वार्थ तथा सन्तोष के आधार पर करता है।

३-४ वर्ष की अवस्था में बच्चे में कुछ समझ आने लगती है। वह प्रशंसा और निन्दा के आधार पर ही किसी कार्य को अच्छा और किसी को बुरा समझता है। जिस कार्य की लोग प्रशंसा करते हैं उसे वह अच्छा और जिसकी निन्दा करते हैं उसे वह बुरा मानता है। इसके अतिरिक्त वह अच्छे बुरे कार्य की पहिचान पुरस्कार और दण्ड के आधार पर करता है। जिस कार्य को करने के लिए माता-पिता आज्ञा देते हैं उसे अच्छा कार्य समझता है और जिस कार्य को रोकने के लिए वे आज्ञा देते हैं उन्हें वह बुरा समझता है। यदि कोई दो-वर्षीय शिशु टेबिल के कपड़े पर दूध गिरा देता तो छोटी अवस्था में उसे डर व चिन्ता हो जाती परन्तु ४ वर्ष की अवस्था में समझ का कुछ विकास हो जाने पर वह अपराध की भावना का अनुभव करता है। यह अपराध की भावना उसकी अन्तर्आत्मा से उद्भूत होती है, न कि माता-पिता के दण्ड देने या निन्दा करने या डांटने फटकारने से। ३-४ वर्ष की अवस्था में माता-पिता शिशु को तोड़-फोड़ करने के कार्य करने से रोकते हैं और संयम से काम लेने का महत्व दर्शाते हैं। अनुकरण तथा पुरस्कार शिशुओं के नैतिक व्यवहारों तथा आचरणों को अधिक प्रभावित करते हैं। वे अधिकतर माता-पिता व बूढ़ों के नैतिक व्यवहारों का अनुकरण करते हैं। पाँच वर्ष की आयु में वे अपने माता-

पिता की इच्छानुसार कार्य करने लगते हैं और उनकी मान्यताओं तथा मूल्यों को अपनाने तथा स्वीकार करने लगते हैं।

इसके अतिरिक्त शैशवावस्था में शिशु में सम्पत्ति अधिकार की भावना नहीं रहती। वह मनमाने किसी की चीज या खिलौना बिना पूछे उठा लेता है और जो चीज अच्छी लगती है उसे ले लेता है। ऐसा करने में वह चोरी की भावना से नहीं अनुप्राणित होता। इसी अवस्था को पैक और हेवीघर्स्ट ने कार्य साधने की अवस्था कहा है। इसमें शिशु आत्म-केन्द्रित रहता है और दूसरों की भलाई और प्रतिक्रिया का ख्याल अपनी स्वार्थ सिद्धि या ऊँचा लाभ उठाने की दृष्टि से करता है। इसमें पहले हम बाद में तुम की भावना काम करती है। क्रो और क्रो (चाइल्ड साइकलाजी, पृ० १६१) के शब्दों में जैसे-जैसे शिशु बड़ा होता है वैसे-वैसे अच्छाई-बुराई, आज्ञापालन एवं आज्ञा-उल्लंघन, ईमानदारी तथा बेइमानी उसके मौखिक शब्द-कोष के अंग बनते जाते हैं।

बाल्यावस्था

पूर्व बाल्यावस्था में बालक के नैतिक अहम्-केन्द्रित होते हैं। इस अवस्था में सत्ता की इच्छाओं और अनिच्छाओं के सामने बालक को घुटने टेकने पड़ते हैं और समाज की आज्ञा बिना ननुनच किये माननी पड़ती है। अच्छे-बुरे, बहुत ठीक, और खराब आदि शब्दों के प्रयोग से अच्छे और बुरे का निर्णय लिया जाता है। उसे इस बात का भी ज्ञान हो जाता है कि समाज के नैतिक नियमों के अनुसार न चलने पर उसे शरारती कहा जावेगा। नियम के विरुद्ध कार्य करने पर वह पश्चाताप की भावना नहीं प्रगट करता, बल्कि केवल शाब्दिक दुख व्यक्त करता है। गलत कार्य करने के समय पकड़े जाने पर भी वह अपने को दोषी नहीं ठहराता। दण्ड का भय उसे सताता जरूर है। पूर्व बाल्यावस्था के बालक में कुछ कदाचरण होते हैं जैसे—बिस्तर में पेशाब कर देना, मचलना और बेहूदी बातें करना इत्यादि। इस अवस्था में बालक समूह के नैतिक विचारों के अनुरूप अपने नैतिक विचार रखने का भरसक प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त लर्नर और मर्फी के अनुसार बालक के दो प्रकार के नैतिक स्तर होते हैं। पिता से अधिक डरने के कारण वह अवज्ञा का काम करने में हिचकता है और विपरीत पक्ष में माता से पिता की अपेक्षा कम डरने के कारण वह कोई भी बुरा आचरण करने में नहीं हिचकता।

उत्तर बाल्यावस्था में बालक का परिवार के अतिरिक्त समाज के अन्य लोगों तथा संगी-साथियों के साथ सम्पर्क बढ़ता है। इसके फलस्वरूप उसे इस बात का

अनुभव होता है कि जो चीज या पदार्थ घर में अच्छे या बुरे माने जाते थे वे घर के बाहर समाज में अच्छे या बुरे नहीं समझे जाते। अतः घर और बाहर के नैतिक मानकों में विरोध की दशा तथा तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। स्वेनसन के अनुसार इस नैतिकता के तनाव को दूर करने के लिए वह ऐसी कार्य-पद्धति अपनाता है जिससे समाज के सब लोगों को सन्तोष, सुख और आनन्द की प्राप्ति हो। इस अवस्था में उसके नैतिक प्रत्यय कुछ उदार होने लगते हैं। इसमें वही कार्य अच्छा या बुरा समझा जाता है जो सामाजिक दृष्टि से उचित या अनुचित समझा जाता है। इस अवस्था में वह अपने संगी साथियों के नैतिक मानकों के नीचे नहीं गिरना चाहता, क्योंकि वह समूह या टोली का हो जाता है। समूह या टोली को जो कार्य अच्छा लगता है उसे वह अच्छा समझता है और जो उसे बुरा लगता है उसे वह भी बुरा समझने लगता है। अतः उसे अपने बचाव की ज्यादा पड़ी रहती है। किसी के कार्य करने पर यदि उसको दण्ड मिलता है और यदि वह उसे अनुचित समझता है तो वह उसका विरोध करता है और उसके विषय में शिकायत करता है। इस अवस्था में शालाओं में हीन घरों से आये हुए बालक अनेक अनैतिक व्यवहार करते हुए पाये जाते हैं जैसे—चोरी करना, झूठ बोलना गाली बकना, हल्ला करना, छोटे या कमजोर बालकों को तंग करना और अन्य गैर जिम्मेदाराना काम करना इत्यादि। बाल्यावस्था में सामान्य रूप से बालक कम से कम मौखिक रूप से चोरी करने, झूठ बोलने, धोखा देने, छोटे बच्चों और पशुओं को कष्ट पहुँचाने की निन्दा करने लगता है। स्टैन्ग के अनुसार ६, ७ और ८ वर्ष की आयु में बालक में न्याय, ईमानदारी आदि मूल्यों की भावना का विकास होने लगता है।

पैक व हैवीघर्स्ट के अनुसार इस अवस्था में बालक अपने टोली के नैतिक व्यवहारों के अनुरूप समविन्यासी रूप में कार्य करता है। नैतिक नियमों के विरुद्ध जाने पर उसे बेचैनी का अनुभव होता है और उसे सदा इस बात का ख्याल रहता है कि उसके आचरण या व्यवहार पर अन्य लोगों का क्या प्रभाव पड़ेगा। इस अवस्था में बालक अविवेकशील और अन्तर्भावनाशील रहता है। वह अच्छे बुरे के औचित्य और अनौचित्य को अपने आन्तरिक मानक के अनुसार निर्धारित करता है। इसमें आचार-संहिता की अनुरूपता का ख्याल रहता है। उसे कदाचरण करने पर अपराध करने का पश्चाताप होता है और उसमें यह भावना काम करती है कि उसने अपनी सत्यनिष्ठा का उल्लंघन किया है। पिकूनस के अनुसार ९ या १० वर्ष की अवस्था में वह दूसरों की आवश्यकताओं को समझने लगता है। इस अवस्था में निर्धारित नियमों के अनुसार खेल-खेलने या अन्य कार्य करने के महत्व को समझने लगता है। जब कोई अनुशासन का कार्य करने का मौका आता है तो बालक अपने किये

पर दण्ड को स्वीकार करता है। अब वह लोक आलोचना तथा निन्दा के प्रति संवेदनशील रहता है, कारण कि वह समझता है कि उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रति चुनौती है। इसके कारण उसमें हीनता के भावों का जन्म होता है। इस अवस्था में अहम्-संप्रत्यय का विकास होता है। ब्रेकन रिज और विन्सेण्ट के अनुसार इस अवस्था में बालक में परहित-कामना और सामाजिक प्रेम उभारता हैं। पिकूनस के अनुसार इस अवस्था में बालक दूसरों के प्रति अधिक उत्तरदायित्व हाथ में लेता है जैसे—सुरक्षा पेट्रोल। आयु वृद्धि के साथ-साथ उसका कर्त्तव्य और कार्य के प्रति तादात्म्य का भाव बढ़ता है। अच्छे-बुरे की भावना में निखार आ जाता है और बालक विभिन्न परिस्थितियों में उचित और अनुचित में अन्तर जानने लगता है। इस समय बहुत से बालक पर यदि विश्वास किया जाता है तो धोखा देने की सम्भावना रहती है। चूंकि आवेगी और संवेगात्मक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण विकसित होता है इसलिए उसमें माता-पिता तथा शाला का नियन्त्रण नैतिक और चारित्रिक सिद्धान्तों पर आधारित स्वतः नियमन विकसित हो जाता है। क्रो और क्रो (चाइल्ड साइकालाजी, पृ० १६४) के अनुसार बालकों में नैतिकता की सामान्य धारणाओं और नैतिक सिद्धान्तों के कुछ ज्ञान का विकास हो जाता है। इस अवस्था में बालक केवल दूसरों के आदेशों पर न चलकर अच्छे-बुरे के बारे में कुछ नैतिक धारणाएँ बना लेता है।

किशोरावस्था.

नैतिक मानकों को स्वयं अपने हाथ में लेने के कारण नवकिशोर बहुधा और अन्य लोगों के लिए इतने ऊँचे मानक बनाता है जो सदा उसकी पहुंच से परे रहते हैं। जब उसके व्यवहार मानकों से नीचे रहते हैं तब उसके अन्दर दोष-भावना पैदा हो जाती है। अपनी कमियों के लिए वह अपने को तथा अन्य लोगों को दोषी ठहराता है। इसके लिए उसमें निष्पक्षता की भावना प्रबल होने के कारण जिनका व्यवहार मानकों के नीचे गिरा होता है उनके प्रति वह असहनशील हो जाता है। इस समय वह अपनी नैतिक नियमावली बनाता है जो कि उसकी बाल्यावस्था की टोली के मूल्यों और विश्वासों के अनुरूप रहती है और उस अवस्था के बने हुये नैतिक सम्प्रत्ययों पर आधारित होती है। वह दूसरों की भावनाओं की चोट से बचने के लिए सामाजिक झूठ को बुरा नहीं समझता। नवकिशोर बहुत से गलत काम इसलिये करता है कि वह अधिक अच्छे तरीके से समस्या को सुलझाना नहीं जानता। साथियों के सामने अपने को अच्छा साबित करने तथा बड़ों के शासन से मुक्त होने के लिए वह कभी-कभी जान-बूझकर कदाचरण करता है। उन कदाचरणों के अन्तर्गत

शिक्षक को तंग करना, खेल की चीजों की उठाईगिरी करना, तोड़-फोड़ करना, शाला से भाग जाना आदि कार्य शामिल रहते हैं। स्कूल के किशोर समाज के द्वारा न अपनाये जाने, गरीब परिवार के होने, कठोर अनुशासन में रहने तथा अधिक दण्ड पाने के कारण अपचार में प्रवृत्त हो जाते हैं।

स्वेनसन के अनुसार इस अवस्था में नवकिशोर के जीवन में बड़ों के शासन से मुक्त होने की प्रवल भावना तथा संघर्ष व तनाव की स्थिति होने के कारण नैतिक नियमों के अवहेलना करने की इच्छा उसमें तीव्र रहती है। वह बड़ों की सत्ता का विरोध करता है। गैसेल के अनुसार चूंकि नवकिशोर स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर लेता है, इसलिए माता-पिता द्वारा निर्धारित नैतिक नियमों के पालन करने की परवाह नहीं करता। माता-पिता द्वारा निर्धारित नैतिक नियमों की अपेक्षा मित्रों तथा टोली द्वारा निर्धारित नियमों के प्रति वह ज्यादा निष्ठावान होता है।

पिकूनस के अनुसार उत्तर-किशोरावस्था में स्वायत्तता और आत्म नियन्त्रण नैतिक विकास के प्रमुख प्रभावशाली तत्व माने जाते हैं। आने वाली प्रौढ़ता की अनुभूति सहज स्वतन्त्रता के लिए प्रयास किशोर को अपने व्यवहार, आचरण, योग्यतायें और कमजोरियों को सावधानीपूर्वक तौलने के लिये वाध्य करते हैं। वह अर्थो तथा लक्ष्यों की खोज करता है और निर्णय करता है कि वह किस प्रकार का व्यक्ति बनना चाहता है। वह अपने समाज व समुदाय और धर्म के आचार और उसके माता-पिता की इच्छाओं पर विचार करता है। वह अपनी आत्म नियन्त्रण की शक्ति का उपयोग अपने इच्छित शील गुणों को आकलित करने में करता है। समय-समय पर संगी-साथी, माता-पिता, और अन्य लोगों के विचार उसके मन को क्षुब्ध करते हैं। दूसरों के विचारों को ध्यान में रखकर वह चेतन-अचेतन रूप में अपने स्वयं का मूल्यांकन करता है। व्यक्तित्व तथा नैतिकता किशोर के अहम समप्रत्यय को प्रतिबिंबित करती है। आत्म शक्ति में अभिवृद्धि का नैतिकता के विकास के साथ सम्बन्ध रहता है। पैक और हैवीघर्स्ट ने इस बात की पुष्टि की है। नैतिक परिपक्वन का उच्चतम स्तर का प्रतिनिधित्व तर्कनापरक परार्थवादी किशोर करता है जो कि स्थिर मूल्यों और सिद्धान्तों का प्रदर्शन करता है और वह उन्हीं के द्वारा निर्देशित भी होता है। इस प्रकार का किशोर दूसरों की भलाई में सबसे अधिक दिलचस्पी लेता है और वह अच्छे या बुरे, उचित या अनुचित के आन्तरिक मानक से निदेशित होता है। इस अवस्था में उसके मन में जीवन दर्शन का विकास होता है और वह प्रौढ़ों की धार्मिक धारणा के अनुसार नैतिक निर्णय लेता है।

हरलाक के अनुसार उत्तर-किशोरावस्था में अच्छे और बुरे के नैतिक

सम्प्रत्ययों में बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं। किशोर-किशोरियाँ अपने सीखे हुये नैतिक प्रत्ययों की अपने बढ़ते हुये सामाजिक अनुभवों के साथ ही परस्पर विरोधी परिस्थितियों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुये दायरे में लागू करने में कठिनाई होती है, परन्तु वे ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं त्यों-त्यों परस्पर विरोधी परिस्थितियों का सामना करने में अधिकाधिक योग्य होते जाते हैं। नैतिक दृष्टि से निन्दनीय कार्य, अश्लीलता, चोचलेबाजी आदि के प्रति सहनशीलता और सहिष्णुता आती है। इस अवस्था में लिंगों के अनुसार किशोर-किशोरियों की नैतिक नियमावलि अलग-अलग होती है। जैसे एक कार्य जो लड़की के लिए निन्दनीय समझा जाता है, वही कार्य लड़के के लिए अच्छा माना जाता है। इस अवस्था में किशोर नैतिक नियमावलि का उल्लंघन करना बुरा समझता है। यदि उसका व्यवहार समाज के नैतिक नियमावलि से विरुद्ध पड़ता है तो वह अपने या दूसरों को जिम्मेदार ठहराता है और नियम तोड़ने वाले के प्रति रोष प्रकट करता है। इस समय नैतिक परिपक्वता आती है जिसके फलस्वरूप वह नैतिक नियमावलि के अनुसार काम करता है।

प्याजे और इनहेलडर के अनुसार चूंकि किशोरावस्था में विमर्शक चिन्तन शक्ति और तर्कना शक्ति का विकास हो जाता है इसलिए किशोर में आत्म-केन्द्रितता बढ़ जाती है और वह आत्मा की आवाज के अनुसार आचरण व व्यवहार के औचित्य या अनौचित्य के विषय में नैतिक निर्णय लेता है। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में मानसिक शक्ति और तर्कना शक्ति का विकास होता है। अतः किशोर इनके आधार पर कोई नैतिक निर्णय लेता है। किशोरावस्था में किशोर के नैतिक विकास का उसके मानसिक तथा सामाजिक विकास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस अवस्था में किशोर-किशोरियों में यौन प्रवृत्ति का बड़ा जोर रहता है अतः इस आयु में अच्छे-बुरे की धारणाओं का विकास यौन सम्बन्धी व्यवहारों से अधिक प्रेरित होता है। परन्तु संस्कृतियों का काम-प्रवृत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विचार पाया जाता है इसलिए किशोर-किशोरियों के नैतिक आचार-व्यवहार तथा नैतिक निर्णय के विषय में भिन्नता का पाया जाना स्वाभाविक है।

शाला और परिवार के अतिरिक्त सामान्य सामाजिक वातावरण का भी किशोर के नैतिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। इसीलिए सभ्य और असभ्य समाजों में किशोर-किशोरियों के नैतिक आचार-विचारों में भारी अन्तर पाया जाता है। समाज में प्रचलित नैतिक धारणाओं का किशोर पर प्रभाव पड़ता है। मुसेन, कौन्गर और कागन के अनुसार किशोर अवस्था में इन व्यवहारों जैसे—स्वतन्त्रता, परतन्त्रता, आक्रमकता, काम, धार्मिक कृत्य, ईमानदारी,

सहानुभूति और अधिक प्रतिद्वन्दिता के नैतिक मानकों के औचित्य तथा अनौचित्य के विषय में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन तीन कारणों में से किसी एक कारण के फलस्वरूप होता है। वे कारण ये हैं—स्वीकृति प्राप्त करने अथवा अस्वीकृति बरकाने के उद्देश्य से दूसरे लोगों विशेषकर मित्रों से समविन्यास करना, आदर्श (माडेल) के साथ तादात्म्य सुदृढ़ बनाने के लिए आदर्श की अभिवृत्ति का अवग्रहण करना, व्यक्ति के शेष मूल्यों के साथ सर्वांग समता और विन्यास कायम रखने के लिए नई अभिवृत्ति का धारण करना।

एक ओर मित्र-मण्डली व्यक्ति के साथ काम, आक्रमकता, स्वतन्त्रता या धर्म के विषय में उसके मानकों को अवग्रहण करने के लिए जोर जबर्दस्ती करने का प्रयास करती है। कतिपय किशोर टोली के मूल्यों के अनुरूप कार्य करते हैं और टोली के विश्वासों को खुले रूप में मानते हैं। दूसरी ओर कतिपय किशोर एक नायक का चुनाव करके उनके नैतिक मानकों को अपनाते हैं। इस प्रकार कुछ किशोर उस प्रौढ़ के धार्मिक तथा यौन सम्बन्धी उदार विचारों को अवग्रहण करते हैं जिसकी वे श्लाघा करते हैं। कभी-कभी किशोर एक या एक से अधिक अपने नैतिक मानकों को कतिपय अनुभवों के कारण परिवर्तित कर देते हैं। ये अनुभव या तो बड़े कटु होते हैं जिनका कि हृदय पर आघात पहुंचता है या ये पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न होते हैं। इनके कारण व्यक्ति में अपने पुराने मूल्यों की मान्यता के प्रति आशंका एवं प्रश्न उठते हैं और वह अपने मानकों को परिवर्तित कर देते हैं। तादात्म्य तथा आन्तरिक विन्यास के लिए खोज कर आधारित नैतिक मानकों में परिवर्तन अधिक स्थायी रहते हैं जब कि किसी मित्र या पौढ़ की आज्ञा-अनुपालन पर आधारित नैतिक मानकों में परिवर्तन इतने स्थायी नहीं होते।

सामान्यतया किशोर माता-पिता के नैतिक मानकों को अपनाते हैं, परन्तु अधिकांश किशोरों को उनके नैतिक मानकों के स्वयं के निर्धारण में अनेक संघर्षों के कारण चिन्ता का शिकार बनना पड़ता है। पेक और हैवीघर्स्ट (दि साइकालाजी आफ केरेक्टर डेव्लपमेन्ट, पृ० ८) के शब्दों में प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करने के समय तक किशोर स्थायी नैतिक सिद्धान्तों का निर्माण कर लेते हैं जिनके आधार पर वे अपने स्वयं के कार्यो का मूल्यांकन और निर्देशन करते हैं।

नैतिक विकास और शिक्षा व्यवस्था

शैशवावस्था में शिशु के कोई नैतिक सिद्धान्त नहीं होते इसलिए वह अपनी संवेदनाओं और स्वाभाविक प्रवृत्तियों से अधिक अनुप्रेरित होता है। अतः माता-पिता और शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वह इनके आधार पर उनका नैतिक

विकास करें। इस अवस्था में यह भी बात देखी गई है कि शिशु प्रशंसा और निन्दा के आधार पर किसी कार्य को अच्छा और किसी कार्य को बुरा समझता है। इसी प्रकार पुरस्कार और दण्ड के आधार पर भी वह कार्य को अच्छा और बुरा मानता है। अत: इन प्रेरकों के आधार पर बालकों का नैतिक विकास किया जा सकता है। इस अवस्था में शिशु आत्म-केन्द्रित रहता है और दूसरों की भलाई अपने स्वार्थ की दृष्टि से करता है। साथ ही साथ वह समाज द्वारा निर्धारित मानकों को भी बिना ननुनच किये मानता है। इसलिए समाज और शाला का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसमें स्वार्थ के स्थान में परहित कामना की भावना भरें। इस अवस्था में वह बड़े-बूढ़ों के नैतिक व्यवहारों का भी अनुकरण करता है अत: अनुकरण वृत्ति को बढ़ावा देना आवश्यक है। बाल्यावस्था में घर और बाहर तथा समाज और शाला के नैतिक मानकों में विरोध अथवा तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। अत: तनाव की स्थिति दूर करने के लिए इनमें समन्वय करने की आवश्यकता है। दण्ड और पुरस्कार के द्वारा अनैतिक व्यवहारों को दूर किया जा सकता है। इस अवस्था में बालक टोली के नैतिक व्यवहारों के अनुरूप कार्य करता है अत: टोली के व्यवहारों में आदर्श की मात्रा अधिक होना आवश्यक है। इस अवस्था में बालक लोक आलोचना और निन्दा के प्रति संवेदनशील हो जाता है अत: उसके मन में सामाजिक प्रतिष्ठा कायम करने के लिए नैतिक नियमों और व्यवहारों को अपनाने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिये। साथ ही साथ नैतिकता के विकास के लिए माता-पिता तथा शाला का भी नियन्त्रण होना चाहिये।

किशोर अवस्था में जान-बूझकर किशोर कदाचरण करता है। और साथ ही साथ बड़ों के शासन से मुक्त होने के लिए बेचैन रहता है। स्वायत्तता और आत्म नियन्त्रण द्वारा किशोरों का नैतिक विकास करना चाहिये। आत्म नियन्त्रण की शक्ति का अधिक उपयोग करने की प्रेरणा प्रदान करना चाहिये। इस अवस्था में तर्कना, चिन्तना और निर्णय शक्ति का अच्छा विकास होता है इसलिये इन शक्तियों के आधार पर नैतिक नियमों का पालन करना आवश्यक है और उनके अनुरूप जीवन ढालना भी जरूरी है। इस अवस्था में यौन प्रवृत्ति अधिक जोर पकड़ती है जिसके कारण किशोर का नैतिक पतन होने की अधिक आशंका रहती है इसलिये शाला और परिवार के पवित्र वातावरण द्वारा यौन प्रवृत्ति पर काबू पाना चाहिये और समाज द्वारा निर्धारित नैतिक नियमों की स्वीकृति देना चाहिये। आदर्श के साथ तादात्म्य सुदृढ़ बनाने के लिए किशोरों की आदर्श की अभिवृद्धि ग्रहण करनी चाहिए। धार्मिक भावना से भी किशोरों का नैतिक विकास किया जा सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. चरित्र का क्या अर्थ है ? चरित्र, नैतिकता और धर्म में क्या अन्तर है ?

२. नैतिकता के आधार तत्व कौन-कौन से हैं ? स्पष्ट कीजिए।

३. नैतिकता के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

४. चरित्र निर्माण तथा नैतिक विकास में नैतिक शिक्षा, चलचित्र, इतिहास, कहानी और दण्ड पुरस्कार का क्या स्थान है ? विवेचना कीजिए।

५. नैतिक विकास की प्रमुख अवस्थाओं की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

६. नैतिक विकास के स्तर की चर्चा कीजिए।

७. विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा वर्णित विभिन्न अवस्थाओं में नैतिक विकास की विवेचना कीजिए।

८. नैतिक विकास के संक्षिप्त इतिहास पर प्रकाश डालिये।

९. किसी शाला के लिए नैतिक शिक्षा की योजना बनाइए।

१०. धर्म निरपेक्ष राज्य में नैतिक शिक्षा किस प्रकार दी जा सकती है, इसकी विवेचना कीजिए।

अध्याय ११

व्यक्तित्व का विकास

व्यक्तित्व का स्वरूप

व्यक्तित्व के स्वरूप के विषय में लोगों में भिन्न-भिन्न धारणाएं पाई जाती हैं। प्राचीन लोग व्यक्तित्व को नियंत्रण करने वाली शक्ति मानते थे। परन्तु आधुनिक काल में कुछ लोग व्यक्तित्व को बढ़िया गठन, चेहरे की सुन्दर बनावट, मधुर आवाज और बोल-चाल के आकर्षक ढंग के रूप में मानते हैं, कुछ लोग उसे दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति मानते हैं। कुछ लोग व्यक्तित्व को सामाजिक ख्याति, बुद्धि योग्यता, विद्वता तथा ज्ञान के रूप में जानते हैं। कुछ लोग उसे संवेगों. विचारों तथा स्थायी-भावों का समुच्चय मानते हैं। कुछ उसे चरित्र का प्रतीक समझते हैं। कुछ लोग उसे दबंग और प्रभावशाली आचरण का संकेत मानते हैं। कुछ लोग उसे मानव की सारी भावनाएं, ज्ञान, प्रवृत्तियों, रुचियों, अनुभूतियों, उद्वेगों, आदतें, इच्छाएं, शारीरिक बनावट, संस्कार, व्यवसाय, बुद्धि, भाव, स्थायी भाव और विचारों का योग अथवा संगठित समूह कहते हैं। हम व्यक्तित्व को न देख सकते हैं, न छू सकते हैं और न सुन सकते हैं, केवल मात्र उसकी अनुभूति कर सकते हैं।

भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व की विभिन्न रूप से व्याख्या की है। आलपोर्ट के मतानुसार 'व्यक्तित्व व्यक्ति के उन मनोभौतिक संस्थानों की गतिशील व्यवस्था है जिनके आधार पर व्यक्ति अपने पर्यावरण में विशिष्ट रूप से समंजित होता है'। अर्थात् व्यक्तित्व में व्यक्ति के सभी बाहरी अथवा आन्तरिक जन्मजात और अर्जित शील-गुणों का समन्वय रहता है। साथ ही साथ उसका विभिन्न पर्यावरण के साथ भी सन्तुलन रहता है। मार्टन प्रिन्स के कथनानुसार, 'व्यक्तित्व व्यक्ति की मनोभावनाओं, उद्वेगों, रुझानों, इच्छाओं, आकांक्षाओं, मूल प्रवृत्तियों तथा अनुभूतियों का सम्मिलित समुच्चय है'। अर्थात् व्यक्ति के

व्यक्तित्व में अनेक प्रकार की इच्छाओं, मनोभावनाओं, ऊँची आशाओं, मूल प्रवृत्तियों, रुचियों और अनुभवों का ताल-मेल रहता है।

विलियम हीली के अनुसार, 'व्यक्तित्व व्यक्ति का वातावरण, विशेष करके सामाजिक वातावरण, के साथ सामंजस्य का पारस्परिक संगठन है अर्थात् व्यक्ति केवल प्राकृतिक वातावरण से ही नहीं वरन् सामाजिक पर्यावरण करने से, जैसे सभा, सोसाइटी आदि से, भी सामंजस्य स्थापित करता है और इसी दशा में उसके व्यक्तित्व का विकास संभव होता है। गार्डन के अनुसार, 'व्यक्तित्व आचरण और चरित्र का प्रतीक है' अर्थात् व्यक्तित्व में अच्छी आदतों, अच्छे विचारों, उत्तम आदर्शों और सुन्दर गुणों का समावेश रहता है। अच्छे चारित्रिक गुण, सत्यता, न्याय और ईमानदारी आदि कहे जाते हैं। व्यक्तित्व का आधारशिला चरित्र ही है। इसलिये उसे चरित्र का प्रतीक कहा गया है। ओलडन के अनुसार, 'व्यक्तित्व व्यक्ति के आंतरिक जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति है।' अर्थात् व्यक्तित्व में मानव जीवन की सुन्दर झांकी अर्थात् सुन्दर गुण तथा भावना देखने को मिलती है। वुडवर्थ के अनुसार, 'व्यक्तित्व व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यवहार की व्यापक विशेषता का नाम है'। अर्थात् व्यक्तित्व के अन्तर्गत व्यक्ति के सभी प्रकार के विशेष व्यवहारों का व्यक्तिकरण होता है। उसके व्यवहारों के द्वारा उसके व्यक्तित्व की जानकारी प्राप्त की जा सकती है और उसके सम्बन्ध में पूर्व कथन किया जा सकता है। इस प्रकार प्रायः सभी मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि व्यक्तित्व के अध्ययन द्वारा हम मानव-स्वभाव को अच्छी तरह समझने में समर्थ होते हैं।

व्यक्तित्व के अंग

व्यक्तित्व का निर्माण विशेषतया तीन बातों पर निर्भर रहता है। जैसे—शारीरिक गुण, मानसिक गुण और सामाजिक गुण।

१. शारीरिक गुण

शारीरिक गुणों का व्यक्तित्व पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जिस व्यक्ति का शारीरिक गठन अच्छा होता है, मुखाकृति सुन्दर रहती है, सुरीली आवाज तथा गोरा रंग रहता है और बोल-चाल का ढंग मधुर और आकर्षक होता है, उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली समझा जाता है। इन शारीरिक गुणों का व्यक्तित्व पर प्रभाव अधिक पड़ता है और इस प्रकार के व्यक्तित्व से अन्य व्यक्ति प्रभावित होते हैं।

२. मानसिक गुण

मन के ज्ञान, इच्छा, क्रिया इन तीनों गुणों द्वारा हमारी बुद्धि, स्वभाव तथा चरित्र का निर्माण होता है। सफल व्यक्तित्व के लिए अच्छी बुद्धि का होना जरूरी है, कारण कि मन्द बुद्धि वाले बालक या व्यक्ति प्राय: व्यक्तित्वहीन होते हैं। व्यक्ति का स्थिर, आशावादी, शान्त स्वभाव व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है। जिस बालक या व्यक्ति का स्वभाव निराशावादी, अस्थिर और चिड़चिड़ा रहता है, ऐसे व्यक्ति का व्यक्तित्व अच्छा व स्वस्थ नहीं समझा जाता। व्यक्तित्व के बनाने में चरित्र का बहुत बड़ा हाथ रहता है। जिस बालक या व्यक्ति में आत्म-सम्मान का स्थायी भाव पूर्णतया विकसित होकर उच्च आदर्शों से समन्वित रहता है उस बालक या व्यक्ति का व्यक्तित्व ऊंचा कहा जाता है। चरित्रहीन व्यक्ति अन्य अपने समान चरित्रहीन व्यक्तियों को आकर्षित करता है। चरित्रहीन व्यक्ति का व्यक्तित्व किसी को प्रभावित तथा आकर्षित नहीं करता।

३. सामाजिक गुण

जिस बालक या व्यक्ति में मेल-जोल का गुण पाया जाता है उसका व्यक्तित्व सभी को आकर्षित कर लेता है। पर मेग्डूगल ने व्यक्तित्व के निर्धारण के पांच अंग माने हैं। जैसे—संस्कार, स्वभाव, मन:स्थिति, चरित्र और मेधा।

(१) **संस्कार.** व्यक्ति के संस्कारों पर कई आन्तरिक ग्रंथियों की विशेष करके प्रणाली-हीन ग्रंथियों का प्रभाव पड़ता है। चुल्लिका नामक प्रणालीहीन ग्रंथियों की अवस्था से व्यक्ति के व्यक्तित्व में कई परिवर्तन उपस्थित होते हैं।

(२) **स्वभाव.** व्यक्ति का स्वभाव वंश-परम्परा तथा वातावरण से अधिकतर प्रभावि होता है। कुछ व्यक्ति प्रसन्नचित्त, आशावादी और स्थिर स्वभाव के होते हैं। ऐसे स्वभाव वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व का अच्छा प्रभाव पड़ता है परन्तु मनहूस, निराशावादी, अस्थिर और चिड़चिड़े व्यक्तियों का बुरा असर पड़ता है।

(३) **मन:स्थिति.** शक्ति की लालसा और समाज के जीवन जाने की प्रवृत्ति मन:स्थिति को निर्माण करती है। जो सदुपयोग करता है, उसकी मन:स्थिति स्थिर और सुव्यवस्थि

कोई भी व्यक्ति या बालक के मेल-जोल के गुण से युक्त व्यक्तित्व सभी को अपनी ओर खींच लेता है।

(४) **चरित्र.** इसमें अच्छे और बुरे का ज्ञान निहित रहता है। यह व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। इसी के बदौलत व्यक्ति के व्यक्तित्व पर गहरी छाप पड़ती है। भगवान बुद्ध और महात्मा गांधी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

(५) **मेधा.** जीवन की समस्यायें तथा मानसिक अन्तर्द्वन्द को सुलझाने की योग्यता मेघा कहलाती है। शारीरिक शक्ति, ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा मेधा के सामने तुच्छ मानी जाती है। मस्तिष्क द्वारा प्रस्तुत की हुई वस्तुओं में से सर्वश्रेष्ठ वस्तु का चुनना मेधा का ही काम है।

व्यक्तित्व की विशेषताएं

(१) **आत्मचेतना.** व्यक्तित्व की सबसे प्रधान विशेषता आत्म-चेतना है। हम किसी पशु या बालक के सम्बन्ध में यह बात नहीं कह सकते हैं कि उसका अपना व्यक्तित्व होता है, कारण कि पशु या बालक को अपने 'स्व' का कम ध्यान और मान होता है। आत्मचेतना ऐसी शक्ति है जिसके बिना व्यक्ति कोई कार्य नहीं कर सकता और न वह अपने व्यक्तित्व को वश में रख सकता है। कोई व्यक्ति इस आत्मचेतना के कारण ही दूसरों की प्रशंसा तथा अपनी सफलता से प्रभावित होता है।

(२) **सामाजिकता.** व्यक्तित्व का उदय और विकास समाज में ही होता है। इसलिये उसमें सामाजिकता का होना नितान्त आवश्यक है। हम समाज की परस्पर-सम्बन्धी क्रियाओं के द्वारा हर समाज के दूसरे लोगों के बीच सम्पर्क और सामंजस्य करते हैं। हम दूसरे लोगों के विचार और आचरण ग्रहण करते हैं और दूसरे हमारे आचार-विचार अवग्रहण करते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व में सामाजिकता पाई जाती है।

(३) **सामंजस्यता.** प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को परिस्थिति के अनुकूल बनाने अथवा ढालने का प्रयत्न करता रहता है और साथ ही वातावरण को अपने अनुकूल भी बनाने का प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति का वातावरण के साथ अनुकूलन और वातावरण का व्यक्ति के साथ समंजन व्यक्ति के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करना भी व्यक्ति की एक विशेषता है। वातावरण की उत्तेजनाओं के प्रति व्यक्ति की

प्रतिक्रिया का क्या और कैसा रूप होगा यह सब उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। बहरहाल उसे हर हालत में वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। जो व्यक्ति अपने आपको वातावरण के अनुकूल बना लेता है और साथ ही वातावरण को अपने अनुकूल ढाल लेता है, वह सफल व्यक्तित्व वाला व्यक्ति कहलाता है।

(४) **ध्येय की ओर अग्रसर होना.** व्यक्तित्व द्वारा हमें इस बात की सदा प्रेरणा मिलती रहती है कि हम अपने जीवन के ध्येय की पूर्ति के निमित्त सदैव अग्रसर होते रहें या आगे बढ़ते रहें। किसी व्यक्ति के जीवन का ध्येय और वह इस ओर कितना सावधान और सजग है, इसको देखकर इस बात का अन्दाजा लगाया जा सकता है कि किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व कितना ऊँचा या नीचा होगा।

(५) **संगठितता, समग्रता अथवा एकता.** व्यक्ति एक पूर्ण इकाई के रूप में ही कार्य करता है। किसी व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, और संवेगात्मक क्रियाओं को अलग अलग करके या अलग अलग लेकर हम उसके व्यक्तित्व का अध्ययन नहीं कर सकते। इन सब क्रियाओं का सामूहिक प्रभाव किसी व्यक्ति पर किस प्रकार पड़ा है, इसके आधार पर ही उसके व्यक्तित्व की जांच हो सकती है। इस प्रकार व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति समग्र रूप अथवा इकाई रूप में होती है।

व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी एकता है। व्यक्ति का बाह्य आचरण, उसकी जन्मजात तथा अर्जित वृत्तियों, आदतों, संवेग, स्थायीभाव, उसके आदर्श तथा जीवन के मूल्य से सब मिलाकर एक ऐसे प्रमुख स्थायी-भाव या आदर्श तथा 'स्व' को जन्म देते हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व का प्रमुख आधार है।

चरित्र और व्यक्ति में अन्तर

चरित्र में नैतिकता का मिश्रण रहता है, पर व्यक्ति में नैतिकता का सम्बन्ध कम रहता है।

व्यक्तित्व के शील-गुण अथवा विशेषक

जिन बीज तत्वों से व्यक्तित्व का निर्माण होता हैं उन्हें शील-गुण अथवा विशेषक कहते हैं। ईमानदारी, सत्यता, विनयशीलता, निपुणता और प्रसक्ति आदि शील-गुण के अन्तर्गत आते हैं। शील-गुणों में समरसता और नित्यता रहती है। ये दोनों गुण सापेक्ष हैं। शील-गुण दो प्रकार के माने गये हैं—एक विशिष्ठ और दूसरा सामान्य। शुरू-शुरू में शील-गुणों में विशिष्टता रहती है, परन्तु ज्यों-ज्यों बालकों का ज्ञान और अनुभव बढ़ता जाता है त्यों-त्यों सामान्यता आती जाती है।

शील-गुणों की यह विशिष्टता और सामान्यता परिस्थिति विशेष या बालक विशेष पर निर्भर करती है। वैसे ये एक दूसरे से स्वतन्त्र माने जाते हैं।

कई मनोवैज्ञानिक शील-गुणों की संख्या के विषय में एक मत नहीं है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने उनकी संख्या चार हजार तक मानी है। बालकों में अनेक शील-गुण पाये जाते हैं। पर यहाँ पर पाँच प्रमुख शील-गुणों की चर्चा करना पर्याप्त होगा।

(१) **अधिकार-वृत्ति और विनीत-वृत्ति के शील-गुण.** कुछ बालकों में अधिकार-वृत्ति और कुछ बालकों में विनीतता की वृत्ति अधिक पायी जाती है। ऐसी बात देखी गई है कि जो बालक एक समूह विशेष का नेतृत्व करता है, वही दूसरे समूह में अनुयायी बन जाता है। जिस बालक में अधिकार वृत्ति की प्रमुखता रहती है वह अगुआ का काम करता है और जिसमें विनीतता की प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है, वह अनुयायी बनता है। जिन बालकों में शारीरिक तथा मानसिक श्रेष्ठता, श्रेष्ठ भाव, स्वावलम्बन, आत्म-विश्वास, स्वतन्त्रादि गुण पाये जाते हैं वे अक्सर अधिकार-वृत्ति का प्रदर्शन करते हैं और जिन बालकों को प्रारम्भ में ही जिम्मेदारी के काम मिलते हैं, वे भी नेतागिरी का प्रदर्शन करते हैं। जिन बालकों में शारीरिक-दोष, हीन भाव रहते हैं उनकी विनीत वृत्ति रहती है। पारिवारिक संघर्ष, दरिद्रता, प्रोत्साहन के अभाव आदि से विनीतता की वृत्ति का उन्मेष होता है।

(२) **प्रसक्ति.** कुछ बालक धुन के पक्के होते हैं—लाख विघ्न-बाधायें या कठिनाइयाँ पड़ने पर भी हाथ में लिए काम को पूरा करके छोड़ते हैं। ऐसे बालकों में प्रबल इच्छा शक्ति, अर्थात् प्रसक्ति का शील-गुण पाया जाता है। इसके बल पर वे कभी हतोत्साहित नहीं होते। आजकल इस प्रसक्ति की परीक्षा योग्यता या क्षमता से परे काम देकर की जाती है। जो इसमें खरे उतरते हैं वे प्रसक्ति गुण से समन्वित माने जाते हैं और जो कार्य पूरा नहीं कर पाते वे इस गुण से विहीन समझे जाते हैं।

(३) **अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता.** अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता व्यक्तित्व के प्रमुख शीलगुण हैं। इससे इस बात का पता चलता है कि कोई व्यक्ति किस प्रकार वातावरण के साथ समायोजन कर सकता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति का व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण बाह्य जगत से कम सम्पर्क रहता है, इसलिए कम समायोजन हो पाता है। परन्तु बहिर्मुखी व्यक्ति का वस्तुनिष्ठ होने के कारण बाह्य जगत से अधिक सम्पर्क रहता है और वातावरण के साथ उसका अच्छा समायोजन होता है।

(४) सामाजिकता. बालकों के सामाजिक व्यवहारों के अध्ययन से पता चलता है कि बच्चों में सामाजिकता का शील-गुण वयस्कों की अपेक्षा अधिक पाया जाता है। इस शील-गुण के कारण बच्चे सामाजिक कार्यों में अधिक रुचि लेते हैं। यह समानता सभी व्यक्तियों में समान रूप से नहीं पाई जाती। विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। सामाजिकता के अन्तर्गत बालक समाज के अन्य लोगों की विभिन्न प्रकार से सेवा करते हैं।

(५) संवेगात्मक अस्थिरता. अध्ययन और निरीक्षण से पता चलता है कि सामाजिक जीवन या अन्य प्रकार के जीवन में संवेग प्रेरक का काम करते हैं। पर असंतुलित सांवेगिक जीवन व्यक्ति में संवेगात्मक अस्थिरता लाता है। संवेगात्मक अस्थिरता में व्यक्ति एक क्षण में क्रोध से आग बबूला हो उठता है और एक क्षण में हर्ष से फूला नहीं समाता। इस संवेगात्मक अस्थिरता के कारण व्यक्ति के जीवन में चंचलता का उद्रेक हो जाता है और संवेग तथा भावों के रूप बदलते रहते हैं जिसके फलस्वरूप उसके भावों तथा विचारों में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं।

व्यक्तित्व के प्रकार

प्राचीन काल से भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् किसी न किसी आधार पर व्यक्तित्व का विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकरण करते आये हैं। प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों ने व्यक्तियों को कई प्रकारों में विभाजित किया है। इन्होंने गुणों के आधार पर तीन प्रकार के व्यक्तियों का विभाजन किया है। जैसे सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। सतोगुण-प्रधान व्यक्ति सत्-बुद्धि वाले और आदर्शवादी रहते हैं। रजोगुणी व्यक्ति सांसारिक तथा चंचल प्रकृति के हुआ करते हैं। तमोगुण-प्रधान व्यक्ति आलसी, अज्ञानी, ईर्ष्यालु और दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति होते हैं। शारीरिक प्रकृति के आधार पर व्यक्तियों को वात-प्रधान, पित्त-प्रधान और कफ-प्रधान श्रेणियों में बाँटा गया है। गुण, कर्म, स्वभाव तथा जाति के आधार पर भी भारतीय विद्वानों ने व्यक्तियों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है। जैसे —ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण वृत्ति वाले व्यक्ति जिज्ञासु, ज्ञानी और विद्या-प्रेमी, क्षत्रिय वृत्ति वाले व्यक्ति उग्र स्वभाव वाले और युद्ध-प्रिय, वैश्य वणिक वृत्ति वाले तथा शान्त और शूद्र परिश्रमी तथा पर सेवा वाले व्यक्ति होते हैं।

पाश्चात्य देश में सर्व प्रथम यूनान देश के हिप्पोक्रेटस और उनके पश्चात् गालिन ने शारीरिक द्रवों के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया। इनके

अनुसार चार प्रकार के व्यक्ति होते हैं। कफ प्रकृति वाले व्यक्ति जो निर्बल और धीमे होते हैं। काला पित्त वाले व्यक्ति निराशावादी, पीला पित्त वाले व्यक्ति शीघ्र क्रोधित होने वाले और रुधिर वाले व्यक्ति शीघ्र कार्य करने वाले प्रसन्न-चित्त और आशावादी होते हैं। क्रेशमर ने शरीर गठन के आधार पर चार प्रकार के व्यक्ति माने हैं। जैसे ऐथेलिटिक टाइप (खिलाड़ी) जो शक्तिशाली शरीर से हृष्ट-पुष्ट और दूसरे व्यक्तियों से सामंजस्य स्थापित करने वाले होते हैं। ऐसथेनिक टाइप (शक्तिहीन) जो शरीर से दुबले-पतले, दूसरों के ऐब निकालने वाले और अपने दोषों की अनसुनी करने वाले होते हैं। पाइकनिक टाइप (नाटे) जो मजबूत और छोटे कद वाले होते हैं और दूसरों के साथ सरलता से घुल-मिल जाते हैं। डिस्प्लेस्टिक टाइप, ये व्यक्ति ग्रन्थि रोग से पीड़ित रहते हैं। शैल्डन ने शारीरिक गुणों के आधार पर व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में बांटा है—जैसे ऐन्टोमार्फिक, जिनका शरीर कोमल और पेट बड़ा होता है। यह पिकनिक प्रेमी होते हैं। मेसोमार्फिक इनकी मांस-पेशी, हड्डी तथा पूरा शरीर सुदृढ़ होता है। ऐन्डोमार्फिक इनकी हड्डियां कोमल होती हैं तथा यह कोमल होते हैं। शैल्डन ने स्वभाव की दृष्टि से दो प्रकार के व्यक्ति बतलाये हैं—विसरोटोनिक जो नाजुक-मिजाज और आराम-पसन्द हुआ करते हैं और दूसरे सोमैरोटोनिक जो स्पष्ट-वादी, अधिकार-प्रेमी और साहसिक होते हैं।

स्प्रेन्गर ने सामाजिक कार्यों तथा स्थिति के आधार पर व्यक्तित्व के ६ प्रकार दर्शाये हैं।

(१) सैद्धान्तिक. इस प्रकार के व्यक्ति सिद्धान्त-प्रेमी, सत्य के पुजारी और दार्शनिक होते हैं।

(२) आर्थिक. ऐसे व्यक्ति जीवन की सभी बातों का आर्थिक दृष्टि से मूल्यांकन किया करते हैं। इनका हर एक बात में व्यापारिक दृष्टिकोण हुआ करता है। यह पूर्णरूपेण व्यापारिक होते हैं।

(३) सामाजिक. इस प्रकार के व्यक्ति दयालु, प्रेमी और सहानुभूतिपूर्ण होते हैं और साथ ही साथ समाज-कल्याण प्रिय।

(४) राजनैतिक. इस प्रकार के व्यक्ति सत्ता-प्रेमी होते हैं।

(५) धार्मिक. इस प्रकार के व्यक्ति ईश्वर भक्त और अध्यात्मवादी होते हैं।

(६) कलात्मक. इस प्रकार के व्यक्ति कला और सौन्दर्य के प्रेमी होते हैं। थार्नडाइक के अनुसार कल्पना और विचार की दृष्टि से तीन प्रकार के व्यक्ति

होते हैं जैसे—सूक्ष्म-विचारक—ऐसे व्यक्ति कोई भी काम खूब सोच-विचार कर करते हैं। इनकी गणित विधान तथा यान्त्रिकी में रुचि होती है। प्रत्यक्ष विचारक—ऐसे व्यक्ति संख्या, शब्द और संकेतों के आधार पर विचार करते हैं। स्थूल-विचारक—ऐसे व्यक्ति विचार की अपेक्षा क्रिया में अधिक रुचि रखते हैं । टरमैन ने बुद्धि-लब्धि के आधार पर व्यक्तियों को आठ श्रेणियों में विभाजित किया है यथा—प्रतिभाशाली, उपप्रतिभाशाली, और अत्युत्कृष्ट बुद्धि, उत्कृष्ट बुद्धि, मन्द बुद्धि, मूर्ख, मूढ़ और जड़ बुद्धि । इनका विवेचन बौद्धिक विकास के अन्तर्गत कर दिया गया है। विलियम जेम्स ने वाद के आधार पर दो प्रकार के व्यक्ति माने हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी। आदर्शवादी व्यक्ति अधिक आदर्श प्रिय और अव्यवहारिक होते हैं। यथार्थवादी व्यक्ति व्यावहारिक होते हैं।

बुहलर ने सामाजिकता के आधार पर तीन प्रकार के बालक या व्यक्तियों की चर्चा की है, जैसे सामाजिकतया अंध—ऐसे बालक या व्यक्ति अपने ही मनोरंजन में संलग्न रहते हैं। वे समाज के अन्य लोगों से प्रभावित नहीं होते। सामाजिकतया आश्रित—ऐसे बच्चे या व्यक्ति के व्यवहार समाज से प्रभावित होते हैं और ये सक्रिय रहते हैं तथा प्रतियोगिता में रुचि लेते हैं। सामाजिकतया तटस्थ—ऐसे बालक या व्यक्ति समाज के सम्पर्क के प्रति इतने व्याकुल नहीं रहते। वे दूसरे के साथ मनोरंजन करते जरूर हैं; परन्तु अपना सन्तुलन नहीं खोते। आधुनिक मनोविज्ञान ने मनोविज्ञान के आधार पर तीन प्रकार के व्यक्ति माने हैं। जैसे विचार-प्रधान, भाव-प्रधान और क्रिया-प्रधान। विचार-प्रधान व्यक्ति विचारों और आदर्शों में तल्लीन रहते हैं। भाव-प्रधान व्यक्ति विभिन्न भावों तथा संवेगों से प्रभावित होते हैं और क्रिया-प्रधान व्यक्ति क्रियाशीलता में विश्वास करते हैं। मनोवैज्ञानिक लक्षणों के आधार पर युंग का व्यक्तित्व का वर्गीकरण आजकल सबसे अधिक मान्य माना जाता है। युंग ने सभी व्यक्तियों को दो प्रकारों में विभाजित किया है। इनके अनुसार व्यक्ति अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी हुआ करते हैं। अन्तर्मुखी व्यक्ति शान्त, विचारशील, लज्जाशील, कम बोलने वाले और अपने आप में अधिक रुचि रखने वाले होते हैं। वे कल्पना जगत् में अधिक विचरण करते हैं, एकान्त वासी और अव्यवहारिक होते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति—ये व्यक्ति कर्मशील और क्रियाप्रधान होते हैं। ये सामाजिक कार्यों में अधिक रुचि लेते हैं। इनकी नेतागिरी की इच्छा रहती है। बढ़िया भोजन और अच्छे वस्त्र पहनना पसन्द करते हैं। यह पूर्ण सांसारिक तथा व्यवहारिक होते हैं। यह आशावादी और अवसरवादी भी होते हैं। इस प्रकार व्यक्तियों को विभिन्न प्रकारों में बांट कर उनकी विशेषताओं को निश्चयात्मक रूप से सीमित नहीं किया जा सकता।

कारण कि उनकी विशेषतायें किसी न किसी रूप में एक दूसरे प्रकारों में पायी जाती हैं।

व्यक्तित्व को मापने की विधियां

व्यक्तित्व बड़ा गहन और व्यापक तत्व है। अतः इसको ठीक तरह से मापना कठिन है। व्यक्तित्व को मापने के लिए कोई एक विधि को प्रमाणिक नहीं माना जा सकता। भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व को मापने की विभिन्न विधियों का उल्लेख किया है। संक्षेप में वे विधियां इस प्रकार हैं:—

१. प्रश्नावली विधि

इस विधि के अनुसार व्यक्ति को एक प्रश्नावली दे दी जाती है और उसे इन प्रश्नों के उत्तर देने होते हैं। प्राप्त उत्तरों के आधार पर व्यक्ति की रुचि, योग्यता और प्रवृत्ति आदि की जांच की जाती है।

२. साक्षात्कार विधि

किसी संस्था में प्रवेश पाने अथवा कहीं नौकरी में इस विधि का प्रयोग किया जाता है। जिन व्यक्तियों को साक्षात्कार के लिए बुलाया जाता है उनसे सामान्य ज्ञान सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते हैं। इसमें बात-चीत के द्वारा व्यक्ति के व्यवहार, योग्यता, ज्ञान और हाव-भावों की परीक्षा ली जाती है।

३. निरीक्षण विधि

इस विधि के अनुसार बालकों के आचरण तथा व्यवहार की परीक्षा, कक्षा और सांस्कृतिक कार्यक्रमों तथा अन्य स्थानों में परोक्ष रूप से ली जाती है। यह विधि वस्तु-निष्ठ न होकर व्यक्तिनिष्ठ होती है। परीक्षक बालकों का निरीक्षण इस प्रकार करता है कि बालकों को पता नहीं लग पाता कि कोई उनके आचरण या व्यवहार का निरीक्षण कर रहा है।

४. मूल्यकरण-विधि

इस विधि के अनुसार व्यक्ति के गुण, शील तथा व्यवहार का मापन माप-दण्ड के आधार पर किया जाता है और जांच के अनुसार अंक प्रदान किये जाते

हैं। इसमें प्रश्नकर्त्ता एक सूची बना लेता है और उसमें व्यक्तित्व सम्बन्धी प्रश्न लिखे जाते हैं। परीक्षार्थी उचित प्रकार से प्रश्नों के नीचे निशान लगा देता है। इसके उपरान्त इसके आधार पर परीक्षक मूल्यांकन करता है।

५. व्यक्ति-इतिहास विधि

इस विधि में व्यक्ति विशेष करके समाज-विरोधी व्यक्ति के वंश, शारीरिक स्वास्थ्य, पारिवारिक परिस्थिति, सामाजिक जीवन, आर्थिक-परिस्थिति और संवेगात्मक स्थिरता के विषय में सूचना एकत्र की जाती है। इन सूचनाओं, बुद्धि परीक्षण और रुचि परीक्षा के आधार पर व्यक्तित्व के सम्बन्ध में राय निर्धारित की जाती है।

६. मुक्त शब्द साहचर्य विधि

इस विधि में परीक्षक एक शब्द परीक्षार्थी को दे देता है और बिना विचारे उस शब्द से सम्बन्धित अनेक शब्द बोलने के लिए कह देता है। इन शब्दों की सूची के आधार पर व्यक्ति का स्वभाव जाना जाता है।

७. प्रक्षेपण-विधियां

आजकल व्यक्तित्व मापन के विषय में इन विधियों का अधिक प्रयोग किया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि व्यक्ति अपनी भावनाओं को अन्य वस्तुओं पर अधिक आरोपित करता है। अधोलिखित प्रक्षेपण विधियां अधिकतर काम में लाई जाती हैं।

(अ) रोशार्क परीक्षा. इस परीक्षा में परीक्षार्थी को क्रमशः दस प्रमाणित स्याही के धब्बों के कार्डों को दिखाया जाता है। परीक्षार्थी विभिन्न दृष्टिकोणों से धब्बों को देखते हैं और देखने पर जो विचार उनके मन में उठते हैं उनको वे व्यक्त कर देते हैं। परीक्षक इन प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करता है। इस विधि के प्रयोग के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। इस परीक्षा का निर्माण स्विटजरलैंड निवासी मनोवैज्ञानिक रोशार्क ने किया। इसलिए उनके नाम पर यह रोशार्क परीक्षा कहलाती है।

(ब) अन्तश्चेतनाभि बोधन परीक्षण (टी० ए० टी० परीक्षा). इस परीक्षा में व्यक्तियों से सम्बन्धित कुछ चित्र होते हैं। व्यक्तियों को चित्र से सम्बन्धित कहानी प्रस्तुत करने के लिए कहा जाता है। चूंकि ये चित्र स्पष्ट नहीं होते, इसलिए व्यक्ति अपनी भावनाओं को अज्ञात रूप से उन पर आरोपित करता रहता है।

इस विधि से व्यक्ति के चरित्र, उसके विचार, अभिरुचि, रुझान और प्रसुप्त भावनाओं की जानकारी मिलती है। इस परीक्षा या विधि का निर्माण मार्गन और मरे ने किया।

(स) स्वप्न विश्लेषण विधि. इस विधि में स्वप्नों के आधार पर व्यक्तित्व की जाँच की जाती है। इस विधि के जन्मदाता मनोविश्लेषणवादी फ्रायड ऐडलर और युंग माने जाते हैं।

व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करने वाले तत्व

व्यक्तित्व के विकास में प्रधानतः दो तत्वों का प्रभाव पड़ता है—पहला जैव अंग अर्थात् वंश परम्परा का प्रभाव। इसके अंतर्गत अन्तःश्रावी ग्रंथियां, शरीर रचना और स्वास्थ्य, नाड़ी मंडल और बुद्धि आदि हैं। दूसरा पर्यावरण का प्रभाव जिसके अंतर्गत् परिवार (गृह), पाठशाला, समाज और संस्कृति आदि आते हैं।

व्यक्तित्व विकास पर वंश परम्परा का प्रभाव

(१) अन्तःश्रावि ग्रंथियां. अन्तः श्रावि ग्रन्थियाँ व्यक्तित्व-विकास को काफी प्रभावित करती हैं। पियूष ग्रंथि (पिटिचुरी ग्लेंड) शारीरिक विकास को प्रभावित करती है। इस ग्रंथि के अधिक सक्रिय होने से शरीर दैत्यकार में बढ़ता है। मानसिक पक्ष पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति का व्यवहार अधिक उग्र हो जाता है। जिसके कारण वह अन्य व्यक्तियों से समायोजन नहीं कर पाता। इस ग्रन्थि की अल्पसक्रियता से व्यक्ति की शारीरिक बाढ़ बिल्कुल रुक जाती है। वह बौना रह जाता है। व्यक्ति कायर, संकोची और झगड़ालू बन जाता है।

गल-ग्रन्थि (थाइरायड ग्लेंड). इस ग्रन्थि के अधिक सक्रिय होने से शारीरिक तन्तु अधिक उत्तेजित हो जाते हैं, मांस पेशियों में तनाव बढ़ जाता है। व्यक्ति बड़ा बेचैन और चिंतित रहता है। इस ग्रन्थि के कम मात्रा में क्रियाशील रहने पर शरीर मन्द पड़ जाता है। व्यक्ति सुस्त, बेचैन और चिन्तातुर हो जाता है। उसकी स्मरण तथा चिंतन शक्ति मंद पड़ जाती है।

उपकंठ ग्रन्थि. इस ग्रन्थि का प्रभाव बालक पर अधिक पड़ता है। इसकी अत्यधिक सक्रियता के कारण बालक या व्यक्ति शिथिल और शान्त बन जाते हैं। इसकी क्रिया में मंदता आने पर वे उत्तेजनाशील बन जाते हैं।

मूत्रस्थ ग्रन्थि (इड्रिनल). इस ग्रन्थि से एड्रेनलिन तथा कार्टिन नामक तरल रासायनिक पदार्थ निकलते हैं। इस ग्रन्थि के अधिक क्रियाशील रहने पर बच्चे तथा व्यक्ति सक्रिय, सुखवादी, सावधान, सन्तुलित, चंचल होते हैं। इसकी क्रियाशीलता में कमी आने से बच्चे चिड़चिड़े, कमजोर, सहकारिता से रहित, उदास, संवेगात्मक परिस्थितियों से समायोजन न करने वाले होते हैं।

यौन ग्रंथियां. इन ग्रंथियों का प्रभाव शारीरिक, मानसिक एवं सांवेगिक पक्षों पर पड़ता है। किशोरावस्था में दाढ़ी-मूंछ का निकलना, ऊंचाई में अति होना, किशोरियों का रजस्वला होना और शरीर का सुपुष्ट होना इत्यादि। ये ग्रंथियां बच्चों में पुरुषत्व और स्त्रैण हाव-भावों का उन्मेष करती हैं। कामवासना में रुचि अथवा अरुचि उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार अन्तःस्रावि ग्रंथियां बच्चों के व्यक्तित्व को किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित करती हैं।

(२) **शारीरिक बनावट और स्वास्थ्य.** शारीरिक विशेषताओं के अन्तर्गत शारीरिक बनावट, वजन तथा रंग-रूप आदि आते हैं। यदि शारीरिक बनावट आदि में किसी प्रकार के दोष पाए जाते हैं तो बच्चों के व्यक्तित्व का विकास ठीक तरह से नहीं होने पाता और जबकि भाव विकसित हो जाते हैं। शारीरिक दोष के कारण अंग विशेष का उचित रूप से विकास नहीं हो पाता। वाणी के किसी प्रकार के दोष जैसे तुतलाने या हकलाने से उनमें हीन भाव आ जाते हैं। शारीरिक दोष के कारण बच्चों के साथी और सयाने उनकी खिल्ली उड़ाते हैं। वे एकान्तवासी हो जाते हैं और आत्म-विश्वास खो बैठते हैं। इस प्रकार उनके व्यवहार असामाजिक हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं होने पाता।

जिस प्रकार शरीर की बनावट का प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है उसी प्रकार स्वास्थ्य का भी पड़ता है। स्वस्थ बच्चे अधिक प्रसन्नचित्त और क्रियाशील देखे जाते हैं। वे हीन भाव से मुक्त रहते हैं। अस्वस्थ बच्चे विकास क्रम में पीछे रह जाते हैं जिससे उनके व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है।

(३) **स्नायु-मंडल.** स्नायु मंडल की क्रिया में किसी प्रकार का दोष आने से शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। मस्तिष्क के किसी भाग में क्षति रहने से व्यक्ति व बच्चे का व्यक्तित्व प्रभावित होता है। हमारा शिक्षण, संवेगात्मक अभिव्यक्ति, योग्यता, कौशल, क्षमता, उपलब्धि, चिन्तन, और अन्य क्रियाएं स्नायु मंडल पर निर्भर करती हैं। यदि स्नायु मंडल की क्रिया में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित हो जाती है तो व्यक्ति के समुचित समायोजन

में अव्यवस्था का उद्रेक हो जाता है। इस प्रकार स्नायु-मंडल की अच्छाई बुराई पर व्यक्तित्व का विकास या ह्रास आधारित है।

(४) बुद्धि. व्यक्तित्व के विकास में बुद्धि का काफी हाथ रहता है। तीव्र बुद्धि के बालकों का शारीरिक तथा मानसिक विकास तीव्रगति से होता है। व्यक्ति बुद्धि के बल पर ही नवीन से नवीन और जटिल से जटिल परिस्थितियों से समायोजन कर सकता है। शिक्षण-प्रशिक्षण, समस्या-समाधान आदि में भी सूझ-बूझ का काम पड़ता है। इस प्रकार व्यक्ति के जीवन की सभी उपलब्धियां अच्छी बुद्धि पर निर्भर करती हैं। गाल्टन, गोडार्ड तथा डुग्डेलादि मनोवैज्ञानिकों के शोधों से यह पता चलता है कि प्रतिभा और मानसिक दुर्बलता आनुवंशिक होती है जो कि एक परम्परा से दूसरी परम्परा में संक्रमित होती रहती है। अत: जो व्यक्ति आनुवंशिक रूप में मानसिक दुर्बलता प्राप्त करता है, वह व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता।

पर्यावरण का प्रभाव

पर्यावरण के अन्तर्गत परिवार, गृह, शाला, समाज, आर्थिक वातावरण, पुस्तकालय, चलचित्र और संस्कृति इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है।

(१) **परिवार**. बच्चों का सर्वप्रथम सामाजिक सम्पर्क अपने माता-पिता से होता है और इसके पश्चात परिवार के अन्य सदस्यों से होता है। माता का स्थान बच्चे के व्यक्तित्व के विकास तथा निर्माण में अधिक महत्वपूर्ण रहता है। माता के प्रभाव के कारण ही शिवाजी, महाराणा प्रताप, स्वामी दयानंद और महात्मा गांधी इतने ऊँचे व्यक्तित्व वाले बन सके। जो बच्चे माता के स्नेह से वंचित रहते हैं, वे अक्सर हृदयहीन, कुव्यवस्थित और असंतुलित व्यक्तित्व वाले निकलते हैं।

ऐसा देखा गया है कि माता-पिता द्वारा जिन बच्चों का लालन-पोषण अच्छे ढंग से होता है, जिनकी आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की पूर्ति की जाती है, और जिनकी अच्छी तरह सुरक्षा की जाती है, वे अधिकतर आशावादी, सुहृदय, सन्तोषी, कर्मठ और सत्यशील आदि निकलते हैं। जिनकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं की जाती है और जिनकी इच्छाओं और आकांक्षाओं का बुरी तरह अवदमन किया जाता है वे जीवन में निराशावादी कुव्यवस्थित और उग्र उदण्ड बन जाते हैं। माता-पिता के अत्यधिक लाड़-प्यार और उनकी अत्यधिक सहायता से अक्सर बच्चे बिगड़ जाते हैं, वे जिद्दी, शरारती और परावलम्बी बन जाते

हैं। वे सदा सुरक्षा की आकांक्षा करने लगते हैं और उनमें निर्भरता की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। फलस्वरूप उनमें आत्मविश्वास के भाव प्रस्फुटित नहीं होने पाते और वे परिस्थितियों से समायोजन नहीं कर पाते। इसके विपरीत यदि वे माता-पिता या परिवार के अन्य सदस्य द्वारा अत्यधिक तिरस्कृत किये जाते, उन पर कड़ी निगरानी रखी जाती और उन पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं तो उनमें हीन, अरक्षित तथा आत्महीनता के भावों का उदय होने लगता है, और वे भीरु और विद्रोही हो जाते हैं। इन दोनों प्रकार के विरोधी व्यवहारों का परिणाम होता है कि बच्चों के व्यक्तित्व का संतुलित विकास संभव नहीं होने पाता।

परिवार में एक ही बच्चा होने से उसे अनावश्यक प्यार मिलता है। इसके कारण वह परामुखापेक्षी, हठी और उपद्रवी बन जाता है। परिवार में अकेले रहने के कारण उसे अन्य बच्चों के साथ खेलने-कूदने का मौका नहीं मिलता जिससे वह एकान्त-वासी, स्वार्थी और अन्तर्मुखी बन जाता है। एलडर के कथनानुसार बच्चों का जन्म-क्रम भी व्यक्तित्व के विकास में अपना प्रभाव डालता है। प्रथम, अंतिम तथा दोनों के बीच के बच्चों की स्थिति विकास-क्रम में एक समान नहीं रहती। इस भिन्नता के कारण जीवन शैलियों में भिन्नता रहती है। परिवार में सबसे बड़ा बच्चा अन्य बच्चों पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। वह ईर्ष्यालु होता है और आदर की आकाँक्षा करता है। सबसे छोटा बच्चा अत्यधिक प्यार, सहायता और सुरक्षा की इच्छा करता है। बीच के बच्चों को बड़े तथा छोटे बच्चे के समान सुविधाएं प्राप्त नहीं होतीं। अतः वे हीन-भाव के शिकार हो जाते हैं। आगे चलकर वे उग्र और विद्रोही बन जाते हैं।

माता-पिता या परिवार के अन्य सदस्यों के पारस्परिक और उनके आचार-विचारों तथा व्यवहारों का प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व पर पड़ता है। जिन परिवारों में माता-पिता, भाई-बहिन, भाई-भाई के बीच सदा महाभारत मचा रहता है और जिनके आचरण और व्यवहार ठीक नहीं रहते तथा जहाँ पर अनुशासन हीनता व अशिक्षा का साम्राज्य छाया रहता है और जिन परिवारों में विच्छिन्नता रहती है, जो परिवार विभिन्न व्यवसनों के शिकार रहते हैं, इन सबका सम्मिलित प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व पर पड़ता है। सिरिलबर्ट, एच० हार्न, फ्रान्सीसी और फलमोर ने इस सम्बन्ध में खोज की और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इन बुराइयों के बच्चे बाल-अपराधी, अस्वाभाविक, असामाजिक अभद्र, अनुशासनहीन, चरित्र-

हीन, आदर्शहीन और विद्रोही वन जाते हैं और इनमें भावना-ग्रंथियां वन जाती हैं, कारण कि वे अनुकरणात्मक होते हैं।

(२) शाला. परिवार के पश्चात दूसरी सामाजिक संस्था शाला है जिसका प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व विकास तथा निर्माण पर अधिक पड़ता है। शाला के वातावरण में बच्चों का सम्पर्क अपने अन्य साथियों और शिक्षकों से होता है। इस प्रकार के विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से वच्चों में सामाजिकता की भावना का विकास होता है। शाला में अपने साथियों तथा अध्यापकों के आचरणों तथा व्यवहारों के अनुकरण करने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है। इसके फलस्वरूप वच्चे उस सांचे और ढांचे में अच्छी तरह ढलने लगते हैं। दूसरे शाला में खेलने-कूदने एवं अन्य प्रकार के मनोरंजनों की समुचित सुविधाएं मिलने पर उनका व्यक्तित्व विशेष रूप से बिखर और निखर उठता है। यदि वच्चों को ये सुविधाएं नहीं प्राप्त होतीं, तो वे तरह-तरह की धूम मचाने में दिलचस्पी लेने लगते हैं और वे अपने-अपने व्यक्तित्व को आवाद करने की वजाय वर्वाद कर वैठते हैं।

वच्चों के व्यक्तित्व पर शिक्षकों की योग्यता, आचरण व्यवहार और चरित्र का बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि शिक्षक अयोग्य, चरित्रहीन और व्यवहार कुशलता रहित रहते हैं तो वालक भी गैर-जिम्मेदार, अयोग्य, आचरणहीन हो जाते हैं। जैसे गुरू वैसे चेले की कहावत चरितार्थ होने लगती है। किशोरावस्था में वालकों में वीर-पूजा की भावना पाई जाती है, इसलिए इस समय शिक्षक व्यक्तिगत उदाहरण अथवा आदर्श प्रस्तुत करके उनकी विचारधारा में परिवर्तन उपस्थित कर सकते हैं और व्यक्तित्व का समुचित विकास और निर्माण कर सकते हैं। यदि शिक्षक वैयक्तिक विभिन्नताओं को ध्यान में रख कर वालकों को शिक्षण देते हैं तो उनमें आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि नहीं वनने पाती और जो शिक्षक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर शिक्षण की व्यवस्था करते हैं उससे वालकों के व्यक्तित्व विकास में पर्याप्त सहायता मिलती है।

शालाओं में वालक शाला के सामूहिक कार्यक्रमों, खेलकूदों और उत्सवों में सामूहिक रूप से सक्रिय भाग लेते हैं तो उनमें सामाजिकता की भावना का उद्रेक होता है और उनके सुन्दर व्यक्तित्व का विकास तथा निर्माण होता है। खेल के मैदान और साथियों का प्रभाव भी वच्चों के व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। वालक अपनी योग्यता, वुद्धि तथा प्रकृति व प्रवृत्ति के आधार पर नेतृत्व तथा विनीतता के शालेय गुण ग्रहण करते हैं। शालाओं में खेल-कूद व मनोरंजनों की

उचित व्यवस्था होने से बच्चे मानसिक अन्तर्द्वन्दों और तनावों तथा संघर्षों के शिकार नहीं बनते। शिक्षक का व्यक्तित्व भी बच्चों के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

(३) **समाज तथा समूह.** भौतिक पर्यावरण और सामाजिक पर्यावरण—आगबर्न और निमकाफ के कथनानुसार व्यक्ति पर भौतिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। जैसे ठंडे देश के रहने वाले अक्सर स्वस्थ, परिश्रमी और बुद्धिमान रहते हैं। आगे चलकर आगबर्न और निमकाफ का कथन है कि बच्चों को सामाजिक वातावरण भी बहुत प्रभावित करता है। सामाजिक वातावरण के अभाव में बच्चों के व्यवहार और कार्य पशुवत हो जाते हैं। डा० एल० मुकर्जी के कथनानुसार हमारे व्यक्तित्व और संवेगात्मक जीवन पर बाह्य समाज का कितना प्रभाव है इसका प्रमाण हमें तब मिलता है जब व्यक्ति एक वातावरण को छोड़कर दूसरे वातावरण में प्रवेश करता है अर्थात जब वह एक समाज को छोड़कर दूसरे समाज का सदस्य बन जाता है। विलियम थामस और जेनानिबी ने पता चलाया कि जो व्यक्ति हंगरी से भागकर अमेरिका या पश्चिम यूरोप में बस गए थे उनमें कुछ बहुत भयभीत और नम्र बन गए और कुछ अधिक उग्र और विद्रोही स्वभाव के हो गए।

समाज में पाई जाने वाली नाना प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओं द्वारा व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित और निर्मित होता है। व्यक्तित्व के निर्माण में प्रशंसा और आरोप, सहयोग और संघर्ष, सहिष्णुता, प्रभुत्व और अनुकूलता तथा आत्मसात इन सामाजिक प्रक्रियाओं का अधिक हाथ रहता है और व्यक्तित्व का विकास अनुकरण, सुझाव तथा सहानुभूति के द्वारा होता है। दूसरे, जिस सामाजिक वातावरण में व्यक्ति रहते हैं उन्हें समाज के प्रचलित नियमों का पालन करना पड़ता है। भिन्न समाज में भिन्न-भिन्न वेशभूषा, व्यवहार, विचार, विश्वास रहते हैं। भिन्न-भिन्न समाज के व्यक्तियों पर इनका भिन्न-भिन्न रूप से प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। गिरोह के नेताओं के आदर्शों और नियमों का परिपालन समूह के व्यक्तियों को करना पड़ता है। उन्हीं के आधार पर उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। पड़ोसियों से भी बच्चे बहुत कुछ सीखते हैं। यदि पड़ोसी अच्छे रहें तो बच्चे भी अच्छी बातें उनसे सीखेंगे, इसी प्रकार यदि वे खराब रहें तो वे बुरी बातें सीखेंगे और अपने व्यक्तित्व को बिगाड़ेंगे।

(४) **आर्थिक वातावरण.** यदि बच्चों की आर्थिक दशा खराब रहती है और यदि वे दरिद्रता में रहते हैं तो उनकी अनेक इच्छाओं का अवदमन होता है और इसके फलस्वरूप वे असामाजिक व्यवहारों को प्रदर्शित करने लगते हैं। इस

प्रकार उनके व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध होता है। दरिद्रता पाप की जननी कही गयी है। दरिद्रता के कारण वे बाल-अपराध करने लगते हैं, वे अपने अभाव और असन्तोष की पूर्ति विभिन्न अपराधों द्वारा करते हैं। डाक्टर हेकरवाल का कथन है कि क्षुधा और भुखमरी बालकों को अपराध के सरल एवं कुटिल मार्ग पर चलने के लिए प्रलोभित करती है।

(५) **पुस्तकालय और चलचित्र**. पुस्तकालय में यदि अच्छी पुस्तकें रहती हैं तो वे बच्चों के व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। यदि पुस्तकालय में यौन साहित्य की भरमार रहती है तो उसके अध्ययन द्वारा बच्चे अपने आपको बिगाड़ लेते हैं। इसी प्रकार चलचित्रों द्वारा भी उनके चरित्र बिगड़ने की बहुत कुछ आशंका रहती है। कई गन्दे चलचित्रों द्वारा बाल अपराधों की अभिवृद्धि होती है। किशोरावस्था में वीर-पूजा की भावना की प्रबलता रहने के कारण कई अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों को अपना-जीवन आदर्श मान लेते हैं। इसके फलस्वरूप वे अपने व्यक्तित्व को भोंडा बना लेते हैं। यदि पुस्तकालय में उत्तम और पवित्र साहित्य रहा और चलचित्र शिक्षाप्रद रहे तो वे बच्चों के सुन्दर व्यक्तित्व के विकास में महान योगदान दे सकते हैं।

(६) **संस्कृति**. एक विद्वान के कथनानुसार एक ओर समूह व्यक्ति को जन्म देता है तो दूसरी ओर संस्कृति उसके स्वरूप को निश्चित करती है अर्थात् व्यक्ति का समाजीकरण उसकी संस्कृति के द्वारा होता है। संस्कृति किसी भी समाज के रहने के ढंग को कहा गया है। उसकी अपनी परम्पराएं होती हैं जिनके अनुकूल व्यक्ति सुसंस्कृत होने हैं। संस्कृति और व्यक्तित्व में घना सम्बन्ध है। संस्कृति के अनुकूल ही व्यक्तित्व का विकास होता है। बेनडिक्ट और न्यू मैक्सिको तथा मारगरेट मीड ने न्यू गिनी के निवासियों के जीवन का अध्ययन किया और वे इस परिणाम पर पहुंचे कि सामाजिक प्रथा के अनुसार वहां के पुरुष स्त्रियों से दबकर रहते हैं।

व्यक्तित्व विकास के सिद्धान्त

व्यक्तित्व विकास के अनेक सिद्धान्त हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं :—

१. फित्ज हीडर का व्यवहारवाद या सामान्य मनोविज्ञान का सिद्धान्त

हीडर का कथन है कि रोजमर्रा के जीवन में हम दूसरों के व्यवहारों की केवल व्याख्या ही नहीं करते, बल्कि उनके साथ समायोजन भी करते हैं। नवजात शिशु के व्यवहार अव्यवस्थित और विशृंखल रहते हैं। ३-४ वर्ष की आयु में

पशुवत् व्यवहार के स्थान में मनुष्यवत् व्यवहार करने लगते हैं। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि सब मानवीय व्यवहार कतिपय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बोधात्मक रूप से निर्देशित होते हैं। यह बोध या अनुभूति स्वाभाविक क्रिया मानी जाती है जोकि व्यक्ति के बाह्य संसार के साथ सम्पर्क से उद्भूत होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार सब भिन्न लोगों के व्यवहार में विभिन्नतायें प्रेरणाओं पर निर्भर रहती हैं। यह सिद्धान्त यह मानता है कि सांवेगिक प्रतिक्रियायें जन्मजात होती हैं। व्यवहारवादी सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार की मूलभूत संरचना इच्छा, प्रयत्न और सुख-दुख आदि के बिना पूर्व प्रशिक्षण के आप ही आप उद्भूत होती है।

२. कुर्तलेविन का क्षेत्रीय सिद्धान्त

जर्मन मनोवैज्ञानिक कुर्तलेविन निर्दिष्ट समय के व्यवहार को जीवन विस्तार मानता है। उसका कहना है कि व्यक्ति अपने जीवन क्षेत्र में किये गये व्यवहारों के प्रति रुचि रखता है। व्यक्तित्व के विकास के सम्बन्ध में लेविन की निम्नलिखित धारणायें पाई जाती हैं :

(अ) ज्योंही बालक बढ़ता है वह अपने व्यवहार में विविधता प्रदर्शित करता है। उसके कार्यों, संवेगात्मक अभिव्यंजनाओं, आवश्यकताओं, रुचियों और सामाजिक सम्बन्धों की विविधता में विवृद्धि हो जाती है।

(ब) जैसे-जैसे बालक बढ़ता है वैसे-वैसे बालक का व्यवहार अधिकाधिक संगठित होता जाता है। संगठन में उसका व्यवहार बड़ी अनन्वितियों में बंट जाता है और साथ ही व्यवहार की इकाई में जटिलता आ जाती है। जैसे—एक छोटा बालक एक समय में ही एक ही बच्चे से मित्रता स्थापित कर पाता है, परन्तु एक बड़ा बालक एक समय में अनेक बालकों से मित्रता का सम्बन्ध जोड़ सकता है।

(स) बालक का मनोवैज्ञानिक वातावरण, आवृत्त क्षेत्रफल तथा समय अवधि में विस्तार पाता है और उसकी क्रिया के क्षेत्रों का विस्तार हो जाता है। बालक के जीवन अन्तराल में अधिक क्षेत्र नहीं रहते और बालक के मनोवैज्ञानिक वातावरण में दूरस्थ भविष्य की आशायें रहती हैं। छोटा बच्चा वर्तमान में रहता है और आयु-वृद्धि के साथ-साथ वह अतीत के सम्बन्ध में विचार करने लगता है और वर्तमान काल से सम्बन्धित रहता है। बाद में वह दूरस्थ भविष्य की कल्पना करने और योजनायें बनाने लगता है। इसलिये जीवन केवल परिणाम में नहीं बढ़ता, बल्कि उसका अंश भी जो बालक के लिए दुर्लभ रहता है, बढ़ता है।

जैसे एक बड़ा बालक छोटे बालक की अपेक्षा अधिक कार्य कर सकता है सुदूर जा सकता है और मित्र के पास भी जा सकता है जो कि छोटे बालक के लिए होना असम्भव है।

(ड) बालक की विवृधि उसकी एक दूसरे पर क्रियाओं की निर्भरता में परिवर्तन उपस्थित करती है जिसके फलस्वरूप उसके व्यवहार में अन्योन्याश्रयता आ जाता है। बालक का व्यवहार अधिकतर आवेगों और भावों से अनुशासित होता है जबकि आवेगों और भावों के रहते हुए वयस्क इतने शीघ्र उन पर कार्य-वाही नहीं कर पाते। जैसे-जैसे यह बालक बढ़ता है वैसे-वैसे एक-दूसरे की क्रिया में स्वतन्त्रता की वृद्धि होती जाती है। जब स्वतन्त्र कार्य और क्रियायें संगठित हो जाती हैं तब उनमें अनेकता का समाकलन हो जाता है, परन्तु वास्तविक समीकरण संगठनात्मक अन्योन्याश्रयता द्वारा ही प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए वयस्क बाजा बजाने के साथ-साथ कहानी भी लिख सकता है।

(प) विकास के अन्तर्गत पाँचवां परिवर्तन यथार्थता में वृद्धि से सम्बन्धित रहता है। जैसे आयु की वृद्धि के साथ-साथ प्रदेशों की संख्या में भी वृद्धि हो जाती है। छोटे बालक की अपेक्षा वयस्क में बहुत अधिक भेदीकृत तनाव होते हैं। जब व्यक्ति में बहुत अधिक भेदीकरण हो जाता है तब सीमाओं में परिवर्तन होता है। सब व्यक्तियों की सीमायें एक सी नहीं होतीं। बच्चों की सीमायें प्रौढ़ों की सीमाओं की अपेक्षा कम दृढ़ होती हैं। व्यक्ति बड़ा होने पर यथार्थता की ओर विशेष रूप से उन्मुख होता है। परन्तु छोटा बालक सरलता से यह नहीं जान पाता कि वास्तविक रूप में यथार्थता क्या है और काल्पनिकता क्या है।

लेविन ने व्यक्तित्व विकास में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ विकास की सैद्धान्तिक विवेचना की है। इस विश्लेषण में भेदीकरण और सीमाओं में परिवर्तन और समीकरण की प्रमुखता है। भेदीकरण के अन्तर्गत समग्र के भावों की संख्या में वृद्धि होती है।

३. फ्रायड का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त

फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त में तीन प्रधान बातें पायी जाती हैं। व्यक्तित्व सरंचना का सिद्धान्त, व्यक्तित्व विकास का सिद्धान्त, और व्यक्तित्व गतिशीलता की पद्धति।

व्यक्तित्व सरंचना. फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व तीन मानसिक शक्तियों द्वारा निर्मित होता है। जैसे इदमम्, अहम्, और पराहम्। मानवीय व्यक्तित्व

इन्हीं तीन मानसिक शक्तियों की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। इदम् अपने में प्रेरकों की तात्कालिक सन्तुष्टि का इच्छुक रहता है। अंधी मूल-प्रवृतियों का समाहार होने के कारण यह पूर्णरूपेण अचेतन रहता है। इसे भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता है। यह काम-वासना का कोष रहता है। यह काम-वासना तृप्ति सिद्धान्त से शासित होता है। इसका उद्देश्य प्रकृत काम-वासनाओं की तुष्टि करना है। इसका बाहरी पर्यावरण से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। इदम् का विकास अहम् है। इसका प्रधान कार्य मूल प्रवृतियों को ग्रहण करना है। यह चेतन और विचारशील होता है। यह बाहरी जगत् से नियम और इदम् की स्वाभाविक प्रवृत्ति, संवेग, दबाव और नैतिक मन की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं में समझौता करता है ताकि व्यक्तित्व का संतुलन बिगड़ने न पावे। नैतिक मन (पराहं) अहम् की क्रिया तथा आदर्श का प्रतिफल होता है। यह पूर्वकालीन बाल्यावस्था में उत्पन्न होता है। यह नैतिकता के आधार पर व्यक्ति की क्रियाओं की आलोचना अव्यक्त रूप में करता है। इसके प्रमुख कार्य इदम् के आवेगों का दमन करना, नैतिक लक्षणों की प्राप्ति हेतु अहम् को मानना और पूर्णता के लिए प्रयास करना है। बाल्यावस्था में बालक माता-पिता तथा शिक्षकों के सम्पर्क में आते हैं। वे उन्हें नैतिकता की बातें बतलाते हैं। परन्तु उनकी प्राकृतिक इच्छायें और कुछ हुआ करती हैं। इच्छाओं की संतुष्टि न होने पर भावना-ग्रन्थियां पड़ती हैं और परिणामस्वरूप पराहम् का निर्माण होता है।

फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व का विकास तब होता है जब तनाव के मुख्य श्रोतों के प्रति प्रतिक्रिया होती है। यह मुख्य श्रोत शरीर-क्रियात्मक प्रक्रियायें, संघर्ष, भग्नाशायें तथा धमकियां हैं। इन चार श्रोतों के तनावों की वृद्धि कम करने के लिए नवीन कार्य पद्धतियां सीखनी पड़ती हैं। इस प्रकार के सीखने को व्यक्तित्व का विकास कहा जाता है। यह कार्य पद्धतियां इस प्रकार हैं—विस्थापन, तादात्म्य प्रक्षेपण, युक्ताभास, उन्नयन, दमन और प्रत्यावर्तन आदि । विस्थापन में संवेग एक वस्तु से दूसरी वस्तु के प्रति विस्थापित कर दिया जाता है। यह क्रिया दबायी हुई इच्छाओं और दमन शक्ति के बीच समझौता करती है। इससे अहम् की मर्यादायें भंग नहीं होने पातीं। तादात्म्य में हम दूसरे व्यक्ति के गुण-दोषों को अंगीकार कर लेते हैं और इस प्रकार उसकी अच्छी या बुरी विशेषतायें हमारे व्यक्तित्व का अंग बन जाती हैं। प्रक्षेपण में हम अपना अपराध या दोष किसी बाहरी विषय पर आरोपित करके अपना मानसिक भार कम करने का उपक्रम करते हैं। निरोध में व्यक्ति अस्वीकृत इच्छाओं तथा आवेगों को चेतना में आने से रोकता है अथवा उन्हें जोर जबर्दस्ती हटाता है। युक्याभास में जब व्यक्ति को इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं होती तो वह यह कह कर सन्तोष कर लेता है कि उक्त

वस्तु का कोई महत्व नहीं है। जैसे लोमड़ी को अंगूर का गुच्छा न मिलने पर उन्हें खट्टे कहना।

व्यक्तित्व विकास. फ्रायड का मत है कि शैशवकाल से लेकर प्रौढ़ावस्था तक व्यक्तित्व का विकास चार परस्पर-व्यापी अवस्थाओं द्वारा होता है जो इस प्रकार हैं:

(अ) मुखीय अवस्था. जन्म के पश्चात् यह अवस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में शिशु के सुख और सन्तोष का प्राथमिक मूल कारण उसके शरीर के मुखीय क्षेत्र के उद्दीपन से उद्भूत होता है। जैसे जब बच्चा भूख से बेचैन होकर चिल्लाता है और यदि उसे मुख द्वारा चूसने का कुछ पदार्थ मिल जाता है तो वह चुप हो जाता है। इस अवस्था में पराश्रयता भी बहुत रहती है। इसमें शिशु प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति पराश्रय रूप में करता है। आगे चलकर फ्रायड का कहना है कि अंगूठा चूसने में शिशु काम-प्रवृत्ति का अनुभव करता है। इस प्रकार लुब्धा के विकास में शिशु के मुखीय सुख की प्रधानता रहती है। इस अवस्था की दूसरी विशेषता निष्क्रियता है। वातावरण की कठोरता के कारण यदि बालक की देखभाल नहीं की जाती या उसकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं की जाती तो उसमें अविश्वास की भावना उत्पन्न होती है। यह लगभग एक वर्ष तक रहती है।

(ब) गुदीय अवस्था. इस अवस्था में शरीर-सज्जा का प्रशिक्षण व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है। साथ ही गुदीय उद्दीपन से बालक सुख व कामानन्द की प्राप्ति करता है। इस काल में बालक सक्रिय रहता है और उसमें समाजीकरण स्वयात्तता, लज्जाशीलता तथा अनुरक्षण द्वारा बालक सुख व आनन्द की अनुभूति करता है। इस अवस्था में सुख तथा आनन्द के श्रोत मल धारण या मल विसर्जन और पेशीय नियन्त्रण होते हैं। दूसरे-तीसरे वर्षों की अवधि में इस अवस्था की प्रधानता रहती है।

(स) शिश्नीय अवस्था. यह अवस्था ३-५ वर्ष की आयु से प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में बालक जनेन्द्रिय के दर्शन-पर्शन से आनन्द की अनुभूति करता है। इस अवस्था में बालक अनेक कौशलों को प्राप्त करने और अन्य पुरुषों के विषय में नई बातों से परिचित होने का अवसर प्राप्त करता है। इस समय नैतिक मन का विकास होता है और वह आदर्शयुक्त हो जाता है। वह सत्ता के प्रति विद्रोह भी करता है। इस समय लड़के-लड़कियां पिता पुत्र के बीच संघर्ष का बोलबाला रहता है।

(ड) कुमारावस्था. इस अवस्था में कुमार कुटुम्ब के बाहर समाज द्वारा स्वीकृत

विलिंगीय सम्बन्धों को स्वीकार करता है और इस समय विषम-लिंगीय प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है।

व्यक्तित्व गतिशीलता. फ्रायड ने व्यक्तित्व के अन्तर्गत इस बात का प्रतिपादन किया है कि व्यक्ति के विचार तथा व्यवहार प्रेरकों द्वारा उद्भूत होते हैं। इदम् की मूल प्रवृत्तियों तथा अन्त:प्रेरणाएं प्रेरक का काम करती हैं। छिपे आवेग चिन्ता उत्पन्न करते हैं, अन्त:प्रेरणा का अचेतन रूप में निरोध किया जाता है। इस प्रकार अचेतन अभिप्रेरणा व्यक्तित्व विकास में गतिशीलता लाती है।

४. युंग का विश्लेषणात्मक सिद्धान्त

युंग के अनुसार व्यक्तित्व की गतिशीलता के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक ऊर्जा अर्थात् लिविडो जो चालन शक्ति का काम करती है, सतत् विकास के अधिक समग्र रूप की ओर अग्रसर होती है साथ ही वह अनुक्रमों के रूप में विकसित होती है जिन्हें लक्ष्य कहा जाता है। वह शैशवावस्था में उत्तम जीविता के, किशोरावस्था में यौन अभिव्यक्ति की प्रभाविता के तथा परिपक्वा अवस्था में सांस्कृतिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक लक्ष्यों के रूप में देखी जाती हैं। जब व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित होता है तब वह मानसिक ऊर्जा के विसर्जन से उन्नयन करके सब तत्वों को समाकलित करता है।

फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त और युंग के विश्लेषणवादी सिद्धान्त में कुछ अन्तर है। फ्रायड ने व्यक्तित्व के शैशव उद्गमों और युंग ने जातीय उद्गमों पर बल दिया है। युंग ने व्यक्तित्व की संरचना में आठ तत्वों को प्रधानता दी है। वे इस प्रकार हैं—अहम्, वैयक्तिक अचेतन, ग्रन्थियां, सामूहिक अचेतन, आद्यस्वरूप (भाव प्रतिमायें) परसोना, एनीमा तथा एनीमस और छाया। अहम् व्यक्तित्व का केन्द्र विन्दु है जोकि चेतन प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृतियों, भावनाओं तथा विचारों द्वारा निर्मित होता है। यह उन अनुभवों से निर्मित होता है जो कभी चेतनावस्था में वर्तमान थे परन्तु अब वे दमित अथवा उपेक्षित कर दिये गए हैं। ग्रन्थियां व्यक्ति के प्रत्यक्षों, विचारों तथा भावनाओं का समूह है जो कि वैयक्तिक अचेतन में पायी जाती हैं। सामूहिक अचेतन में पूर्वजों से प्राप्त उन विशेषताओं की छाप का समावेश रहता है। हमारे मस्तिष्क में इसकी गहरी छाप रहती है। हममें अंधेरे स्थान और सर्पों से भय खाने की जातीय प्रवृत्ति पायी जाती है। कारण कि आदिम मनुष्य ने अंधेरे में अनेक संकटों का सामना किया था और अनेक विषधर सर्पों का शिकार बना था। ये जातीयता के गुण भाव प्रति-

माओं के आद्य रूप में रहते हैं। जैसे लोगों में जादू टोने में आद्य विश्वास पाया जाता है। परसोना द्वारा दूसरों पर प्रभाव डाला जाता है। भाव प्रतिमायें एनीमा और एनीमस के रूप में प्रत्येक स्त्री-पुरुष के सामूहिक अचेतन में अव्यक्त रूप में पायी जाती है। एनीमा में स्त्री गुण की प्रधानता रहती है। इसी लिए जिस पुरुष में जिस भाव-प्रतिमा की प्रमुखता रहती है तो उसमें स्त्री की लज्जा-शीलता अधिक रहती है। एनीमस में पुरुष गुग की प्रधानता रहती है। इसलिए जिस स्त्री में इस गुण की प्रधानता रहती है वह पुरुषों से स्पर्धा करती है। छायानी पशु की मूल प्रवृत्तियों से निर्मित होता है और इसी कारण व्यक्ति के व्यवहार में पशु प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है।

युंग ने स्व को व्यक्तित्व का मध्य बिन्दु माना है। उनके अनुसार यह व्यक्तित्व को एकत्व तथा सन्तुलन प्रदान करता है। आगे चलकर युंग का कहना है कि मानव में बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दो प्रधान अभिवृत्तियाँ होती हैं। बहिर्मुखी अभिवृत्ति की प्रधानता के कारण व्यक्ति में बाहरी जगत से अधिक सम्पर्क रखने की प्रवृत्ति पायी जाती है और अन्तर्मुखी व्यक्ति अपने ही विचारों तथा आदर्शों में रत रहता है। युंग ने व्यक्तित्व के विकास का लक्ष्य आत्म-पूर्ति माना है। उनका कथन है कि जब व्यक्ति अधिक प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होता है तब उसकी यौवन की अभिवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और उसमें आध्यात्मिकता का उन्मेष हो जाता है। बहुत अधिक प्रतिरोध से मन दौर्बल्य की सम्भावना रहती है। व्यक्ति को ठीक मार्ग पर चलने के लिए अपने आप को स्वीकार करना पड़ना है।

५. एडलर का सिद्धान्त

एडलर ने अपने समाज मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में व्यक्तित्व के ६ तत्व माने हैं यथा—कल्पनात्मक अन्तवाद, उत्कृष्टता के लिए प्रयास, हीनता-भावना, तथा उसकी परिपूर्ति, सामाजिक अभिरुचि, जीवन-शैली, और सृजनात्मक स्व। कल्पनात्मक अन्तवाद में प्रत्येक व्यक्ति में अनेक कल्पनात्मक विकार होते हैं जो कि उसके व्यवहारों को प्रभावित करते हैं। जैसे यह विश्वास पाया जाता है कि धर्मात्मा के लिए स्वर्ग है और पापात्मा के लिए नरक। उत्कृष्टता के प्रयास के सम्बन्ध में एडलर का कहना है कि जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति का आक्रमणकारी, शक्तिशाली और उत्कृष्ट होना जरूरी है। एडलर का मत है कि व्यक्ति में किसी न किसी कारणवश हीनता की भावना उत्पन्न होती है और वह जोरदार प्रशिक्षणों द्वारा उस कमी की पूर्ति करता है।

जैसे—डेमास्थनीज ने हकलाने पर विजय पाने के लिए मुंह में कंकड़ डालने का तीव्र प्रयास किया था और इस प्रकार कमी की पूर्ति की थी।

सामाजिक अभिरुचि के अन्तर्गत समाज को सत्यता प्रदान करके तथा सामाजिक कार्यों में अधिक रुचि लेकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। एडलर के अनुनार जीवन के प्रति व्यक्ति की जो अभिरुचि वृत्ति बन जाती है वह जीवन-शैली कहलाती है। इसका निर्माण चार पाँच वर्ष की अवस्था तक ही हो जाता है। जीवन शैली में वैयक्तिक विभिन्नता पायी जाती है। जो जीवन शैली बुद्धिजीवी की होती है वह पहलवान की नहीं होती। एडलर के कथनानुसार सृजनात्मक स्व के आधार पर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

एडलर तथा उसके साथी व्यक्ति के व्यक्तित्व को सामाजिक पर्यावरण की अन्यान्य क्रिया के रूप में मानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की एक मूल-भूत प्रेरणा रहती है और इसी से अन्य प्रेरणाएें जन्म लेती हैं। व्यक्ति प्रेरणा का लक्ष्य निर्देशित रहता है और मनोवैज्ञानिक आन्दोलन की गतिशीलता प्रभावी निर्देशों के लक्ष्य द्वारा पूरी की जाती है। आत्मतन्त्रवाद के मूलभूत सिद्धान्त में व्यक्ति का व्यवहार अन्तर्निहित रहता है और व्यक्ति के वातावरण के व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण से आन्तरिक ऋजुता उद्‌भूत होती है। बालक में विकास के प्रारम्भिक वर्षों में मनोवैज्ञानिक गतिशीलता अधिकतर सामाजिक अभिरुचि, आत्महीनता तथा आत्म-उच्चता की भावनाओं की मात्रा से निर्मित होती है। आगे चलकर इस सिद्धान्त की मान्यता है कि वंश-परम्परा और परिवेश दोनों का व्यक्तित्व निर्माण में हाथ रहता है। एडलरवादियों का कथन है कि बालक या व्यक्ति का व्यवहार उसकी क्रियाओं के किसी लक्ष्य से अनुप्राणित होता है और बाल-विकास पर पारिवारिक वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है।

६. कुर्त गोल्डस्टीन का अंगी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार उपयुक्त वातावरण में ही स्वस्थ और समाकलित व्यक्तित्व का विकास होता है। व्यक्ति में मूलरूप से कोई बुराई नहीं होती, पर उसका व्यक्तित्व अनुपयुक्त पर्यावरण द्वारा विकृत हो जाता है। गोल्डस्टीन का मत है कि व्यक्ति आत्मपूर्ति अथवा आत्म-ज्ञान की अन्तःप्रेरणा द्वारा अपनी अंतर्निहित सम्भाव्यताओं की अनुभूति प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयास करता है। इस प्रयास से उसके व्यक्तित्व तथा जीवन में एकात्मकता की प्राप्ति होती है। आत्मसिद्धि ही प्रमुख अन्तर्प्रेरणा है और अन्य प्रेरणायें जैसे भूख, जिज्ञासा और कामादि हैं। अन्तर्प्रेरणा द्वारा ही व्यक्तित्व का विकास होता है। उदाहरण के

लिए जो व्यक्ति अज्ञानी होता है वह आन्तरिक कमी का अनुभव करता है। प्रयास तथा अध्ययन करके वह ज्ञान जिज्ञासा की पूर्ति करता है और यह जिज्ञासा की पूर्ति तथा तृप्ति ही आत्म-सिद्धि है।

आगे चलकर गोल्डस्टीन का कहना है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्यावरण से समायोजन करना पड़ता है। यह समायोजन आत्म-सिद्धि में सहायक होता है। परन्तु धमकियां तथा दवाव साधक क स्थान पर बाधक सिद्ध होते हैं। परिपक्वन तथा प्रशिक्षण द्वारा व्यक्तित्व का विकास होता है। गोल्डस्टीन का मत है कि व्यक्ति एक इकाई है जिसमें शारीरिक संरचना और शारीरिक परिपक्वन मूलभूत तत्व हैं। शारीरिक मानसिक शक्तियों के अंतर्सम्बन्धित तथा मूल रूप से संगठित संयोजन इस सिद्धान्त में व्यक्तियों की आवश्यकताओं की सामान्य प्रकृति, उसकी विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके उन्हें समझा-बुझा और उनका प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के आधार पर अन्तश्चेतना भिबोधन परीक्षण (टी० ए० टी०) का विकास हुआ जिसमें व्यक्तियों की अन्तश्चेतना को प्रकाश में लाया जाता है।

७. उद्दीपन-अनुक्रिया का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक पैवलव वाटसन, हल और स्किनर आदि मनोवैज्ञानिक हैं। पैवलव ने एक प्रयोग किया। पहले वह कुछ दिन तक अपने कुत्ते को भोजन के लिए मांस का टुकड़ा देता था और साथही घंटी वजाता था। मांस को देखकर कुत्ते के मुंह में लार निकल आती थी। कुछ दिनों के पश्चात् उसने उसे मांस का टुकड़ा न देकर केवल घंटी वजायी। घंटी की आवाज मात्र से उसके मुख में लार उत्पन्न हो गयी। अतः उसने इस प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया कि स्वाभाविक उद्दीपन के साथ-साथ कृत्रिम उद्दीपन प्रस्तुत करने से भी अनुक्रिया उत्पन्न होती है।

इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि व्यवहार सीखा जाता है और सीखा हुआ व्यवहार स्वतन्त्र सीखने की प्रक्रियाओं का परिणाम रहता है। दूसरे व्यवहार बाह्य पुनर्बलन द्वारा सीखा जाता है। इस सिद्धान्त का बाल-विकास के सम्बन्ध में यह मत है कि वालक प्रौढ़ के व्यवहार, मूल्य और चिन्ताओं को वाल्यावस्था के अनुभवों द्वारा सीखता है। विकास-क्रम प्रत्येक बालक की अनुक्रियायें पुनर्वलोकृत, दण्डित या उपेक्षित की जाती हैं और बालक के पर्यावरण में अनेक उद्दीपन एक दूसरे से संगतिपूर्वक सम्बद्ध किये जाते हैं। इस सिद्धान्त में अभ्युनुकूलन तथा पुनर्वलन का सिद्धान्त रहता है। इस सिद्धान्त में मूलभूत धारणा रहती है कि कोई भी उद्दीपन की अनुक्रिया होती है और इस अनु-

क्रिया में अनेक तत्व काम करते हैं जैसे—बुद्धिमत्तापूर्ण अन्तर्चालन, अन्तर्नाद, अग्र-घर्षण और निर्देशित चिन्तन आदि। इस सिद्धान्त में प्रेक्षण विषयक सीखने को भी सम्मिलित किया जाता है । हल का कथन है कि सब व्यवहार व्यक्ति की आवश्यकताओं पर आधारित होते हैं और सीखना तभी सम्भव होता है जबकि आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। इसके फलस्वरूप मानसिक तनाव कम हो जाता है। यदि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो व्यक्ति कोई भी बात नहीं सीख पाता और उसमें मानसिक तनाव बढ़ जाता है ।

८. डालार्ड और मिलर का पुनर्बलन का सिद्धान्त

डालार्ड और मिलर के अनुसार व्यक्ति के स्थायी गुणों के विकास तथा निरूपण के लिए आदतों का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहता है । साथ ही अन्त-प्रेरणा और अनुक्रिया सोपान का भी। व्यक्तित्व के विकास में प्रधानतः चार तत्व अन्तर्प्रेरणा, संकेत, अनुक्रिया और पुरुस्कार पुनर्बलन का काम करते हैं। डालार्ड और मिलर के अनुसार जो घटनायें प्रदत्त अनुक्रिया और विशेष संकेत के बीच संयोजन को बलशाली बनाती हैं वे पुनर्बलन कहलाती हैं। उनके अनुसार प्रेरणा दो प्रकार की होती है। पहली प्राथमिक अन्तर्प्रेरणा जो कि शारीरिक क्रियात्मक प्रक्रियाओं से सम्बन्धित रहती है। वे हैं भूख, प्यास, कामवृत्ति आदि। दूसरी आन्तरिक प्रेरणाएं जो कि व्यक्ति के विचारों व व्यवहारों को अन्दर से प्रेरित करती हैं। यह दोनों प्रकार की प्रेरणायें व्यवहारों को शक्ति प्रदान करती हैं और साथ ही साथ मार्ग दर्शन भी। संकेत व्यक्ति की अनुक्रिया का मार्गदर्शन करता है। हम उद्दीपक अनुक्रिया सिद्धान्त में पढ़ चुके हैं कि उद्दीपक अनुक्रिया उत्पन्न करते हैं। अनुक्रिया का पुनः होना पुनर्बलन पर निर्भर रहता है। पुनर्बलन या पुरस्कार के अभाव में आदतें या तो समाप्त हो जाती हैं या कमजोर पड़ जाती हैं। अन्तर्प्रेरणा की कमी की दशा में सीखना सम्भव होता है ।

जब अनुक्रिया का प्रायः तात्कालिक परिणाम होता है और कोई घटना घटित होती है तब हमें उक्त घटना का पुनर्बलन करना पड़ता है। उदाहरण के लिए जब भूखा कबूतर खाने के पात्र में चोंच मारता है अर्थात् चुगने की अनु-क्रिया करता है उसी समय उसे भोजन दे दिया जाता है तो उसके लिए पात्र में चोंच मारना या चुगना अनुक्रिया है और भोजन पुरस्कार है । भोजन का प्रस्तुतीकरण कबूतर को पात्र में चुगने के लिए पुनर्बलित करता है । और यही पुनर्बलन कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है। एक धनात्मक और दूसरा ऋणात्मक । जब कोई व्यक्ति किसी काम में लगे रहने पर उसे रोक कर किसी

चहेते व्यक्ति के वार्तालाप में भिड़ पड़ता है तो उक्त व्यक्ति के प्रति उसकी अनु-क्रियायें उसके मित्रवत् व्यवहार से धनात्मक रूप में पुनर्बलित होती हैं । परन्तु जब काम में संलग्न रहने पर किसी व्यक्ति का मित्र वार्तालाप आरम्भ कर देता है तो व्यक्ति को कुछ चिड़ सी छूटती है । कारण कि हाथ में लिया हुआ काम वह पूरा करना चाहता है । मित्र के प्रति उसकी अनुक्रिया कुछ ठंडी सी रहती है । और उसका परिणाम यह होता है कि वह उसे अकेला छोड़ कर चला जाता है । यह ऋणात्मक या निषेधात्मक पुनर्बलन का उदाहरण है ।

व्यक्तित्व विकास की अवस्थाओं के सम्बन्ध में डालार्ड और मिलर की यह धारणा है कि शैशव तथा बाल्यकाल में जो अचेतन संघर्ष सीखे जाते हैं वे जीवन के उत्तरकालीन भाग में संवेगात्मक समस्याओं की आधार-शिला बन जाते हैं । बालक के जीवन के प्रथम दो वर्ष वयस्क व्यवहारों के निर्णायक सिद्ध होते हैं । बच्चे में रुग्ण तंत्रिक संघर्ष माता-पिता के अवरोध या दुर्व्यवहार से उत्पन्न होते हैं । उसके कारण वे चिन्ताग्रस्त हो जाते हैं । बालक इच्छापूर्ति के अभाव में अपने अन्दर निराशा का अनुभव करने लगते हैं । फलतः उनके अन्दर अचेतन कारक उत्पन्न हो जाते हैं । जो कि आगे चल कर उनके व्यवहारों तथा व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं । बाल्यावस्था बालक की पराश्रयता की अवस्था है । इस अवस्था में विशेषकर शैशवावस्था में बच्चा अपने पर्यावरण से समायोजन नहीं कर पाता । इसके कारण अनेक निराशायें उसके हाथ लगती हैं । आगे चल कर आयु की वृद्धि होने पर वह पर्यावरण पर नियन्त्रण पाने के लिए अनेक रक्षात्मक युक्तियां अपनाने लगता है । और यही युक्तियां उसके लिए पुनर्बलन का काम करती हैं । डालार्ड और मिलर के अनुसार सामाजिक संघर्ष में ही व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा व्यवहारों को समझा जा सकता है, कारण कि सामाजिक मान्यतायें व्यक्ति के जीवन को अधिक प्रभावित करती हैं ।

९. मर्रे का सिद्धान्त

मर्रे के अनुसार व्यक्तित्व कार्यात्मक रूपों की निरन्तरता जो कि जन्म से लेकर मृत्य पर्यन्त संगठित शासक प्रक्रियाओं के रूप में वर्तमान रहती हैं । मर्रे ने व्यक्तित्व संरचना में फ्रायड के तीन प्रत्यय इदम्, अहम् और पराहम् को मान्यता दी है और शैशवकालीन ग्रन्थियों और स्थिरीकरण को स्वीकार किया है । मर्रे के मतानुसार व्यक्ति में अनन्यता है । व्यक्ति का समाजीकरण होता है, कारण कि व्यक्ति समाज में रहकर कुछ सामाजिक धारणाओं, विश्वासों और रीति-रिवाजों को अभिग्रहण करता है और कुछ को तिलांजलि दे देता है । समाजी-

करण की प्रक्रिया में बच्चे के माता-पिता तथा अधिकारी वर्ग का विशेष हाथ रहता है। अचेतन प्रक्रियायें व्यक्ति के व्यवहारों का निर्धारण करती हैं और साथ ही अवरोध प्रतिरोध भी ।

मर्रे के अनुसार व्यक्तित्व आवश्यकताओं तथा प्रत्यक्षात्मक दबावों का एक प्रारूप (सेट) है। वह इस बात पर बल देता है कि व्यक्तित्व निर्माण में प्रत्यक्षात्मक और प्रशिक्षण सम्बन्धी प्रक्रियाओं की जटिलताओं और संपूर्णता का हाथ रहता है। आवश्यकता तथा दबाव एक दूसरे से कार्य रूप में सम्बन्धित रहते हैं। वातावरण सम्बन्धी दबाव वर्तमान आवश्यकताओं के आधार पर विवेचित किया जाता है। इस सिद्धान्त में व्यक्तियों की आवश्यकताओं की सामान्य प्रकृति उसकी विभिन्न प्रकार की प्रवृतियों का विश्लेषण करके उन्हें समझा-बुझा और उनका प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के आधार पर अन्तश्चेतना-भिबोधन परीक्षण (टी० ए० टी०) का विकास हुआ जिसमें व्यक्तियों की अन्तश्चेतना को प्रकाश में लाया जाता है ।

१०. गैसेल का विवृद्धि का सिद्धान्त

गैसेल और उसके अनुयायियों का सिद्धान्त है कि सर्व विकास आन्तरिक नियन्त्रित अनुक्रमों तथा विवृद्धि के आधार पर होता है। संस्कृति और परिवेश का उस पर गौण प्रभाव पड़ता है। विवृद्धि से ही सर्व प्रकार के विकास सम्भव होते हैं और आयु-स्तरों के अनुसार विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। जीवन के प्रथम १६ वर्षों में बालक के व्यक्तित्व का विकास आधार होता है। व्यक्तित्व और उसका विकास अनुक्रमों की श्रेणियों से उद्भूत होता है साथ ही वह संगठन तथा अन्य विकास के सदृश अनुक्रमात्मक होता है। प्रत्येक अवस्था की सम्भावना का पहिले ही से पता चल जाता है कि अमुक व्यक्ति का भविष्य में किस प्रकार का व्यक्तित्व रहेगा। इस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा विकास के अनुक्रमों के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है।

११. शेल्डन का व्यक्तित्व संघटक सिद्धान्त

वारविक निवासी शेल्डन ने शरीर-गठन के तीन मुख्य अवयव माने हैं जिनसे मिलकर व्यक्ति का निर्माण होता है। वे है—एन्डोमार्फी, मैसोमार्फी और एक्टोमार्फी। जिस व्यक्ति में एन्डोमार्फी की प्रधानता रहती है उसके शरीर में चिकनाहट और गोलाई होती है। ऐसा व्यक्ति मोटा हुआ करता है। मैसी-मार्फी की प्रधानता वाले व्यक्ति की पेशियाँ और हड्डियाँ मजबूत होती हैं, शरीर बलशाली और कड़ा होता है। पहलवान, साहसिक और सैनिक में इस तत्व की प्रधानता रहती है।

जिस व्यक्ति में एक्टो-मार्फी की प्रधानता रहती है उस व्यक्ति का शरीर दुवला-पतला और कोमल होता है, पर उसका मस्तिष्क चौड़ा तथा छाती चौड़ी होती है। शेल्डर ने शरीर-गठन के आधार पर अनेक पुरुषों का अध्ययन करके यह पता लगाया कि शरीर-गठन और व्यवहार तथा स्वभाव का गहरा सम्वन्ध रहता है। उन्होंने स्वभाव के तीन अवयवों की खोज की जो इस प्रकार हैं—विसैरोटोनिया, सोमैरोटोनिया और सैरेक्रोटोनिया। उनके अनुसार अधिक विसैरोटोनिया स्वभाव वाले व्यक्ति में आरामतलवी, समाज-प्रियता, अघक्कीपन, और अन्य लोगों के प्रति प्रेम और सहानुभूति की भावना पायी जाती है। सोमैरोटोनिया स्वभाव वाले व्यक्ति साहसी, आक्रमक, स्वग्रही, महत्वाकांक्षी और निर्दयी हुआ करते हैं और सेरेक्रोटोनिया व्यक्ति डरपोक, दब्बू, समाज से दूर रहने वाले एकान्त प्रेमी, सन्तोषी, आत्म-संकोची और विचारशील होते हैं। आगे चलकर शेल्डन ने इस वात का भी पता लगाया कि विसैरोटोनिया का सम्वन्ध एन्डोमार्फी से और सेनेरोटोनिया का मैसोमार्फी से और सैरेक्रोटोनिया का एक्टोमार्फी से है। अतः शरीर-गठन के आधार पर व्यक्ति के स्वभाव के सम्बन्ध में पूर्व कथन किया जा सकता है। शेल्डन की शोध से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्तित्व के जैव आधार होते हैं। इसी प्रकार शैल्डन ने अनेक पुरुषों का अध्ययन करके अपनी खोज द्वारा यह भी निष्कर्ष निकाला है कि विविध प्रकार के मानसिक विकार कुछ शरीराकृतियों के साथ सम्वन्धित रहते हैं।

व्यक्तित्व का विकास. शैल्डन का कथन है कि व्यक्तित्व व स्वभाव व व्यवहार के जैव-कारक होते हैं। वे यह वात स्वीकार करते हैं कि प्रारम्भिक वाल्यावस्था की विशेष प्रकार की संघटनाओं का प्रौढ़ समायोजन के कतिपय सुधारों से सम्बद्धता रहती है। पर वे यह नहीं मानते कि बाल्यावस्था की यह घटनायें इन सम्वन्धों के विषयों में कारणात्मक भूमिका निभाती हैं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि सम्भवतः जैव पूर्व वृत्तियां हो सकती हैं जो कि शैशवावस्था या वाल्यावस्था के विशेप प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करती हैं और ये ही पूर्ववृतियां आगे चल कर विशेप कर के प्रौढ़ व्यवहार का कारण वन सकती हैं। दूसरे शब्दों में प्रारम्भिक घटनाओं और उत्तरवर्ती व्यवहार के साथ आभासी सम्वन्धी अधिक काल तक जैव कारकों के परिचालन अथवा सक्रिया के प्रतिविम्व हो सकते हैं। अन्त में, शैल्डन का मत है कि व्यक्ति का विकास उसके जैव वंशागति से नहीं निर्धारित होता है परन्तु व्यक्ति की सम्भावनाओं या कार्य क्षमताओं से निर्धारित होता है। शैल्डन के इस मत को अनेक मनोवैज्ञानिक मान्यता नहीं प्रदान करते। कारण कि उनके शोध में वैज्ञानिक तत्व की वे कमी पाते हैं।

१२. आलपोर्ट का सिद्धान्त

आलपोर्ट के अनुसार व्यक्तित्व उन मानसिक तन्त्रिकी तन्त्रों का गत्यात्मक संगठन है जो कि व्यक्ति के विशेष व्यवहार और विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। उसमें आदत, स्थायी भाव, लक्षण, स्वभाव, प्रत्यय तथा व्यवहार और शैली-जीवन-तत्व सम्मिलित रहते हैं और इनकी अन्योन्य-क्रिया होती है। आलपोर्ट ने केटेल के समान व्यक्तित्व के सिद्धान्त में लक्षणों पर विशेष बल दिया है। आलपोर्ट के व्यक्तित्व सम्बन्धित सिद्धान्त में प्रधान रूप से चार प्रत्ययों पर प्रकाश डाला गया है। जैसे—लक्षण, आशय, स्वभाव (स्व-जीवन शैली) और प्रेरकों की कार्यात्मक स्वायत्तता।

लक्षण. आलपोर्ट ने स्टर्न का मत स्वीकार करते हुए यह बात मानी है कि व्यक्तित्व में बहुविध लक्षण हैं। आलपोर्ट के अनुसार लक्षण प्रेरकों तथा आदतों का सम्मिश्रण है और वे इसका निर्धारण करते हैं कि किन उद्दीपकों का प्रत्यक्षीकरण किया जावेगा और उनकी किस प्रकार की अनुक्रिया होगी। उन्होंने लक्षणों में संगतता, स्वतन्त्रता, अन्तर्सम्बन्ध के तत्व माने हैं। उदाहरण के लिए ईमानदार व्यक्ति संगत रूप में अकसर ईमानदारी का व्यवहार करता पाया जाता है। सर्वप्रथम आलपोर्ट ने लक्षणों के वैयक्तिक और सामान्य दो स्वरूप माने हैं। उनका कथन है कि दो व्यक्तियों में समान लक्षण नहीं पाये जाते, यद्यपि उनके लक्षण-संरचना में समानता क्यों न हो। अतः सब लक्षण वैयक्तिक हुआ करते हैं। परन्तु संस्कृति और जातीय समानताओं के सामान्य प्रभाव के कारण वे सामान्य भी होते हैं। जैसे, एक ही संस्कृति व जाति के सदस्य सामान्य विकासी तथा सामाजिक प्रभावों के वशीभूत रहते हैं। इसके साथ ही आलपोर्ट ने इन लक्षणों के पांच और प्रभेद दर्शाये हैं। वे इस प्रकार हैं—मुख्य लक्षण, केन्द्रीय लक्षण, गौण लक्षण, अभिव्यंजनात्मक लक्षण और अभिवृत्यात्मक लक्षण। जो लक्षण व्यक्ति के जीवन में अधिक सर्वव्यापी, प्रभावशाली और उत्कृष्ट हुआ करते हैं उन्हें मुख्य लक्षण कहा जाता है। कुछ व्यक्ति मुख्य लक्षणों से युक्त होने पर अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हो जाते हैं और लोग उन्हें अनेक नाम से स्मरण किया करते हैं। जैसे वल्लभभाई पटेल लौह-पुरुष के नाम से स्मरण किये जाते हैं। केन्द्रीय लक्षण वाले व्यक्ति बहुत कम हुआ करते हैं और उनके गुणों का कुछ ही शब्दों में वर्णन किया जाता है। आलपोर्ट ने केन्द्रीय लक्षण वाले पुरुष विलियम जेम्स का नाम दर्शाया है, जिनमें विचारशीलता, मानवता और समाज प्रियता के शुभ लक्षण थे। गौण लक्षण वाले व्यक्ति अनुक्रिया में कोमल होते हैं। अभिव्यंजनात्मक लक्षण वाले व्यक्ति में ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जो अन्य के व्यवहारों को प्रभावित

करते हैं; परन्तु वे प्रेरणात्मक नहीं होते। इनमें सत्ता-मोह, प्रसार-विस्तार और आसक्ति के गुण पाये जाते हैं। अभिवृत्यात्मक लक्षणों का प्रभाव व्यक्ति के जीवन के सीमित क्षेत्रों में होता है।

आशय. व्यक्तित्व को समझने के लिए आशय की अभिप्रेरणा महत्वपूर्ण मानी जाती है। आशय से इस बात का पता चलता है कि व्यक्ति भविष्य के लिए क्या करना चाहता है। व्यक्ति की इच्छायें, आशायें, महत्वाकांक्षायें और परियोजनायें आशय के अन्तर्गत आती हैं। कुछ आशय तात्कालिक होते हैं जैसे एक गिलास पानी पीने की इच्छा करना और कुछ आशय दीर्घकालीन हुआ करते हैं जैसे जीवन में ऊँचे आदर्शों की स्थापना करने की चाह। यद्यपि आशय वर्तमान में रहता है परन्तु उसमें भविष्यकालीन बातों का समावेश रहता है, कारण कि किसी व्यक्ति के आशय से इस बात का पता चलता है कि वह किस प्रकार का भविष्य निर्माण करना चाहता है। उसमें तनाव रहता है। ऐसा भी देखा गया है कि लोग वर्तमान व्यवहार को समझने के लिए अतीत की ओर दृष्टिपात करते हैं, परन्तु आलपोर्ट अतीत की अपेक्षा भविष्य को अधिक महत्व देते हैं। आलपोर्ट के अनुसार प्रोप्रिमियम के अन्तर्गत अहम्, स्व और जीवन-शैली की प्रधानता पाई जाती है। इस प्रत्यय में शारीरिक संगठन आत्म-अभिज्ञान, आत्म-सम्मान, तर्कपूर्ण चिन्तन, और सत् प्रयत्न आदि सम्मिलित रहते हैं। यह प्रत्यय जन्मजात नहीं होता, पर समय में ही इसका विकास होता है। प्रोप्रिमियम में व्यक्ति के व्यवहार के सभी रूप सम्मिलित रहते हैं जो कि स्वानुभूति में सहायता पहुँचाते हैं। जैसे कलाकार, वैज्ञानिक और माता-पिता उन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रयास करते हैं जो उन्हें उपलब्ध नहीं होते। किन्तु ये प्रयास अभिप्रेरणा में एकत्व प्रदान करते हैं। व्यक्तित्व का सार व्यक्ति के जीवित रहने का ढंग है और अहम् व्यक्ति की जीवन शैली का निर्माण करते हैं।

प्रेरकों की कार्यात्मक स्वयत्तता. आलपोर्ट का कथन है कि जो क्रिया प्रारम्भ में किसी अभिप्रेरणा पर निर्भर रहती है वह आगे चलकर स्वयं अपने में प्रेरणा प्रदान करने वाली बन जाती है और इसी लिए उसे स्वायत्त कहा जाता है। इसमें व्यवहार या क्रिया स्वयं लक्ष्य बन जाती है, यद्यपि वह भौतिक रूप में किसी अन्य कारण से अभिप्रेरित रहती है जैसे शिकारी भौतिक रूप से भोजन के लिए शिकार करता है, परन्तु जब उसके पास पर्याप्त भोजन रहता है तब वह अपनी शिकारी वृत्ति व्यक्त करने के लिए शिकार करता है। भौतिक प्रेरक समाप्त होने पर भी प्रेरक की क्रियायें व्यक्ति को अपने आप ही प्रेरणा प्रदान करती रहती हैं।

व्यक्तित्व का विकास. आलपोर्ट ने व्यक्ति का शैशवकाल से लेकर प्रौढ़ावस्था तक किस प्रकार विकास होता है उसका विशद वर्णन किया है । उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है । शैशवकाल में नवजात शिशु वंशानुक्रम, आदिम अन्तर्प्रेरणा और सहज क्रियाओं का प्राणी रहता है । उसका कोई व्यक्तित्व नहीं रहता । वह दो तीन वर्ष की अवस्था तक रूढ़िवादी रहता है । जन्म के समय कुछ आदत शारीरिक तथा स्वभावगत सम्भावनाओं से वह समन्वित रहता है । साथ ही वह संवेदनशील भी रहता है । शैशवकाल से लेकर प्रौढ़ावस्था के बीच कई परिवर्तन होते हैं जैसे भेदीकरण, समाकलन, परिपक्वन, अनुकरण, अधिगम, कार्यात्मक स्वायत्तता, और स्व का विकास तथा विस्तार । आगे चलकर वह वस्तु-वस्तु, मनुष्य-मनुष्य तथा अच्छे-बुरे के बीच भेद जानने लगता है और उसमें अनुभवों को समाकलन करने की योग्यता आ जाती है । वह अनेक बातों का अनुकरण करने लगता है। वह प्रयत्न, भूल और सूझ से सीखने लगता है ; उसमें प्रेरक की प्रक्रिया आप से आप अभिप्रेरित्त होने लगती है और अन्त में उसका स्व विकसित हो जाता है। उसके व्यवहार से संगठित लक्षण होते हैं और उसके जीवन-दर्शन का निर्माण हो जाता है । इस प्रकार उसकी प्रतिरूपी वैयक्तिकता, व्यक्तित्व की कसौटी बन जाती है। उसमें हास्य सूझ-बूझ व अन्तर्दृष्टि की उद्भावना आ जाती है ।

१३. आर० बी० कैटेल का कारक सिद्धान्त

मनोवैज्ञानिक जगत् में स्पीयरमेन का द्वितत्वीय सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है। हरस्टर्न ने इस सिद्धान्त का संशोधन करके बहुविधि-तत्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । आर० बी० कैटेल के अनुसार व्यक्तित्व वह तत्व है जिसके द्वारा यह पूर्व कथन किया जा सकता है कि व्यक्ति अमुक परिस्थिति में क्या कर्म करेगा। और वह कैसा व्यक्ति निकलेगा ।

लक्षण. कैटेल ने शील-गुणों अर्थात् लक्षणों पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार लक्षण मानसिक संरचना है । उन्होंने लक्षणों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया । उनका कथन है कि लक्षण अनेक प्रकार के शील-गुणों से सम्बन्धित रहते हैं। पहले-पहल उन्होंने दो प्रकार के लक्षणों जैसे सतही लक्षण और श्रोत लक्षण की चर्चा की है। उनके मत में सतही लक्षण व्यापक होते हैं और साथ ही साथ विवरणात्मक इकाइयों के बीच में होते हैं और व्यक्तित्व पर पूरी तरह हावी रहते हैं। श्रोत लक्षणों से व्यक्तित्व उद्भूत होता है। अतः वे व्यक्तित्व के सतही व्यवहार का निर्धारण करते हैं, और उनके सम्भव पक्षों का

निरूपण करते हैं। श्रोत लक्षणों की अन्योन्य क्रिया से उत्पत्ति होती है। आगे चल कर कैटेल ने निश्चित मात्रा के आधार पर लक्षणों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया है। जैसे सामान्य लक्षण, अद्वितीय लक्षण, गत्यात्मक योग्यता लक्षण, और स्वभाव लक्षण आदि। सामान्य लक्षण सभी लोगों में पाये जाते हैं। वे अक्सर वंशानुक्रम तथा सांस्कृतिक प्रतिरूपों पर आधारित होते हैं। अद्वितीय लक्षण व्यक्ति विशेष में पाये जाते हैं। गत्यात्मक लक्षण व्यक्ति को किसी लक्ष्य की ओर क्रियाशील बना देते हैं। योग्यता लक्षण व्यक्ति को अपने स्वीकृत लक्ष्य की ओर प्रभावशाली ढंग से पहुँचने में सहायता पहुँचाते हैं। स्वभाव लक्षण अनुक्रिया के संवैज्ञानिक पक्ष जैसे—ऊर्जा और संवेगात्मक क्रियाशीलता आदि से सम्बन्धित होते हैं। गत्यात्मक योग्यता तथा स्वभाव लक्षण की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। कारण कि वे अधिक सुनम्य रहते हैं। और इसके परिणाम-स्वरूप वे व्यवहारों में परिवर्तनशीलता लाते हैं। इनमें अन्तर्प्रेरणायें भी सम्बन्धित रहती हैं जिन्हें अर्ग कहा जाता है। इन लक्षणों से अभिवृत्तियां, स्थायीभाव, ग्रन्थियां, अहम् और पराहम् का निर्माण होता है जिसे अर्ग के नाम से पुकारा जाता है।

व्यक्तित्व का विकास. कैटेल के कथनानुसार व्यक्तित्व का विकास उस दशा में होता है जब कि परिपक्वन-सम्बन्धित प्रक्रियाओं, अधिगम और अनुभवों के द्वारा परिवर्तन उपस्थित होता है। यह परिपक्वन सम्बन्धी क्रियायें व्यक्ति में कर्मवाहक योग्यता सम्पादित करती हैं और अधिगम और अनुभव स्व का संगठन करती हैं। और इस प्रकार मैटा-अर्गो का विकास करती हैं। गर्भाधान से लेकर प्रौढ़ावस्था तक बालक का व्यक्तित्व विभिन्न विकासात्मक अवस्थाओं में अवक्रमित होता है। सामान्य और असामान्य लक्षणों के विकास तथा विस्तार के लिए प्रथम पाँच वर्ष बड़े संघर्षशील सिद्ध होते हैं। पाँच वर्ष के पश्चात् यौवनावस्था तक दोनों प्रकार के लक्षणों में स्थायित्व आ जाता है। बालक व व्यक्ति अपनी संस्कृति के अनु-रूप सामाजिक संहिता अवग्रहण करने लगता है और विभिन्न प्रकार की रुचियों तथा संवेगातमक आदर्शो को अपनाने लगता है। १० वर्ष के लगभग उसकी मित्र-मण्डली, टोली और शाला आदि गृह के समान महत्वपूर्ण और प्रभावशाली बन जाते हैं।

किशोरावस्था में उसे अनेक जैविक, शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक तथा सामाजिक परिवर्तनों का सामना करना पड़ता है। दूसरी ओर काम-सम्बन्धी आवश्यकतायें उसके जीवन पर प्रभाव डालने लगती हैं। उसे अनेक संघर्ष करने पड़ते हैं और उसमें उत्तरदायित्व की भावना का उद्रेक हो जाता है जिसके फल-

स्वरूप उसे माता-पिता, मित्र-वर्ग, प्रौढ़ सांस्कृतिक प्रतिमान और पराहम् की मांगों की सम्पूर्ति करनी पड़ती है। प्रौढ़ता आने पर उसमें सामाजिक अभिरुचियों, दार्शनिकता तथा संवेगात्मक परिपक्वता आ जाती है। वृद्धावस्था में व्यक्ति की समाज में उपेक्षा अथवा तिरस्कार होने लगता है और उसे नवीन परिस्थितियों से समायोजन करना पड़ता है।

१४. रावर्ट आर० सीयर्स का सिद्धान्त

यह सीखने का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार वालक के व्यक्तित्व विकास पर माता-पिता का विशेष प्रभाव पड़ता है। उनके पालन-पोषण की स्वस्थ क्रियाओं पर व्यक्तित्व का विकास निर्भर रहता है। साथ ही साथ भौतिक तथा सामाजिक वातावरण उनके व्यक्तित्व विकास में हाथ वँटाता है। उनके अनुसार विकास घटनाओं की सतत श्रृंखला या प्रक्रिया है। वह तीन प्रकार के विकास-क्रम को मानता है। पहिली प्रारम्भिक व्यवहार विकास-क्रम की अवस्था है जोकि प्रारम्भिक शैशवावस्था में जन्मजात आवश्यकताओं और सीखने पर आधारित होता है। दूसरी प्रेरणात्मक पद्धतियों की अवस्था है जोकि परिवार-केन्द्रित शिक्षण पर आधारित है और जिसमें पांच आवश्यक वातें रहती हैं जैसे—पराश्रयता, भोजन-छादन, शरीर-सज्जा, यौन-प्रवृत्ति, और आक्रमकता व प्रतियोगिता। इस विकास में महत्वपूर्ण प्रक्रियायें तादात्म्य, खेल, गतिशीलता, तर्क और विवेक रहती हैं और सामाजिक तत्व माता-पिता की स्वयं की स्थिति, यौन-प्रवृत्ति, क्रम-सूचक स्थिति, जाति प्रजाति, शिक्षा और सांस्कृतिक-दाय रहते हैं। बालक का विकास उसके तथा उसके माता-पिता की बीच की अन्योन्य-क्रिया पर आधारित रहता है। तीसरी गौण प्रेरणात्मक पद्धतियों की अवस्था है जोकि परिवार से सीखने पर आधारित होती है। इस अवस्था में वालक संसार से वहुत कुछ ग्रहण करता है।

१५. मान्टेगू, मारगरेटमीड और रथ बेनीडिक्ट का सामाजिक सांस्कृतिक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार वाल-विकास पर परिवेश का अधिक प्रभाव पड़ता है। मान्टेगू के अनुसार व्यक्तित्व, जीवन, समाज और संस्कृति की अन्योन्य-क्रिया का उत्पादन है। मीड के मतानुसार व्यक्तित्व संस्कृति या सांस्कृतिक प्रभाव से उद्भूत होता है। वेनीडिक्ट का कहना है कि व्यवहार के शीलगुण सांस्कृतिक रूप से चुने जाते हैं अर्थात् वालक का जिस रीति-रिवाज के बीच जन्म होता है वही उसके जन्म का निर्माण करते हैं।

१६. कार्ल राजर्स का स्व सिद्धान्त

इलिनोयिस निवासी कार्ल राजर्स ने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में स्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके प्रधान प्रत्यय इस प्रकार हैं।

(१) प्राणी पूर्ण व्यक्ति है, (२) आभासी क्षेत्र अनुभव का योग है, (३) स्व जो आभासी क्षेत्र का भेदीकृत अंश है और जो चेतन प्रत्यक्षों का प्रतिरूप तथा मैं अथवा मुझे के मूल्यों द्वारा निर्मित होता है। प्राणी में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं।

(अ) यह अपनी आवश्यकताओं की संपूर्ति के लिए आभासी क्षेत्र के प्रति संगठित समग्र रूप में प्रतिक्रिया करता है।

(ब) इसकी एक आधारभूत अन्तर्प्रेरणा है—आत्मपूर्ति ।

(स) यह अपने अनुभवों को प्रतीकात्मक रूप देता है।

राजर्स के व्यक्तित्व सिद्धान्त में स्व का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें अनेक गुण होते हैं। जिनमें से प्रमुख ये हैं।

(प) स्व का विकास पर्यावरण के साथ अन्योन्य-क्रिया होने पर होता है।

(फ) यह अन्य लोगों के मूल्यों का अन्तर्निवेश कर सकता है और उसे विकृत रूप में देख सकता है।

(ब) स्व संगति के लिए प्रयत्न करता है।

(भ) व्यक्ति इन ढंगों से व्यवहार करता है कि वे स्व से संगत हों ।

(म) जो अनुभव स्व संरचना से मेल नहीं खाते उन्हें धमकियों के रूप में देखा जाता है।

(य) स्व परिपक्वन और सीखने के परिणामस्वरूप परिवर्तन हो सकता है।

राजर्स ने क्लिकइन्ट सेन्टीथेरेपी (१९५१) नामक पुस्तक में नीचे लिखे प्रत्ययों के स्वरूप और उनके अन्तर्सम्बन्धों का विश्लेषण इस प्रकार किया है:—

(१) प्रत्येक व्यक्ति अनुभव के सतत् परिवर्तनशील जगत में रहता है। वह उस स्व का केन्द्र रहता है। अपने अनुभव के सम्बन्ध में व्यक्ति स्वयं सूचना देने का सर्वश्रेष्ठ श्रोत है।

(२) क्षेत्र जिस रूप में अनुभव किया जाता है प्राणी उसके प्रति प्रतिक्रिया करता है। अर्थात् व्यक्ति अपने बाह्य उद्दीपकों अथवा आन्तरिक विक्षोभों के प्रति उसी रूप में प्रतिक्रिया नहीं करता परन्तु जैसा उन्हें अनुभव करता है वैसी ही उनके प्रति प्रतिक्रिया करता है ।

(३) प्राणी इस आभासी क्षेत्र के प्रति संगठित समग्र रूप मे प्रतिक्रिया करता है।

(४) प्राणी सिद्धि प्राप्त करने तथा उत्कर्ष करने के रूप में एक मूल प्रवृत्ति और प्रयास होता है। यह धारणा इस बात पर आधारित है कि प्राणी विशुद्ध रूप में एकात्मक एवं गत्यात्मक तन्त्र है जिसमें केवल एक अन्तर्प्रेरणा सम्पूर्ण व्यवहार की व्याख्या करने में पर्याप्त रहती है। इस विचार से इस बात का पता चलता है कि व्यक्तित्व का विकास प्राणी की प्रकृति के अनुरूप होता है । एक ओर प्रेरणा प्रदान करने वाला बल रहता है दूसरी ओर जीवन का लक्ष्य। प्राणी वंशानुक्रम के आधार पर आत्म-सिद्धि करता है । वह परिपक्वता के साथ-साथ अधिकाधिक भेदीकृत, विस्तारित स्वायत्त और समाजीकृत होता जाता है। वह परिश्रम और पीड़ा के आधार पर आत्मसिद्धि प्राप्त करता है ।

(५) प्रत्यक्षीकृत क्षेत्र में प्राणी का व्यवहार अपनी अनुभूत आवश्यकताओं की सम्पूर्ति करने के लक्ष्य से निर्देशित होता है। यद्यपि आवश्यकतायें अनेक होती हैं; परन्तु उनमें से प्रत्येक प्राणी की आत्मोत्कर्ष की मूल-प्रवृत्ति के प्रति अनुसेवी होती हैं।

(६) इस प्रकार के लक्ष्य निर्देशित व्यवहार को संवेगात्मक सुगमता तथा सुविधा प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए क्रोध के कारण व्यक्ति भोजन प्राप्ति के लिए अधिक प्रयत्न करता है। भोजन प्राप्ति से प्राप्त सन्तोष भोजन पचाने में अधिक सुगमता प्रदान करता है।

(७) व्यवहार को समझने के लिए उत्तम लाभ-विन्दु व्यक्ति का स्वयं निर्देश-तन्त्र होता है।

(८) सम्पूर्ण प्रत्यक्षात्मक क्षेत्र का एक अंश स्व के रूप में भेदीकृत हो जाता है।

(९) पर्यावरण के साथ अन्योन्य-क्रिया के फलस्वरूप तथा अन्य व्यक्तियों के साथ मूल्यांकन सम्बन्धी अन्योन्य-क्रियाओं के परिणामस्वरूप स्व की संरचना का निर्माण होता है। अनेक अनुभव विभद जिन्हें शिशु सीखता है वे उसे पर्यावरण

से एक भिन्न वस्तु के रूप में समझने योग्य बनाते हैं। वह पर्यावरण से सम्बन्धित अपने विचार ही बना लेता है।

(१०) अनुभवों से सम्बद्ध मूल्य और वे मूल्य जो स्व संरचना के भाग होते हैं कुछ परिस्थितियों में प्राणी द्वारा सीधे अनुभूत किये जाते हैं और कुछ दिशाओं में दूसरे व्यक्तियों द्वारा अवग्रहण किये जाते हैं। परन्तु विकृत रूप में उनका प्रत्यक्षीकरण किया जाया है।

(११) व्यक्ति के जीवन में जिन अनुभवों का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है उनका स्व के साथ कुछ सम्बन्धों में प्रतीकात्मक रूप में प्रत्यक्षीकरण किया जाता है और उन्हें संगठित भी किया जाता है या उनकी उपेक्षा की जाती है अथवा उन्हे अस्वीकार कर दिया जाता है; कारण कि उनका स्व-संरचना से कोई प्रत्यक्षीकृत सम्बन्ध नहीं रहता। दूसरे शब्दों में समकालित संरचना इस बात का निर्धारण करती है कि व्यक्ति को किस प्रकार का अनुभव स्वीकृत होगा।

(१२) व्यवहार के अनेक रूप जो व्यक्ति द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं वे स्व के प्रत्यय से मेल खाते हैं। अतः व्यवहार में परिवर्तन लाने का सबसे अच्छा उपाय यह माना जाता है कि स्वयं स्व में परिवर्तन लाया जावे।

(१३) कुछ परिस्थितियों में व्यवहार अंगीय अनुभव और आवश्यकताओं के कारण होता है। इस प्रकार का व्यवहार स्व संरचना से मेल नहीं खाता और ऐसी दशा में वह उसके द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है।

(१४) मनोवैज्ञानिक कुसमायोजन तब आता है जब प्राणी महत्वपूर्ण संवेगात्मक और आन्तरिक अनुभवों की चेतना को अस्वीकार कर देता है और इस प्रकार उसका व्यवहार स्व संरचना से मेल नहीं खाता। ऐसी दशा में मानसिक तनाव की सम्भावना हो जाती है।

(१५) मानसिक समायोजन तब आता है जब स्व का प्रत्यय इस प्रकार बन जाता है कि प्राणी की सम्पूर्ण संवेगात्मक और आन्तरिक अनुभवों का स्व के साथ प्रतीकात्मक स्तर पर आत्मीकरण हो जाता है।

(१६) कोई भी अनुभव जो स्व के संरचना से मेल नहीं खाता उसका धमकी के रूप में प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है और जितने अधिक ये प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं उतना ही अधिक दृढ़ता से स्व संरचना का संगठन हो जाता है ताकि वह अपने आप को भलीभाँति सुरक्षित कर सके। धमकी देने वाले अनुभवों को स्व अपनी चेतना में अस्वीकार करके सुरक्षात्मक युक्तियाँ अपनाता है।

(१७) कुछ दशायें ऐसी भी होती हैं जिसमें स्व संरचना के लिए धमकियों की पूर्णतया अनुपस्थिति रहती है और उनमें से जो अनुभव उनसे मेल नहीं खाते उनका प्रत्यक्षीकरण तथा परीक्षण किया जाता है और इस प्रकार के अनुभवों का आत्मीकरण और उन्हें समृद्ध करने के लिए स्व की संरचना को संशोधित किया जाता है।

(१८) जब व्यक्ति अपने संवेगात्मक अभ्यन्तरांग अनुभवों का एक संगत और समाकलित तन्त्र में प्रत्यक्षीकरण करता है तथा उन्हें अंगीकार करता है तब वह अन्य व्यक्तियों को पृथक रूप में अधिक समझता है और स्वीकार करता है। जो व्यक्ति अपनी रक्षा करना चाहता है वह उन दूसरे व्यक्तियों को शत्रुता की भावना से देखने की प्रवृत्ति रखता है और जिनका व्यवहार उसकी दृष्टि में स्वयं की अस्वीकृत भावना का प्रतिनिधित्व करता है। जब व्यक्ति को कामुक आवेश धमकी देते हैं तब वह उन अन्य व्यक्तियों की आलोचना करता है जिन्हें वह कामुक रूप में व्यवहार करते देखता है। यदि इसके विपरीत वह अपनी लैंगिक एवं शत्रुता की भावनाओं को स्वीकार करता है तो वह दूसरे व्यक्तियों द्वारा उनकी अभिव्यक्ति की लिए अधिक सहिष्णु हो सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसके सामाजिक सम्बन्धों में सुधार होता है और उसके सारे सामाजिक संघर्षों में कमी होती है।

(१९) जब व्यक्ति अधिकाधिक अपने अंगीय अनुभवों की स्व संरचना में प्रत्यक्षीकृत करता है और स्वीकार करता है तब वह यह बात पाता है कि वह विकृत प्रतीकात्मक रूप में अन्तर्निर्देशों पर आधारित स्वयं के मूल-तन्त्र को प्रस्थापित कर रहा है। अन्त में रोजर्स का मत है कि व्यक्तित्व के स्वस्थ और समाकलित समायोजन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने स्वयं के अनुभवों का मूल्यांकन तथा आलोचन निरन्तर करता रहे ताकि उसे पता चल जावे कि मूल्य संरचना को बदलना आवश्यक है अथवा नहीं। और जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियों से उचित समायोजन करने के लिए व्यक्ति को विनम्रशीलता की प्रवृत्ति अपनाना जरूरी है अथवा नहीं। अन्त में रोजर्स का कहना है कि मानसिक विवृद्धि तथा विकास तभी संभव है जबकि व्यक्ति दूसरों के द्वारा प्रदर्शित स्नेह, सम्मान और स्वीकृति का पात्र रहता है। वे यह भी विश्वास करते हैं कि मानव का आन्तरिक स्वभाव अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं रहता।

१७. मर्फी का जैव सामाजिक सिद्धान्त

ओहियो निवासी गार्डनर मर्फी का मत है कि मानव जैव प्राणी है कारण

कि वह अपने भौतिक और सामाजिक पर्यावरण के साथ पारस्परिक सम्बन्ध बनाये रखता है। उनके अनुसार व्यक्तित्व द्विमुखी प्रक्रिया की उपज है जिसका एक मुख या ध्रुव शरीर के अन्दर है और दूसरा वाह्य जगत् में। यह आन्तरिक तथा वाहरी दवाव प्राणी के अन्दर कार्य करते हैं जिसके परिणामस्वरूप वयस्क व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इस प्रकार वयस्क व्यक्तित्व जैव व सामाजिक होता है। इसीलिये मर्फी ने अपने सिद्धान्त को जैव सामाजिक सिद्धान्त के नाम से सम्बोधित किया है।

व्यक्तित्व की संरचना. मर्फी के मतानुसार व्यक्तित्व के मूल चार अवयव होते हैं जैसे :–

(१) शरीर क्रियात्मक प्रवृत्तियां—जो कि अवस्थ अनुवांशिक तथा भ्रूणीय-प्रवृतियों से उद्भूत होती हैं।

(२) केन्द्रीयकरण की प्रवृतियां—जो कि जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में निर्मित होती हैं।

(३) अनुकूलित अनुक्रियायें—जो कि निरन्तर पुर्नवलन से गहराई से अधि-शिष्ट होती हैं।

(४) संज्ञानात्मक तथा प्रत्यक्षात्मक आदतें जो कि केन्द्रीयकरण अथवा अनुकूलन की संयुक्त उपज होती हैं।

शरीर क्रियात्मक प्रवृतियां अंगीय लक्षण होती हैं। यह तीन प्रकार की होती हैं। ऊतक की सामान्य प्रवृत्तियां जैसे चयापचयात्मक गति, विशिष्ट प्रवृतियाँ जैसे मांसपेशीय तथा वे प्रवृतियां जो भेदीकृत व्यवहारों द्वारा निर्मित होती हैं जैसे भूख। दूसरे शब्दों में अंगीय लक्षण ऊतक तनावों द्वारा निर्मित होते हैं।

अनुकूलन की प्रक्रिया द्वारा अंगीय लक्षणों का प्रतीकात्मक लक्षणों में पुनः संस्कार होता है। व्यक्ति स्थानापन्न उद्दीपकों अथवा प्रतीक के प्रति उसी प्रकार की अनुक्रिया करना सीख लेता है जिस प्रकार वह मूल ऊतक के तनाव के प्रति करता था। उदाहरण के लिए जबकि व्यक्ति भूख के विचार को कि मैं भूखा हूं अंगीय अवस्था के साथ सम्बद्ध कर लेता है तब प्रतीतात्मक निरूपण अर्थात विचार स्वयं अपने साथ भोजन खोजने तथा खाने की क्रियाओं को उत्पन्न करते हैं। यदि इन प्रतीकात्मक लक्षणों को समय-समय पर कुछ प्रकार के पुरस्कार या परितुष्टि द्वारा पुनर्वलित नहीं किया जाता तो वे तिरोहित हो जाते हैं।

अंगीय लक्षणों को सामाजिक निर्देशों के द्वारा व्यवहार के विशिष्ट रूपों में मार्गान्तरीकरण किया जाता है। जैसे व्यक्ति जिस समाज में रहता है उसमें यह बात निर्धारित ही रहती है कि उसे किस प्रकार का भोजन करना चाहिये, किस प्रकार उन्हें तैयार करना चाहिये और किस प्रकार उन्हें खाना चाहिये। मर्फी इस प्रक्रिया को केन्द्रीयकरण के नाम से पुकारते हैं। उनका कथन है कि अन्त-र्प्रेरणा की पुष्टि के लिए जो विविध प्रकार के साधनों के प्रति भेदीकृत क्रिया की जाती है उसमें क्रमिक विवर्तन आ जाना ही केन्द्रीयकरण है । मर्फी के विचार में व्यक्तित्व के लक्षण अन्तिम विश्लेषण में अंगीय लक्षण हुआ करते हैं जो कि स्था-नापन्न उद्दीपकों के प्रति अभ्यानुकूलित हो जाते हैं अथवा व्यवहार के विशिष्ट रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं।

आगे चलकर मर्फी का कहना है कि व्यक्तित्व संरचना में चरम तत्व आव-श्यकतायें या तनाव होते हैं। विशेष ऊतक अथवा ऊतकों के समूहों में ऊर्जा का सकेन्द्रीयकरण तनाव कहलाता है। इन तनावों में एक दूसरे के साथ कार्यात्मिक संयोजन होता है इस कारण से तनाव एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्रों में फैल सकते हैं। मर्फी ने व्यक्तित्व की संरचना में अन्य अवयवों, जैसे कार्य, स्व और अहम्, को भी सम्मिलित किया है। कार्य के सम्बन्ध में उनका कथन है कि कार्य व्यवहार करने का एक निश्चित ढंग हुआ करता है जिसे व्यक्ति को अपनी संस्कृति के अनुरूप अपनाना पड़ता है। जैसे माता-पिता, शिक्षक अथवा डाक्टर के कार्य। ये कार्य आवश्यकताओं के समान ऊतक तनावों के साथ अन्योन्य-क्रिया करते हैं। मर्फी के अनुसार स्व व्यक्तित्व संरचना का एक प्रमुख तत्व है। समग्र व्यक्ति के स्वयं ये जो प्रत्यक्ष या प्रत्यय होते हैं उन्हें स्व कहा जाता है। स्व व्यक्ति का अपने द्वारा अपने को जानना है। अहम् अभ्यस्त क्रियाओं का तन्त्र है जो कि स्व का उत्कर्ष करता है और उनका रक्षात्मक युक्तियों द्वारा संरक्षण करता है। इनके अतिरिक्त मर्फी ने व्यक्तित्व संरचना के अन्य अवयव जैसे आदत मूल्य, अभिवृत्ति और प्रतिमान तथा चरित्र माने हैं।

व्यक्तित्व का संगठन. व्यक्तित्व के संगठन के अन्तर्गत मर्फी ने तीन अव-स्थायें मानी हैं जैसे विश्व अस्पष्ट अवस्थायें, भेदीकृत अवस्था, और समाकलित अवस्था। व्यक्तित्व संगठन की विश्व अस्पष्ट अवस्था में भेदीकृत अंग नहीं होते। उसमें सब कुछ सजातीय होता है। उसमें क्रमिक लक्षण और प्रदेश नहीं होते। सम्पूर्ण तन्त्र में ऊर्जा प्रसृत रहती है। वाह्य उद्दीपन के प्रति समग्र रूप में तन्त्र अनुक्रिया करता है। इस प्रकार इस अस्पष्ट व्यवहार को सामूहिक क्रिया के

नाम से पुकारा जाता है। भेदीकृत अवस्था में भाग तथा प्रदेश अलग-अलग हुआ करते हैं। व्यक्तित्व में ऊर्जा प्रसृत रहने के बजाय वह व्यक्तित्व के विभिन्न प्रकार के भेदीकृत तन्त्रों में विभाजित रहती है। व्यक्ति की अनुक्रियायें सामान्य न रहकर विशिष्ट हो जाती हैं। और उसके प्रत्यक्ष, स्मृतियां, अभिवृत्तियां, विचार और मूल्य एकात्मक की अपेक्षा विविक्त हो जाते हैं। विजातीयता, पृथकता और स्वतन्त्रता भेदीकृत संगठन के गुण रहते हैं।

संगठन की समाकलित अवस्था में पृथक भागों का अन्तर्गथित अन्योन्याश्रित और अन्तर्संचार तन्त्र में एकीकृत हो जाता है। ऊर्जा का एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में सरलता से संचरण होता रहता है जिससे व्यक्तित्व के विविध अवयवों में अधिकतम संचार रहता है। इस प्रकार व्यक्ति का व्यवहार संगठित हो जाता है। मर्फी का मत है कि ये अवस्थायें विशुद्ध रूप में नहीं प्राप्त होतीं। किसी एक समय व्यक्ति में इन तीनों प्रकार की अवस्थाओं के रूप विद्यमान रह सकते हैं। प्रौढ़ व्यक्तित्व में समाकलन की शैशव व्यक्तित्व में विश्व अस्पष्ट अवस्था की प्रधानता रहती है।

व्यक्तित्व की गतिशीलता. मर्फी ने अपनी 'पर्सनेलटी' नामक पुस्तक में गतिशीलता के बारे में व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलू, अन्तर्प्रेरणा की ढलाई, जटिलता, व्याख्या और परोक्ष अभिव्यंजना के रूप में प्रकल्पना की है। ऊतक के अन्दर जो तनाव-क्रमिकता होती है उसे अन्तर्प्रेरणा कहा जाता है। उसका कोई निश्चित आदि या अन्त नहीं होता। परन्तु ऊर्जा परिवर्तनों के सतत् क्रमों में उतार-चढ़ाव होता रहता है। तनाव विशेष ऊतक या ऊतक-समूह में प्राण मूलक अथवा अंगीय ऊर्जा के संकेन्द्रण का निरूपण रहता है। जब संकेन्द्रण कम हो जाता है तब तनाव क्रमिकता मन्द पड़ जाती है। जब वह बढ़ जाता है तब क्रमिकता भी बढ़ जाती है। सामान्यत: तनाव कमी का तात्पर्य सन्तोष या सम्पूर्ति से है और तनाव की वृद्धि का मतलब कष्ट से है। मर्फी का मत है कि कभी-कभी सन्तोष तनाव कमी की अपेक्षा तनाव वृद्धि से जुड़ जाता है जैसे अधिक लैंगिक उत्तेजना का सुख। मर्फी के अनुसार जो शरीर के किसी भाग में ऊर्जा का संकेन्द्रीकरण करके अथवा सम्पूर्ण शरीर को उत्तेजित करके जो परिणाम प्राप्त किया जाता है उसे प्रेरक कहा जाता है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि प्रेरकों का शरीर के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में संचरण होता रहता है। इस संचरण के फलस्वरूप प्रेरकों का जाल विकसित होता जाता है।

मर्फी के अभिप्रेरणा सिद्धान्त की एक विशेषता यह है कि उन्होंने संवेदनात्मक तथा क्रिया आवश्यकताओं पर बल दिया है। तनावों में जो परिवर्तन होते हैं उनका बिन्दु-पथ ज्ञानेन्द्रियों और मांस-पेशियों में हुआ करता है। इसी कारण व्यक्ति सुन्दर सूर्यास्त या अन्य खेल-क्रियाओं को देखकर प्रसन्न होता है और सुख का अनुभव करता है। मर्फी का विश्वास है कि व्यक्ति की इन अभिवृत्तियों का सीधा सम्बन्ध तनावों से हुआ करता है जो कि शरीर के विशिष्ट प्रदेशों में विद्यमान रहते हैं। मर्फी के अनुसार अर्जित प्रेरणाएं सीखने पर आश्रित नहीं रहतीं, बल्कि विकास पर आश्रित रहती हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति गाने को इसलिए पसन्द करता है कि वह उसमें अंगीय तनावों को उत्तेजना प्रदान करता है न कि इस कारण से कि वह उसके बाल्यकालीन गाने से सम्बन्ध रहने के कारण जिसे उसने अपनी बाल्यावस्था में सुना था।

व्यक्तित्व का विकास. मर्फी ने व्यक्तित्व के विकास की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। पहली अवस्था अभेदीकृत समग्रता की है। इस अवस्था में शिशु का सम्पूर्ण शरीर उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया करता है। दूसरी अवस्था विश्लेषण की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति के कार्य सार्वभौमिक स्तर पर भेदीकृत हो जाते हैं। तीसरी अवस्था समाकलन की है। इस अवस्था में भेदीकृत कार्य संगठित इकाई के रूप में सम्मिश्रित हो जाते हैं। इन अवस्थाओं को एक दूसरे से अलग-विलग नही किया जा सकता।

प्राणी और पर्यावरण. मर्फी का विचार है कि कुछ पूर्ण रूप से विकसित लक्षण वंशानुगत और कुछ पर्यावरण द्वारा अर्जित होते हैं। यह भी सत्य है कि कुछ भी अर्जित नहीं किया जाता और यह भी सत्य है कि कुछ भी वंशानुक्रम से नहीं प्राप्त किया जाता। कारण कि गर्भाधारण के समय से ही जबकि पिता के गुण-सूत्र माता के गुण-सूत्रों से समिश्रित हो जाते हैं तब जनित्र द्रव्य के लिए बाह्य बल नये प्राणी के विकास का उपक्रम करते हैं।

सीखना अथवा अधिगम. सीखने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में मर्फी का मत है कि सीखने की प्रक्रिया में व्यक्ति के विशिष्ट पर्यावरण के साथ व्यक्तिगत रूप से निर्मित प्राणी की अन्योन्य-क्रिया अन्तर्निहित रहती है। इस अन्योन्य-क्रिया के परिणामस्वरूप आवश्यकताओं और अनुक्रिया तथा तनावों को परिवर्तित करने वाले व्यवहार के ढंग के बीच संयोजन निर्मित होते हैं। दो प्रक्रियाओं जैसे—केन्द्रीकरण और अनुकूलन द्वारा आन्तरिक ऊतक तथा व्यवहार के विशिष्ट प्रकार रूपों के बीच संयोजन निर्मित होते हैं।

केन्द्रीकरण. मर्फी के अनुसार केन्द्रीकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रेरणा अथवा ऊर्जा का संकेन्द्रण अपने को व्यवहार में उन्मुक्त करने का मार्ग निकाल लेता है। जैसे बच्चा अपनी भूख को किसी वस्तु केले या मिठाई आदि के सेवन से शान्त कर सकता है परन्तु धीरे-धीरे वह यह बात भी सीख लेता है कि कौन सी ऐसी वस्तु है जो कि उसकी भूख को अधिक तुष्टि प्रदान कर सकेगी। मर्फी के विचार में शरीर के एक प्रदेश में ऊर्जा का संकेन्द्रीकरण विद्यमान रहता है और मार्ग द्वारा पेशी में चला जाता है जहां पर कि उसका उपयोग कार्य के निष्पादन में किया जाता है। केन्द्रीकरण की शक्ति चार कारकों पर निर्भर होती है।

(१) आवश्यकता की शक्ति अथवा ऊतक में ऊर्जा का संकेन्द्रण।

(२) सन्तुष्टि की तीव्रता व तनाव परिवर्तन की मात्रा।

(३) व्यक्ति की विशिष्ट विकासात्मक अवस्था।

(४) सन्तुष्टि की आवृत्ति।

मर्फी का विश्वास है कि केन्द्रीकरण एक बार निर्माण होने पर वे जीवन पर्यन्त रहते हैं। उनका दमन या रूपान्तर किया जा सकता है।

मर्फी के व्यक्तित्व के सिद्धान्त ने मानव की बहुमुखी प्रतिभा का सही मूल्यांकन किया है। उनके अनुसार शरीर में केन्द्रीकरण, स्वप्रत्यय के उद्‌गमन की आधार-शिला हैं। वे जीवन में संघर्ष की समस्या करते हैं।

अनुकूलन. लोग मितव्ययता की आदत क्यों अपनाते हैं? अधिक खर्च करने से अधिक सुख और अधिक आनन्द का त्याग क्यों करते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में मर्फी का कहना है कि यह केवल मात्र अनुकूलन के परिणाम के कारण। अनुकूलन का व्यक्ति को कुछ भविष्य की सन्तुष्टि प्रदान करने के अतिरिक्त दूसरा भी महत्वपूर्ण कार्य है। अनुकूलित अनुक्रिया गुप्त स्थिति में रहने वाले तनावों को जागृत कर सकती है। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति भूख का अनुभव नहीं करता वह भोजन को देख कर अकस्मात् भोजन की भूख विकसित कर सकता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि उद्दीपन के प्रभाव पड़ने के पूर्व कुछ न कुछ तनाव होना आवश्यक है। दूसरे शरीर की ऊर्जाएं समग्र प्रेरणा की श्रोत होती हैं। अन्तर्नाद प्राणी के अन्तर्निहित गुण होते हैं और वे व्यक्तित्व के मूल श्रोत होते हैं। परिपक्वन आदि अंगी प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप पुराने अन्तर्नाद तिरोहित हो सकते हैं और नये अन्तर्नाद प्रगट हो सकते हैं परन्तु अन्तर्नाद सीखे नहीं

जाते और न भुलाये जाते । इस प्रकार केन्द्रीयकरण और अनुकूलन दोनों मिलकर सीखे हुए कार्यों की व्याख्या करते हैं ।

प्रत्यक्ष का विकास. मर्फी के अनुसार प्रत्यक्षात्मक विकास की तीन अवस्थायें होती हैं—(१) अभेदीकृत, (२) भेदीकृत, और (३) समाकलित । अभेदीकृत अवस्था में कम या ज्यादा रूप में बच्चे को संसार अस्पष्ट सा दिखायी पड़ता है। भेदीकृत अवस्था में पृष्ठभूमि की आकृतियाँ उद्गमित होती हुई दिखायी पड़ती हैं । समाकलित अवस्था में प्रत्यक्षात्मक प्रतिरूपों का निर्माण होता है । व्यक्ति के अन्दर सम्भावित आवश्यकता रहती है । जैसा रूप रहता है उसी के अनुरूप वह जगत् को देखता है ।

समाजीकरण. मर्फी इस बात को स्वीकार करते हैं कि संस्कृति व्यक्तित्व को ढालने में महान् कार्य करती है । व्यक्तित्व पर समाजीकरण का विशेष प्रभाव पड़ता है । समाज व्यक्तित्व को चार तरीके से प्रभावित करता है । प्रथम समाज की परम्पराएं बच्चे के व्यक्तित्व को काफी प्रभावित करती हैं। वह विशिष्ट समाज में प्रचलित नियमों का परिपालन करना सीखता है । द्वितीय समाज अन्तर्नाद ऊर्जा के लिए कतिपय निर्गम मार्ग निर्धारित करके व्यक्तित्व निर्माण में सहायता पहुंचाता है। तृतीय समाज में रहकर वह यह बात सीखता है कि उसे अपनी प्रेरणाओं की तुष्टि किस प्रकार करना चाहिये । कुछ आवेगों को पुरस्कृत या दण्डित करके प्राणी का आवेगपूर्ण जीवन कुछ मात्रा में गुणात्मक रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। चतुर्थ समाज अपने मानकों के अनुरूप अपने सदस्यों की प्रत्यक्षात्मक अथवा संज्ञानात्मक प्रतिक्रियाओं को आकार व रूप दे सकता है। इनसे वे सामान्य अभिवृत्तियों और भावनाओं को अर्जित कर सकते हैं ।

कार्य. अलग-अलग व्यक्तियों के तथा अलग-अलग अवस्थाओं में अलग-अलग कार्य होते हैं। बच्चे की कार्य प्रणाली प्रौढ़ से विभिन्न हो सकती है। अपने समाज में समाजीकृत व्यक्ति उन सभी कार्यों को करता है जिन्हें समाज उसकी आयु, लिंग, जाति और कर्म आदि पर निर्धारित कर देता है । उदाहरण के लिए बच्चे को जो कार्य करने दिये जाते हैं वे प्रौढ़ों को नहीं दिये जाते ।

स्थितिवाद. मर्फी ने व्यक्तित्व की विशद तथा विश्लेषण व्याख्या करने के लिए स्थितिवाद की पुष्टि की है। स्थितिवाद का सिद्धान्त इस बात का प्रतिपादन करता है कि प्राणी स्थितियों के अनुरूप अनुक्रियायें करते हैं। स्थिति के परिवर्तन से कार्य में परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है और व्यक्तित्व भी परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार मर्फी ने अपने सिद्धान्त द्वारा व्यक्तित्व की विशद व्याख्या की है।

१८. हेरी एस० सलीवान का अन्तर्वैयक्तिक-सामाजिक प्रशिक्षण का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार मानवीय व्यवहार के उद्देश्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक संतोष तथा सुख-सुविधा के लिए प्रयास और दूसरा सुरक्षा के लिए प्रयत्न। संतोष-सुख-सुविधा के अंतर्गत बालक की जैविक आवश्यकताओं की संपूर्ति और सुरक्षा के अंतर्गत स्वीकृति की मनोवैज्ञानिक स्थिति मानी जाती है। शैशवावस्था में शिशु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है। इस आवश्यकताओं की पूर्ति व अपूर्ति के आधार पर बालक की श्रद्धा व अश्रद्धा की अभिवृत्ति निर्मित होती है। माता और बालक के आपस के पारस्परिक सम्बन्धों से यह विकसित होती है। सलीवान का कथन है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास माता-पिता के सुप्रबन्ध की क्रियाओं पर आधारित रहता है। शैशवावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक व्यक्ति के अनेक विकास क्रम रहते हैं और इन विकास क्रमों में अन्तर्वैयक्तिक और अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का प्रभाव रहता है। ये विभिन्न अवस्थाओं के विकास क्रम व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करते हैं।

विभिन्न अवस्थाओं में व्यक्तित्व का विकास

शैशवावस्था

शिशु के जन्म के समय से ही व्यक्तित्व के कतिपय लक्षण प्रकट होने लगते हैं। वंश परम्परा अथवा अन्य कारणों से शिशुओं के व्यवहार में व्यक्तिगत अन्तर दिखाई पड़ने लगते हैं जो कि उनके व्यक्तित्व के अन्तर कहे जा सकते हैं। जैसे—विभिन्न शिशुओं की विभिन्न प्रकार से रोने, मुस्कुराने, हंसने और खाने की अनुक्रियायें रहती हैं और वे इनके अनुरूप गामक चेष्टायें करते हैं। इन विभेदों तथा अंतरों से उनके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जन्म के पूर्व माता की संवेगात्मक खराबी तथा वातावरण की अन्य गड़बड़ी से नवजात शिशुओं के व्यवहारों में अन्तर पाया जाता है। कोई चिड़चिड़ा रहता है तो कोई शान्त, कोई बहुत चंचल तो कोई बिल्कुल अचंचल इत्यादि। शिशुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले माता-पिता, भाई-बहिन और धाय के व्यवहार भी शिशुओं के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। हरलाक के अनुसार जन्म के समय जो शिशु माता से अलग कर दिये जाते हैं वे पर्यावरण से समायोजन नहीं कर पाते।

जीवन के प्रथम दो वर्षों में शिशुओं में वंशानुक्रम और पर्यावरण के प्रभाव से जो शील-गुणों, अभिवृत्तियों, आदतों और व्यवहारों का विकास हो जाता है वह

उनके भावी जीवन पर प्रभाव डालता है। अनेक मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि जन्म के पूर्व ही गर्भ में शिशु में व्यक्तिगत विभेद होता है। शिशुओं की शारीरिक और मानसिक संपत्ति एक-सी नहीं होती, अतः उनके व्यक्तित्व का विकास विभिन्न रूप से होता है। शैशवावस्था में शिशु माता-पिता के बहुत अधिक संपर्क में आते हैं। अतः माता-पिता के व्यक्तित्व का प्रभाव उन पर पड़े बिना नहीं रहता। अनुकूल वातावरण मिलने पर उनके व्यक्तित्व का सुन्दर विकास होता है। यदि उन्हें अनुकूल वातावरण नहीं मिलता तो भौंडे व्यक्तित्व के निर्माण होने की तथा उनमें अनेक विकृतियों के आने की संभावना रहती है। जो शीलगुणों तथा व्यक्तित्व लक्षणों की नींव उनके बचपन में पड़ जाती है वही भावी जीवन में भी कायम रहतो है। शर्ले के अध्ययनों ने इस बात की पुष्टि की है। उसका कथन है कि बालक के प्रारंभिक जीवन के शीलगुण उनकी परिपक्वावस्था में भी पाये जाते हैं।

३ से लेकर ६ वर्ष की अवस्था में शिशु में माता के प्रति अधिक आत्मीयता बढ़ जाती है और छोटे भाई-बहिन तथा परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति भी वह अपना दृष्टिकोण बनाने लगता है साथ ही वह उनके प्रति भी स्नेह और सहानुभूति और ममता दर्शाने लगता है। ५-६ वर्ष की अवस्था तक शिशु दूसरे बच्चों के साथ खेलने, लड़ने-झगड़ने भी लगते हैं और अन्य बच्चों के संपर्क में आते हैं। उनमें सामाजिक समझ का उद्रेक होता है। इस प्रकार माता-पिता, भाई-बहिन और सगे-सम्बन्धियों के व्यवहार शिशुओं में अहम् प्रत्यय निर्माण करने में सहायक होते हैं। यदि शिशु माता-पिता, सगे-सम्बन्धी और समाज के अन्य बच्चों के साथ समायोजन नहीं कर पाते तो उनमें से अनेक उदंड, विद्रोही, एकान्तवासी, डरपोक और दब्बू निकल जाते हैं। बच्चे-बच्चियों के व्यवहार में भी व्यक्तिगत भेद पाये जाते हैं। बच्चियों के व्यवहार में भी संवेगात्मकता अधिक रहती है। वाटसन का कथन है कि यदि उत्तर शैशवावस्था और पूर्व बाल्यावस्था में माता-पिता द्वारा

नेता, कोई अनुयायी, कोई मिलनसार, तो कोई प्रखर बुद्धि वाला, तो कोई मन्द बुद्धि वाला, कुछ एकान्तवासी, कुछ दिखावटी स्वभाव के तो कुछ प्रसिद्धि से दूर स्वभाव वाले, कुछ फुर्तीले, कुछ सुस्त, कुछ प्रसन्न चित्त और कुछ मनहूस, कोई आज्ञाकारी, तो कोई उदंड पाये जाते हैं। इस अवस्था में उनके व्यक्तित्व के लक्षणों में कुछ स्थिरता आने लगती है। शिक्षक तथा अन्य बालकों के व्यवहार भी उनके व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। यदि उनके द्वारा स्नेह तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार मिलता है तो उनका संतुलित व्यक्तित्व बनता है और यदि उन्हें यह व्यवहार नहीं प्राप्त होता तो उनमें असंतुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

इस अवस्था में सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण ऐसा नहीं होना चाहिए कि उनमें अवांछनीय अभिवृत्तियों और कुव्यवहारों की नींव पड़ सके नहीं तो आगे चलकर उन्हें दूर करने के लिए अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसे पहलू भी रहते हैं जो कि पारिवारिक तथा सामाजिक पर्यावरण तथा संवेगात्मक प्रभाव के कारण बदलते रहते हैं। इस समय वे परिवार में स्नेह, सहानुभूति, स्वतंत्रता और सुरक्षा चाहते हैं। वे माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों से अनुकूल व्यवहार करते हैं। हरलाक के अनुसार ज्यों-ज्यों बालक दूसरे बालकों के साथ स्नेह का समय बढ़ाता जाता है त्यों-त्यों उसे इस बात का ज्ञान होता जाता है कि कुछ व्यक्तित्व लक्षण ऐसे हैं जिनकी अन्य बालक श्लाघा करते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें वे नापसंद करते हैं। इस प्रकार बड़े बालकों के व्यक्तित्व को ढालने में सामाजिकता का बहुत बड़ा हाथ होता है। वह सामाजिक मान्यता और स्वीकृति की कामना रखता है और उसे पाने की आशा में अपने व्यक्तित्व को समूह द्वारा अनुमोदित नमूने के अनुसार ढालने की कोशिश करता है।

किशोरावस्था

पूर्व किशोरावस्था समाप्त होने तक किशोर-किशोरियां व्यक्तित्व के अच्छे-बुरे लक्षणों से पूरी तरह परिचित हो जाती हैं। वे अपने से मिलते-जुलते मित्रों के व्यक्तित्व लक्षणों से तुलना करती हैं और साथ ही उनका मूल्यांकन भी। हरलाक के अनुसार सामाजिक सम्बन्धों में वे व्यक्तित्व के महत्व को भी अच्छी तरह जान जाते हैं और इससे उन्हें समाज में और अधिक अपनाये जाने की आशा से अपने व्यक्तित्व के सुधार करने की प्रबल प्रेरणा मिलती है। इस अवस्था में किशोर-किशोरियों में शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन बड़ी तीव्र गति

उनके भावी जीवन पर प्रभाव डालता है। अनेक मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि जन्म के पूर्व ही गर्भ में शिशु में व्यक्तिगत विभेद होता है। शिशुओं की शारीरिक और मानसिक संपत्ति एक-सी नहीं होती, अतः उनके व्यक्तित्व का विकास विभिन्न रूप से होता है। शैशवावस्था में शिशु माता-पिता के बहुत अधिक संपर्क में आते है। अतः माता-पिता के व्यक्तित्व का प्रभाव उन पर पड़े बिना नहीं रहता। अनुकूल वातावरण मिलने पर उनके व्यक्तित्व का सुन्दर विकास होता है। यदि उन्हें अनुकूल वातावरण नहीं मिलता तो भौंडे व्यक्तित्व के निर्माण होने की तथा उनमें अनेक विकृतियों के आने की संभावना रहती है। जो शीलगुणों तथा व्यक्तित्व लक्षणों की नींव उनके बचपन में पड़ जाती है वही भावी जीवन में भी कायम रहता है। शर्ले के अध्ययनों ने इस बात की पुष्टि की है। उसका कथन है कि बालक के प्रारंभिक जीवन के शीलगुण उनकी परिपक्वावस्था में भी पाये जाते हैं।

३ से लेकर ६ वर्ष की अवस्था में शिशु में माता के प्रति अधिक आत्मीयता बढ़ जाती है और छोटे भाई-बहिन तथा परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति भी वह अपना दृष्टिकोण बनाने लगता है साथ ही वह उनके प्रति भी स्नेह और सहानुभूति और ममता दर्शाने लगता है। ५-६ वर्ष की अवस्था तक शिशु दूसरे बच्चों के साथ खेलने, लड़ने-झगड़ने भी लगते हैं और अन्य बच्चों के संपर्क में आते हैं। उनमें सामाजिक समझ का उद्रेक होता है। इस प्रकार माता-पिता, भाई-बहिन और सगे-सम्बन्धियों के व्यवहार शिशुओं में अहम् प्रत्यय निर्माण करने में सहायक होते हैं। यदि शिशु माता-पिता, सगे-सम्बन्धी और समाज के अन्य बच्चों के साथ समायोजन नहीं कर पाते तो उनमें से अनेक उदंड, विद्रोही, एकान्तवासी, डरपोक और दब्बू निकल जाते हैं। बच्चे-बच्चियों के व्यवहार में भी व्यक्तिगत भेद पाये जाते हैं। बच्चियों के व्यवहार में भी संवेगात्मकता अधिक रहती है। वाटसन का कथन है कि यदि उत्तर शैशवावस्था और पूर्व बाल्यावस्था में माता-पिता द्वारा उचित शिक्षण प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार नहीं किया जाता तो बच्चों में आक्रमकता, पराश्रयता और हीनता के भावों का उद्रेक होता है जो कि आगे चलकर उनके व्यक्तित्व को बिगाड़ देते हैं।

बाल्यावस्था

इस अवस्था में बालकों का संपर्क विद्यालय के अन्य बालकों तथा शिक्षकों के साथ होता है और उनका सामाजिक दायरा बढ़ जाता है। वे समवय, समशील और समरुचि वाले बालकों के साथ खूब खेलने-कूदते और लड़ते-झगड़ते हैं। इस समय बालकों के व्यक्तित्व-लक्षणों में भिन्नता देखी जाती है। उनमें से कोई

नेता, कोई अनुयायी, कोई मिलनसार, तो कोई प्रखर वुद्धि वाला, तो कोई मन्द वुद्धि वाला, कुछ एकान्तवासी, कुछ दिखावटी स्वभाव के तो कुछ प्रसिद्धि से दूर स्वभाव वाले, कुछ फुर्तीले, कुछ सुस्त, कुछ प्रसन्न चित्त और कुछ मनहूस, कोई आज्ञाकारी, तो कोई उदंड पाये जाते हैं। इस अवस्था में उनके व्यक्तित्व के लक्षणों में कुछ स्थिरता आने लगती है। शिक्षक तथा अन्य वालकों के व्यवहार भी उनके व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। यदि उनके द्वारा स्नेह तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार मिलता है तो उनका संतुलित व्यक्तित्व वनता है और यदि उन्हें यह व्यवहार नहीं प्राप्त होता तो उनमें असंतुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

इस अवस्था में सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण ऐसा नहीं होना चाहिए कि उनमें अवांछनीय अभिवृत्तियों और कुव्यवहारों की नींव पड़ सके नहीं तो आगे चलकर उन्हें दूर करने के लिए अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसे पहलू भी रहते हैं जो कि पारिवारिक तथा सामाजिक पर्यावरण तथा संवेगात्मक प्रभाव के कारण वदलते रहते हैं। इस समय वे परिवार में स्नेह, सहानुभूति, स्वतंत्रता और सुरक्षा चाहते हैं। वे माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों से अनुकूल व्यवहार करते हैं। हरलाक के अनुसार ज्यों-ज्यों वालक दूसरे वालकों के साथ स्नेह का समय वढ़ाता जाता है त्यों-त्यों उसे इस वात का ज्ञान होता जाता है कि कुछ व्यक्तित्व लक्षण ऐसे हैं जिनकी अन्य वालक श्लाघा करते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें वे नापसंद करते हैं। इस प्रकार वड़े वालकों के व्यक्तित्व को ढालने में सामाजिकता का वहुत वड़ा हाथ होता है। वह सामाजिक मान्यता और स्वीकृति की कामना रखता है और उसे पाने की आशा में अपने व्यक्तित्व को समूह द्वारा अनुमोदित नमूने के अनुसार ढालने की कोशिश करता है।

किशोरावस्था

पूर्व किशोरावस्था समाप्त होने तक किशोर-किशोरियां व्यक्तित्व के अच्छे-वुरे लक्षणों से पूरी तरह परिचित हो जाती हैं। वे अपने से मिलते-जुलते मित्रों के व्यक्तित्व लक्षणों से तुलना करती हैं और साथ ही उनका मूल्यांकन भी। हरलाक के अनुसार सामाजिक सम्वन्धों में वे व्यक्तित्व के महत्व को भी अच्छी तरह जान जाते हैं और इससे उन्हें समाज में और अधिक अपनाये जाने की आशा से अपने व्यक्तित्व के सुधार करने की प्रवल प्रेरणा मिलती है। इस अवस्था में किशोर-किशोरियों में शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन वड़ी तीव्र गति

से होते हैं साथ ही साथ उनकी अभिरुचियों और अभिवृत्तियों के विकास में भी। विषम लिंगीय प्रेम का ज्वार-भाटा उठता है और लैंगिक समस्यायें प्रधान हो जाती हैं। समाज के प्रति दृष्टिकोणों में भी काफी परिवर्तन उपस्थित होते हैं।

इस अवस्था में उनके जीवन आदर्श भी बदलते हैं। इन सबका उनके व्यक्तित्व संरचना पर प्रभाव पड़ता है। उनमें वीर-पूजा या नायक पूजा की भावना प्रबल हो जाती है और साथ ही नेतृत्व की भी। किशोरावस्था में नये तत्वों और अनुभवों का समावेश हो जाता है जो कि व्यक्तित्व को परिवर्तित कर देते हैं। वे तत्व ये हैं :— प्रौढ़ की शरीर संपत्ति, नये अन्तर्नाद, संवेगात्मकता, यौन परिपक्वता, अधिक आत्मचेतना जिसके फलस्वरूप स्वयं निर्देशन तथा मानकों, उद्देश्यों और आदर्शों के लिए तीव्र इच्छा का जागृत होना विशेष करके विलिंगीय मित्रता की आवश्यकता का अनुभव करना और बाल्यावस्था से प्रौढ़ता से संक्रमण के कारण अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न होना इत्यादी। इस अवस्था में शारीरिक तथा सामाजिक तत्वों के कारण अहं-संप्रत्यय का प्रादुर्भाव होता है। मीड के अनुसार अहं-संप्रत्यय का उद्गमन प्रत्यक्ष रूप में व्यक्ति के प्रति दूसरों के व्यवहार तथा अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति स्वयं के शारीरिक और मानसिक शीलगुणों के कारण होता है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व में सामाजिक दबाव के कारण परिवर्तन होते हैं। नव-किशोरों की यही हार्दिक इच्छा रहती है कि उनके कार्य समाज द्वारा स्वीकृत और प्रशंसित किये जायें। जो किशोर अच्छे खिलाड़ी रहते हैं, जिनमें प्रबंध-पटुता है, जो मिलनसार, उदार मन, विश्वसनीय और सहयोगशील होते हैं, उनके इन व्यक्तित्व के लक्षणों को वांछनीय माना जाता है। किशोर-किशोरियां इस समय ज्यादा तड़क-भड़क पसंद करती हैं। उनमें शारीरिक दोष उलझन का कारण बन जाता है। कुछ किशोरों में महत्वाकांक्षा भी हद दर्जे की रहती है। वे रात की रात और बात की बात में करोड़पति, उच्च महात्मा और श्रेष्ठ नेता बन जाना चाहते हैं। उनके लक्ष्यों की प्राप्ति न होने से वे दुखी हो जाते हैं और अपना संतुलन खो बैठते हैं।

किशोर अवस्था में किशोर व्यक्तित्व के कुसमायोजन के बहुत शिकार होते हैं। सुखी किशोर वास्तविकता का सामना करने के लिए तैयार रहते हैं परन्तु दुखी किशोर ऐसा नहीं करते। किशोर के आदर्शों तथा उनके माता-पिता या अभिभावकों के आदर्शों में टक्कर होने की सम्भावना रहती है। इस अवस्था में व्यक्तित्व में स्थायित्व और स्थिरता आने लगती है। किशोर में अपने साहस, वीरता और निडरता के प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति भी रहती है। वे खेल-कूद तथा

अन्य प्रतियोगिताओं में इसका प्रदर्शन करते हैं। साथ ही उनमें वयस्कों की विशेषताओं का भी प्रादुर्भाव होने लगता है।

व्यक्तित्व विकास और शिक्षा व्यवस्था

शैशवावस्था में शिशु का व्यक्तित्व निर्माण होता है और उसके व्यक्तित्व को वंशानुक्रम, अनुकूल पर्यावरण, उत्तम शीलगुण, अच्छी आदतें और सुन्दर व्यवहार प्रभावित करते हैं। अतः उसके व्यक्तित्व के सुन्दर विकास के लिए इन निर्धारक तत्वों में उत्तमता का होना नितान्त आवश्यक है। जैसा कि कहा जा चुका है कि माता-पिता, भाई-बहिन, सगे-सम्बन्धी और समाज के व्यवहार शिशुओं के अहं-सम्प्रत्यय निर्माण करने में सहायक होते हैं; इसलिए शिशु के साथ इनका सुन्दर समायोजन होना भी जरूरी है। उचित प्रशिक्षण और प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार भी शिशु के सुन्दर व्यक्तित्व विकास में अपना योगदान देता है। साथ ही उनके व्यक्तित्व के निर्माण में उनकी इच्छाओं और आवश्यकताओं की यथाशक्ति पूर्ति करना भी बहुत जरूरी है। बाल्यावस्था में बालक परिवार में स्नेह, सहानुभूति, स्वतंत्रता और सुरक्षा के आकांक्षी रहते हैं साथ ही वे सामाजिक मान्यता और स्वीकृति की भी इच्छा रखते हैं, अतः परिवार और समाज को चाहिये कि उनके साथ स्नेह और सम्मान का भाव प्रदर्शित करें और उन्हें स्वीकृति प्रदान करें। बाल्यावस्था में संतुलित व्यक्तित्व के विकास के विकास के लिए सुन्दर, सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण की भी आवश्यकता है।

किशोर-अवस्था में किशोर और किशोरियों में शारीरिक और मानसिक परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से होते हैं इसलिये इस बात को ध्यान में रखकर उनकी अभिरुचियों और अभिवृत्तियों का भी विकास करना चाहिए। इस अवस्था में विषम लिंगीय प्रेम और वीर-पूजा की भावना जागृत होती है साथ ही नेतृत्व की भी। अतः संगीत, ललित कलाओं, पवित्र पुस्तकों और पुरुषों से संपर्क स्थापित करके काम प्रवृत्ति का शोधन करना चाहिए। नेतृत्व की सुन्दर शिक्षा देना चाहिए और किशोर को त्याग, तपस्या और बलिदान के लिए उचित प्रेरणा प्रदान करना चाहिए। साथ ही वीर-पूजा तथा स्वतंत्रता की भावना का उचित मार्गान्तीकरण करने के लिए वीर गीतों और उत्तम जीवनियों का अध्ययन, महापुरुषों के जीवनादर्शों का अनुकरण और अनुसरण करना चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. व्यक्तित्व से आप क्या समझते हैं ?

२. व्यक्तित्व की क्या विशेषतायें हैं ? स्पष्ट कीजिए ।
३. व्यक्तित्व के विभिन्न अंग कौन-कौन से हैं ?
४. व्यक्तित्व के विभिन्न प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए ।
५. व्यक्तित्व के प्रकारों का उल्लेख कीजिए ।
६. बालकों के अच्छे विकास के लिए आप क्या करेंगे ?
७. बालक के व्यक्तित्व विकास को कौन-कौन से तत्व प्रभावित करते हैं ?
८. व्यक्तित्व के शीलगुण से आप क्या समझते हैं ?
९. ग्रंथियों का व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
१०. बालकों के व्यक्तित्व विकास में गृह और शाला का क्या स्थान है ?
११. व्यक्तित्व के मापन के लिए किन-किन विधियों तथा साधनों का प्रयोग किया जाता है ?
१२. बालक के व्यक्तित्व विकास की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिए और उनके प्रति शिक्षक का उत्तरदायित्व निर्धारित कीजिए ।
१३. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये :
   (अ) संतुलित व्यक्तित्व
   (ब) रोशार्क परीक्षण
   (स) टी. ए. टी. परीक्षण

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. काशीनाथ झा, **विकासात्मक मनोविज्ञान**, ज्ञानदा प्रकाशन, पटना, १९६४

२. गोवर्धन भट्ट (अनुवादक), विकास मनोविज्ञान, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, भारत सरकार, १९६७

३. श्रीमती चन्द्रकान्ता सक्सेना, **बाल मनोविज्ञान**, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ, १९६८

४. जगदानन्द पाण्डेय, **विकासात्मक मनोविज्ञान**, अनुपम प्रकाशन, पटना, १९७०

५. महेन्द्र प्रसाद जायसवाल, **विकासात्मक मनोविज्ञान**, दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली, १९६०

६. भाई योगेन्द्रजीत, **विकासात्मक मनोविज्ञान**, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९६७

७. रामनारायण अग्रवाल, **बाल मनोविज्ञान**, कैलाश पुस्तक सदन, आगरा, १९६६

८. वात्सायन, **विकासात्मक मनोविज्ञान**, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ, १९६८

९. विनय कुमार राय, **वैकासिक मनोविज्ञान**, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, १९६३

१०. सरयू प्रसाद चौबे, **बाल विकास**, किताब महल, इलाहाबाद, १९६३

ENGLISH BOOKS

1. Allers, R., *The Psychology of Character*, Sheed & Ward, London, 1935.
2. Alport, G.W., *Pattern and Growth in Personality*, Holt, Rinehart and Winston Press, New York, 1955.
3. Arlitt, A. H., *The Psychology of Infancy & Early Childhood*, McGraw Hill Book Company, New York, 1940.
4. Babladelis, G. L., *The Shaping of Personality*, Prentice Hall, New York, 1967.

5. Baldwin, A. L., *Behaviour and Development in Childhood*, Holt, Rinehart & Winston, New York, 1967.
6. Bijou, S. W., *Child Development*, Appleton Century Crofts, New York, 1961.
7. Blair, G. R., *Psychology of Adolescent*, The Macmillan Co., New York, 1964.
8. Breckenridge, M. E. & Vincent, E. L., *Child Development*, W. B. Saunders Co., London, 1968.
9. Buhler, C., *From Birth to Maturity*, Routledge & Kegan Paul Ltd. London, 1960.
10. Carmichael, L., *Manual of Child Psychology*, John Wiley & Son, London, Indian Edition, 1966.
11. Chorlotte, W., *The Psychology of Gesture*, Metheun & Co. Ltd., London, 1948.
12. Cole, L., *Psychology of Adolescence*, Holt, Rinehart & Winston, New York, 1959.
13. Crow, L. D. & Crow, A., *Adolescent Development and Adjustment*, McGraw Hill Book Co., New York, 1956.
14. Crow, L. D. & Crow, A., *Human Development and Learning*, Eurasia Publishing House, Ltd., New Delhi, 1964.
15. Dinkmeyer, D. C., *Child Development*, Prentice Hall of India, New Delhi, 1967.
16. Endler, N. S., *Contemporary Issues in Developmental Psychology*, Holt, Rinehart & Winston, New York, 1968.
17. Flavell, J. H., *The Development Psychology of Piaget*, D. Van Nostrand Co., New Jersey, 1967.
18. Frost, J. L., *Early Childhood*, Holt, Rinehart & Winston, New York, 1968.
19. Galler, W. R., *The Psychology of Human Growth and Development*, Holt, Rinehart & Winston, New York, 1968.
20. Garrison, K. C., *Psychology of Adolescence*, Prentice Hall Co., New Jersey, 1965.
21. Gessel, A., *Child Development*, Harper Brothers, New York, 1941.

22. Grander, R. E., *Studies in Adolescence*, The Macmillan Co. Ltd., London, 1969.
23. Griffiths, V. L., *Character : Its Psychology*, Longmans Green & Co., London, 1955.
24. Hadfield, J. A., *Childhood and Adolescence*, Penguin Books Ltd., Middlesex, 1948.
25. Horace, B., *Dynamics of Child Development*, Holt, Rinehart & Winston, New York, 1961.
26. Hurlock, E. B., *Child Development*, McGraw Hill Book Co., New York, 1968.
27. Ira, J. Godordon, *Human Development*, Harper & Brothers, New York, 1962.
28. Issacs, Susen, *Intellectual Growth in Young Children*, Routledge & Kegan Paul Ltd., London, 1966.
29. Jersild, A., *Child Psychology*, Stamples Press Ltd., London, 1957.
30. Jones, H. E., *Development in Adolescence*, Appleton Crofts, New York, 1968.
31. Jung, C. G., *Contributions to Analytical Psychology*, Harcourt, 1928.
32. Kay, W., *Moral Development*, George Allen & Unwin, London, 1968.
33. Land, H., *Understanding Human Development*, Prentice Hall, Co., New Jersey, 1959.
34. Maier, H. W., *Three Theories of Child Development*, Harper & Row, New York, 1966.
35. Montague, E. M. F. A., *The Direction of Human Development*, Harper & Bros., New York, 1955.
36. Munn, N. L., *Psychology*, George H. Harrap & Co., London, 1951.
37. Norsworthy, N., *Psychology of Childhood*, Macmillan & Co. Ltd., New York, 1938.
38. Paul H., Mussen P. H. & Others, *Child Development and Personality*, Harper & Bros., New York, 1963.

39. Piaget, J., *Language and Thought of the Child*, Little-Field Adams & Co., New Jersey, 1950.
40. Piaget, J., *Judgement and Reasoning in the Child*, Little-Field Adams & Co., New Jersey, 1950.
41. Piaget, J., *Intellectual Development*, Little-Field Adams & Co., New Jersey, 1950.
42. Pikunas, J., *Human Development*, McGraw Hill Book Company, New York, 1969.
43. Roback, A. A., *The Psychology of Character*, Routledge & Kegan Paul Ltd., London, 1952.
44. Singer, R. D. & Singer A., *Psychological Development in Children*, W. B. Saunders Co., London, 1969.
45. Stern, W., *The Psychology of Early Childhood*, George Allen & Unwin Ltd., London, 1930.
46. Stott, L. H., *Child Development*, Holt, Rinehart & Winston, New York, 1967.
47. Wall, W. D., *The Adolescent Child*, Metheun & Co. Ltd., London, 1930.
48. Wastson, R. J., *Psychology of the Child*, John Wiley & Sons, New York, 1967.
49. Zubek, J. P., *Human Development*, McGraw Hill Book Company, New York, 1954.